

आत्म-शोधन और आत्म-शुद्धि का पावन पर्व 'पर्युषण'

(अन्धकार से प्रकाश की ओर)

आत्म-बन्धुओं !

आत्म-कल्याणी सर्वज्ञों की वाणी प्राणी मात्र को जीने की कला सिखाती है, मरने की कला भी सिखाती है और जीवन-मरण पर विजय प्राप्त कर अमर बनने की कला भी सिखाती है। संयममय जीवन जीना, समाधिमरण प्राप्त करना और कर्मबन्धन विमुक्त बनना ही श्रेष्ठ जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो पथ सर्वज्ञों ने बताया, उस पथ पर चलने के लिए मनुष्य मात्र को निरन्तर पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। यह संसार एक मायाजाल है और प्राणी इस संसार की माया में, सांसारिक प्राणियों के प्रति मोह में, सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति में ऐसा मगन बना हुआ है कि वह अपने लक्ष्य, अपनी मंजिल को भूलकर सत्पथ से विपरीत दिशा में भटकता हुआ, अनन्त-अनन्त काल से चार गति, चौबीस दंडक, चौरासी लाख जीव योनि में जन्म-मरण कर रहा है।

□ दुर्लभ मानव-भव

बन्धुओं ! मानव-जीवन अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। चार दुर्लभ बातों में सबसे पहली बात है—मानव-भव, मनुष्यत्व। उत्तराध्ययनसूत्र के तीसरे अध्ययन की प्रथम गाथा में तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु महावीर कहते हैं—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीय जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥ (उत्तरा. ३/१)

अर्थात् संसार में चार बातें प्राणियों के लिए अति दुर्लभ हैं—मनुष्य-भव, धर्म-श्रवण, दृढ़ श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

उत्तराध्ययनसूत्र के इसी अध्ययन की सातवीं गाथा में प्रभु कहते हैं—

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं । (उत्तरा. ३/७)

तात्पर्य यह है कि मनुष्य-भवं को प्राप्त करने वाली आत्माएँ अनेक-अनेक पूर्वजन्मों में सत्कर्म करते हुए क्रमशः शुद्ध होते-होते दुर्लभ मनुष्य-गति प्राप्त करती हैं।

स्थानांगसूत्र में देवताओं को भी मानव-भवं प्राप्ति का इच्छुक बतलाया है—

तओ ठाणाइं देवे पीएइज्ज ।

माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुल, पच्चायातिं । (स्थानांग ३/३)

देवता तीन स्थानों की इच्छा रखते हैं—(१) मनुष्य-भवं, (२) आर्य क्षेत्र में जन्म, और (३) सुकुल (उत्तम धार्मिक कुल) में उत्पन्न होना।

□ धर्म बिना धूल जमारो रे

ऐसा यह अनमोल, दुर्लभ मानव-भवं आपको मिला है, पर बन्धुओं ! इस दुर्लभ मानव-भवं को पाकर भी व्यर्थ यदि खो दिया तो फिर नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में असह्य कष्ट सहने पड़ेंगे, अनन्त संसार-भ्रमण वृद्धि पाता रहेगा यह जीव। जन्म-मरण का चक्कर निरन्तर चलता ही रहेगा। मानव-भवं पाकर भी जो जीवात्मा धर्माचरण नहीं करता, लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ता, आलस्य और प्रमाद के वशीभूत बन मोह-माया में जीवन नष्ट करता है, उसके लिए किसी ने ठीक ही लिखा है—

स्वर्णास्थले क्षिपति स रजः पाद शौचं विधत्ते ।

पीयुषेण प्रवरकरणं वाहयत्येन्धभारम् ॥

चिन्तारत्नं विकरति कराद् वायसोड्डायनार्थं ।

यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्मप्रमत्तः ॥

जो व्यक्ति आलस्य-प्रमाद के वशीभूत होकर मानव-जीवन को व्यर्थ गँवा रहा है वह अज्ञानी सोने के थाल में मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, श्रेष्ठ हाथी की पीठ पर ईंधन का भारा ढो रहा है और चिन्तामणि रत्न को काग उड़ाने के लिए फेंक रहा है।

क्या आप ऐसा करना चाहेंगे? निश्चय ही आपका उत्तर नकारात्मक होगा, पर बन्धुओं ! केवल इन्कार कर देने मात्र से तो आप ऐसा करने से बच नहीं सकते। व्यर्थ नहीं

गँवाना है यदि इस दुर्लभ मानव-भव को तो आपको अपना आचरण धर्ममय बनाना होगा, मर्यादित जीवन अपनाना होगा, पापस्थानों का त्याग करना होगा।

□ शैतान की सुनते हैं, जिनवाणी की उपेक्षा करते हैं

विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य की गिनती सर्वश्रेष्ठ प्राणी में की जाती है। ऐसा इसलिए कि मनुष्य में हिताहित का चिन्तन होता है, विवेक-बुद्धि होती है, वह उन्मार्ग और सन्मार्ग का भेद कर सन्मार्ग पर कदम रखकर आगे बढ़ने का सामर्थ्य रखता है। इस सामर्थ्य के होते हुए भी अधिकांश मानव अपनी इस क्षमता को भूले हुए हैं। उनकी विवेक-बुद्धि सुषुप्त है। वे लोकहितकारी कार्य नहीं कर पाते और न आत्म-कल्याण के पथ का अनुसरण ही कर पाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने भीतर की सद्वृत्तियों को दबाकर असद्वृत्तियों में लीन बन जाते हैं। वे अपने भीतर बैठे विकारी शैतान की बातें तो सुनते हैं पर जिनवाणी की उपेक्षा कर जाते हैं। वे सुख के वास्तविक रूप-स्वरूप को पहचान नहीं पाते, अतः सारभूत तत्त्व 'धर्म' को छोड़ 'माया' रूप छाया के पीछे भागते हैं और सांसारिक प्रलोभनों के कीचड़ में फँसते-धँसते चले जाते हैं।

□ मनुष्य वह जो मननशील हो

मनुष्य का अर्थ क्या? "मननशीलाः इति मनुष्याः।" जो मननशील हों, प्रत्येक बात का गहराई से मनन-चिन्तन करें, विचारों की तुला पर हिताहित को तोलकर फिर कार्य करें। पशु और मनुष्य में मूल रूप से यदि कोई अन्तर है तो वह इसी वैचारिक शक्ति का, मनन-चिन्तन की शक्ति का है। पशु शब्द 'पश्यति' धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। आँखों से जो देखता है पर देखने के आगे जिसकी कोई प्रगति नहीं है, वह है पशु। किन्तु मनुष्य देखने के पश्चात् विचार करता है, मनन करता है, इसलिए वह मनुष्य है।

□ मानव में पशुता

बन्धुओं ! जो मनन-चिन्तन करेगा, वही शरीर और आत्मा के, जड़ और चेतन के, जीव और पुद्गल के भेदविज्ञान तक पहुँच सकेगा। शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञाता ही आत्म-कल्याण की साधना कर सकेगा। मानव की जो मनन-क्षमता है उसी का नाम है विवेक। विवेक पर जब अविवेक का पर्दा पड़ जाता है और आत्मा में अवस्थित ज्ञान पर

अज्ञान का आवरण चढ़ जाता है तो व्यक्ति मानव की जगह पशु बन जाता है। वह पापाचरण में लिप्त रहता है और धर्माचरण से दूर हो जाता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं, जहाँ धर्म नहीं वहाँ मनुष्यता नहीं। धर्म के बिना, धर्माचरण के बिना मनुष्य हैवान बन जाता है, शैतान बन जाता है।

□ आत्म-जागृति का पर्व है पर्युषण

मानव का लक्ष्य होना चाहिए जन से जिन बनना, इन्सान से भगवान बनना, नर से नारायण बनना। इसके लिए आत्म-साधना करनी होगी। आत्म-साधना के लिए आत्म-ज्ञान प्राप्त करना होगा। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति और आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिए आ रहे हैं महान् पावन पर्व पर्युषण के आठ दिन! कल से प्रारम्भ हो रहे हैं पर्युषण!

□ त्यौहार और पर्व का अन्तर

ये पर्व-दिन आध्यात्मिकता के रंग से रंगे, व्रत-प्रत्याख्यान और तप के उल्लास से भरे, सम्यग्ज्ञान-दर्शन का प्रकाश लेकर आते हैं और पर्व मनाने वाले साधक वर्ग की आत्मा को हर्षित, प्रफुल्लित, उज्ज्वल बना देते हैं। सांसारिक त्यौहारों से ये पर्व सर्वथा भिन्न हैं।

बन्धुओं ! आप जिन सांसारिक त्यौहारों को मनाते हैं, उनमें ध्यान रखा जाता है—शरीर-शुद्धि का, स्थान-शुद्धि का और पदार्थ-शुद्धि का। आध्यात्मिक क्षेत्र में इन बाह्य-शुद्धि कार्यों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, वहाँ तो ध्यान दिया जाता है आत्म-शुद्धि पर। सांसारिक त्यौहार 'स्वास्थ्य, समय और सम्पदा'—इन तीनों की हार से जीवन की हार के कारणभूत होते हैं, जबकि आध्यात्मिक पर्व अहिंसा, संयम एवं तपाराधन की प्रेरणा देते हुए जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर कर आत्माभिमुखी बनाते हैं।

□ त्यौहार देते हैं तीन तरफ से हार

आप सभी को सांसारिक त्यौहार के मनाने का अच्छा अनुभव है और परिणामस्वरूप होने वाली धन-हानि, समय-हानि, तन-हानि आदि से भी आप अपरिचित नहीं हैं। यह बात अलग है कि आप सब जानते हुए भी पुनः-पुनः उसी ओर खिंचे चले जाते हैं और उन्हें जानकर, हानि उठाकर भी प्रसन्न होते हैं।

□ तन की हानि के कारण हैं त्यौहार

बन्धुओं ! त्यौहार चाहे होली का हो या दिवाली का, रक्षाबन्धन का हो या दशहरे का, सभी त्यौहारों पर गरिष्ठ व्यंजन, पकवान, मिष्ठान्न आदि बनते हैं। जहाँ जीभ का स्वाद होगा, वहाँ न्यूनाधिक मात्रा में खाने में अधिकता स्वाभाविक है। त्यौहारों के दिनों में मिलने-मिलाने, रामा-श्यामा करने की रीति भी है और जहाँ भी मिलने हेतु जायेंगे, वहाँ खाने-पीने की मनुहार अवश्य होगी। भारत में और विशेषकर इस मारवाड़ में लोग मनुहार के कच्चे तो होते ही हैं। स्पष्ट है—आवश्यकता व भूख से अधिक भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बनेगा। पेट-दर्द, आफरा, गैस, अपचन, वायु, मितली आदि का होना ऐसे में साधारण बात होगी।

आप इन लौकिक त्यौहारों पर स्वयं तो अपना तन बिगाड़ेंगे ही, दूसरों को भी नहीं छोड़ेंगे। “यह पकवान तो लेना ही पड़ेगा”, “इसे भी तो चखकर देखो”, “यह दिन कोई बार-बार तो आता नहीं”, “एक पीस (Piece) में क्या पेट फट जायगा”—जैसी अनेक बातें कहकर आने वाले मेहमान को कुछ-न-कुछ खिलाए बिना आप छोड़ते नहीं। परिणाम यह होता है कि उनका तन भी हार मान जाता है।

□ समय की बरबादी करते हैं त्यौहार

सांसारिक होली-दिवाली आदि त्यौहार के दिनों में साधु-सन्तों के प्रवचन-स्थलों का रंग भी फीका-फीका रहता है। अधिकांश में प्रवचन-हॉल खाली-खाली से नजर आते हैं। जब सन्त गोचरी में जाते हैं और श्रावक-श्राविका से व्याख्यान में न आने का कारण पूछते हैं तो तुरन्त प्रत्युत्तर मिलता है—“क्या करें महाराज ? त्यौहार के दिन हैं, काम-काज बहुत रहता है। समय ही नहीं मिलता।”

ध्यान से चिन्तन करें जरा कि आपका समय जाता कहाँ है? वस्तुतः त्यौहार के बहाने आप अपने-आपको बचा जाते हैं अन्यथा आप भी जानते हैं कि उन दिनों में आपका समय व्यर्थ की बातें-गप्पों में, ताश-चौपड़, शतरंज आदि मनोरंजन के खेलों में, टी. वी., सिनेमा, पिकनिक आदि व्यर्थ के प्रोग्रामों में जाता है। समय की बरबादी के कारण हैं, ये सांसारिक त्यौहार।

□ त्यौहार मनाना, धन को गँवाना

त्यौहार मनाने की तैयारियों में धुलाई, पुताई, नया फर्नीचर, पर्दे, घर के सदस्यों के लिए कपड़े, औरतों के लिए साज-शृंगार की सामग्री या जेवर या साड़ी आदि कपड़े तथा घी-तेल, फल-फूल, पुजापा-प्रसाद आदि अनेकानेक वस्तुओं के क्रय में जाने कितना धन फूँक दिया जाता है। त्यौहार के अनाप-शनाप खर्चों के कारण दिवाली जैसे त्यौहार के लिए कवि कहता है—“यह दिवाली है या बुद्धि का दिवाला है।” त्यौहार के नाम पर अनेक प्रकार की विकृतियों की लम्बी परम्परा चल रही है। जो निरन्तर नयी शैली में बढ़ती जा रही है। दिवाली के अवसर पर बारूद पटाखे, फुलझड़ियाँ आदि का प्रयोग किया जाता है। जीवों की हिंसा के साथ ही छोटे-बड़े मकान, घर, उद्योग तक जलकर नष्ट हो जाते हैं।

□ आध्यात्मिक पर्व से लाभ ही लाभ

पर्युषण जैसे आध्यात्मिक, धार्मिक, आत्मिक पर्वों को तप-त्याग से मनाएँ तो किसी भी तरह की हानि नहीं अपितु लाभ ही लाभ है। मन प्रशान्त बनता है, पहले के बँधे हुए कर्म पुद्गल झड़ते हैं, आत्मा पर जो कर्मावरण छाए हैं, वे क्षीण से क्षीणतर होते जाते हैं।

□ 'पर्व' शब्द के विभिन्न अर्थ

'पर्व' शब्द के तीन अर्थ विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) पवित्र, (२) स्कन्ध, हिस्सा, खंड, और (३) अंगुलि के पैरवे।

पर्व अर्थात् पवित्रता—पाक्षिक चौमासी, सांवत्सरिक आदि धार्मिक पर्व जो मन व आत्मा की विशुद्धि, पवित्रता के लिए हैं।

पर्व अर्थात् स्कन्ध, खंड—महाभारत आदि ग्रन्थों में अलग-अलग अध्यायों को पर्व कहा है। यथा—शान्ति पर्व (महाभारत)।

पर्व अर्थात् अंगुलि के पैरवे—अँगुलियों में जो खंड हैं, उन्हें पर्व या पैरवे या पोरवे कहा जाता है। ईख (गन्ने) गाँठों के बीच के हिस्से को पेडी भी कहते हैं। ये नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं। इनका सन्देश है नीचे से ऊपर की ओर बढ़ो, प्रगति करो, गिरती आत्मा को रोको और उसे उन्नति की ओर ले जाओ।

□ मानव स्वभाव परिवर्तन एवं नूतनताप्रिय

पर्युषण पर्व महान् आध्यात्मिक पर्व है और उसका सन्देश है—आत्म-शोधन का, आत्म-साधना का, आत्म-शुद्धि का। मानव स्वभाव से आमोद-प्रमोदप्रिय है। वह संघर्षमय जीवन में जब भी विश्राम लेना चाहता है तब अपने उस विश्रामकाल को राग-रंग, खान-पान, हँसी-मजाक आदि से व्यतीत कर जीवन को आनन्दित बनाने की कल्पनाएँ सँजोता है। सदैव के एकरस जीवन से ऊबकर वह कुछ परिवर्तन चाहता है। उसका मन ही ऐसा है जो कुछ नया, कुछ बदलाव पसन्द करता है। आपके जो लौकिक त्यौहार हैं उनकी सृजना इसी परिवर्तन एवं नूतनताप्रिय मानवीय भावना के कारण हुई।

□ पर्व भी परिवर्तन लाते हैं जीवन में

होली, दिवाली आदि लौकिक पर्वों-त्यौहारों को मनाने के उद्देश्य में शरीर और पुद्गल की प्रमुखता होती है, जबकि आध्यात्मिक पर्वों को मनाने में इनके त्याग की ओर संयम-साधना की प्रमुखता रहती है। वैसे जहाँ तक परिवर्तन एवं नूतनता की मानवीय चाहना का प्रश्न है तो बन्धुओं ! हमारे अष्टाह्निक-पर्युषण पर्व भी जीवन में एक नव परिवर्तन को लाने के लिए ही हैं। इनका उद्देश्य होता है—जीवन की दिशा को मोड़ना, उसे बाह्यमुखी से अन्तर्मुखी बनाना, उसे पुद्गल-रमण से आत्म-रमण की ओर अभिमुख करना। जैनाचार्यों की दृष्टि हमेशा अध्यात्म-प्रधान रही है, अतः 'श्रावकधर्म-प्रज्ञप्ति' और 'पाइयसद्महण्णवो' में कहा गया है—

**पूरणात् पर्व-धर्मोपचय हेतुत्वाद्
धर्मपूरणं-पर्व-इति भावना.....!**

धर्म या अध्यात्म या आत्मा की समृद्धि का संचय करने में, उसे पूर्णता प्रदान करने में जो कारणभूत है, उसका नाम है—पर्व !

जहाँ लौकिक पर्व लोभजन्य, घटनाजन्य, भयजन्य या विजयजन्य होते हैं, वहाँ आध्यात्मिक या लोकोत्तर पर्व केवल आत्म-कल्याण के लिए होते हैं जिनमें कषायों की उपशान्ति का प्रयत्न किया जाता है, व्रत-वैराग्य की वृद्धि की जाती है और ध्यान व स्वाध्याय द्वारा आत्मिक शुद्धि की ओर कदम रखे जाते हैं।

□ आध्यात्मिक पर्व का लक्ष्य है वीतराग-साधना

लौकिक पर्वों में मानव की दृष्टि शरीर, धन-सम्पत्ति व आमोद-प्रमोद पर टिकी रहती है, पर आध्यात्मिक पर्वों में मानव ऊर्ध्वमुखी बनने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह शरीर से ऊपर उठकर आत्मा का, 'स्व' स्वरूप का दर्शन करना चाहता है। 'अप्या सो परमप्या'—जहाँ आत्म-दर्शन होंगे वहीं परमात्म-दर्शन भी होंगे। आध्यात्मिक साधना से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जायेगा, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जायेगा। कहते हैं—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म-मैल को आंतरो, समझे विरला कोय ॥

परमात्मा और आत्मा में अन्तर क्या है ? सिद्ध और संसारी जीव में भेद क्या है ? कर्ममल का ही भेद है। संसारी जीव कर्ममल सहित है और मुक्तावस्था का सिद्ध जीव कर्ममल से पूर्णतया मुक्त है। आध्यात्मिक पर्व कर्ममल को हटाने हेतु साधना रूप हैं। इन पर्व दिनों में आत्मिक शुद्धि, क्रोधादि कषायों का त्याग और शान्ति व समतामय जीवन का अभ्यास किया जाता है। इस पर्व में वीतराग भाव की विशिष्ट साधना का लक्ष्य साधक के सम्मुख रहता है। परस्पर के बैर-विरोध को शान्त कर क्षमा, प्रेम और मैत्री भाव की निर्मल धारा बहाने को मन तत्पर बन जाता है।

□ 'पर्युषण'—परिभाषाएँ एवं शब्द-विवेचन

प्राकृत भाषा में एक शब्द है—'पज्जुसणा'। यही 'पज्जुसणा' शब्द संस्कृत व हिन्दी भाषा में बना है—'पर्युषणा'।

इसी से मिलता-जुलता एक और शब्द है प्राकृत कोष में—'पज्जोसमणा'। इस शब्द का अर्थ है—'पर्युपशमना'।

'पज्जुसणा' या 'पर्युषणा' का अर्थ है—पर्युपासना करना। पर्युषण काल में साधक को चाहिए कि वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं देव-गुरु-धर्म की सम्यक् एवं विशिष्ट भाव से पर्युपासना करे, साधना करे, सेवा करे तथा तपादि का आराधन करे।

पर्युषण का एक अन्य अर्थ है—निकट रहना अर्थात् आत्मा के निकट जाने की साधना करना। जो हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म, अब्रह्मसेवन व परिग्रह का तीन करण, तीन योग से त्याग करते हैं तथा घर-परिवार-संसार-मोह-माया के त्यागी हैं, ऐसे

अनगार-साधकों को महापर्व पर्युषण के दिनों में सम्पूर्ण रूप से एक स्थान पर अवस्थित होकर धर्मध्यान में लीन रहना आवश्यक है। इससे वे विशेष रूप से आत्मा के समीप आते हैं।

बन्धुओं ! यह जीवात्मा अनन्त-अनन्त काल से मिथ्यात्व, मोह, कषाय आदि के चक्कर में फँसकर अपने स्वरूप से बहुत दूर भटक रहा है। इस भटकाव में वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शनयुक्त अपनी ही अनन्त शक्ति को भूल बैठा है और पर-पदार्थों के, राग-द्वेष आदि के समीप रहने में कुशल बन गया है। वस्तुतः वह अपने शत्रुओं के घर में निवास कर रही आत्मा को उसके स्वयं के घर में लाने का प्रयास करना है। आत्मा को आत्मा के निकट लाना है अर्थात् आत्म-गुणों—सम्यग्ज्ञानादि को प्रकट करने का विशेष प्रयत्न इन दिनों में करना है।

कहीं-कहीं आचार्यों ने 'परि' तथा 'उष्' के साथ 'अन्' प्रत्यय बताकर पर्युषण को जो अर्थ दिया है, वह है—**सम्पूर्ण रूप से दग्ध करने का पर्व**। इसमें आचार्यों का मन्तव्य यही रहा है कि इन पर्व-दिनों में इस तरह की साधना करनी है जिससे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म तथा क्रोधादि कषाय चतुष्क दग्ध हो जायें, जल जायें, नष्ट हो जायें, जिससे फिर कभी उनका पुनः उद्भव न हो।

'पर्युपशमन' कहकर इस पर्व में पूर्णतः शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की गई है। वर्षाकाल में जिस प्रकार मेघों की शीतल जल धारा तप्त धरा को शान्त बना उसकी तपन को नष्ट करती है, ठीक उसी तरह आत्म-साधक इन दिनों में क्रोध, मान, माया, लोभ की ज्वालाओं को, मिथ्यात्व के ताप-संताप को समता, शान्ति, तप व संयम से शान्त बनाते हैं तथा बनाने का सन्देश देते हैं।

□ पर्युषण के नौ पर्यायवाची शब्द

पर्युषण के जो पर्यायवाची शब्द विभिन्न टीकाओं, वृत्तिकाओं, ग्रंथों में आये हैं, उनमें कुछ शब्द मैं आपको बता रहा हूँ—

(१) ठवणा, (२) परियायठवणा, (३) पढम समोसरण, (४) वासावासं, (५) जेट्ठोवग्गह, (६) परिवसणा, (७) पागइया, (८) पज्जुसणा, (९) पज्जोसमणा।

इन नौ शब्दों में से (१) पज्जुसणा, और (२) पज्जोसमणा के अर्थ मैंने आपको बताये थे। शेष के अर्थ भी जान लीजिए—

(३) **ठवणा**—यह प्राकृत शब्द है, जिसका अर्थ है स्थापना। अन्य काल व ऋतु में साधु के लिए कहीं भी स्थिर रहने की अवधि मास-कल्प एवं साध्वियों के लिए द्वी-मास कल्प से अधिक नहीं है, किन्तु इस अवधि में अर्थात् वर्षाकाल में पर्युपासनार्थ साधक को चार मास तक (अपवाद को छोड़कर) एक स्थान पर स्थित रहने का विधान है। चार मास की साधक की इस स्थापना को 'ठवणा' नाम देकर इसे पर्युषण का पर्याय माना गया है।

(४) **परियायठवणा**—दीक्षा के पश्चात् जितने पर्युषण (वर्षाकाल) बीत गये, साधक उतने वर्ष का दीक्षित माना जाता था। दीक्षा की ज्येष्ठता व कनिष्ठता का हेतुक होने से इसे 'परियायठवणा' कहा गया।

(५) **पढम समोसरण**—बृहत् कल्पसूत्र की निर्युक्ति में वर्षावास के दो भेद किये हैं—(१) प्रावृत्, और (२) वर्षारात्र। श्रावण-भाद्रपद के दो मास प्रावृत् वर्षावास में गिने जाते थे। आषाढी पूर्णिमा को संवत्सर समाप्त होने से प्रावृत् काल वर्ष का प्रथम काल होता है और श्रावणी प्रतिपदा नये वर्ष का प्रथम दिन। यही कारण है कि वर्षावास (पर्युषण) को **पढम समोसरण** भी कहा गया।

(६) **वासावासं**—वर्षावास कल्प का पर्याय होने से पर्युषण कल्प को 'वासावासं' नाम भी मिला।

(७) **जेट्ठोवग्गह**—शेषकाल (वर्षाकाल को छोड़कर) में साधक अणगार एक स्थान पर अधिकतम मास कल्प तक स्थिर वास कर सकता है, पर वर्षावास (पर्युषण) कल्प में चार मास का उसका स्थिर वास होता है। यह कल्प क्षेत्रावग्रहों में बड़ा है, ज्येष्ठ है, अतः इसे 'जेट्ठोवग्गह' भी कहा गया।

(८) **परिवसणा**—आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है इस काल में प्रत्येक साधक, अतः यह काल कहलाया—'परिवसणा'।

(९) **पागइया**—श्रावक, श्राविका, श्रमण, श्रमणी सभी के लिए यह पर्व सहजता से, समान रूप से आराधना योग्य है, अतः प्राकृतिक है। इस शब्द से इस पर्व की शाश्वत सत्ता की ध्वनि भी निकलती है।

□ 'पर्युषण' की कुछ अन्य परिभाषाएँ

विभिन्न आचार्यों, ज्ञानियों व मनीषियों ने 'पर्युषण' शब्द को भिन्न-भिन्न तरह से परिभाषित कर उसके रूप-स्वरूप को आत्म-साधकों के सामने प्रकट करने का महत् प्रयत्न किया है, उनमें से कुछ परिभाषायें जो मैंने पढ़ीं उन्हें आपको बता रहा हूँ—

(१) परिसमन्तात् उषणं-निवासः
सर्वजीवैः सर्वमैत्रीभावेनेति पर्युषणम् ।

अर्थात् साधक को चाहिए कि वह अपने अन्तर् में उपस्थित क्रोधादि कषायों की उष्णता का परिशमन कर, उन्हें शान्त बनाकर प्राणी मात्र के साथ मैत्री भाव की स्थापना करे।

(२) परिसमन्तात् जूषणं-साधर्मिकैः सह प्रीतिकरणं,
तेषां सेवाकरणं च यस्मिन् तत् परिजूषणं ।

तात्पर्य यह है कि जिस पर्व में साधार्मिक व्यक्तियों से प्रीतिकर, मधुर, हितकारी व्यवहार किया जाय, सह-धर्मी बन्धुओं की सेवा की जाय, वह पर्युषण है।

(३) परिसमन्तात् उपशमनं-कषायाणां
इन्द्रिय-विषयाणां च यस्मिन् तत् पर्युपशमनम् ॥

इसमें ज्ञानी कहते हैं कि क्रोधादि कषायों तथा पाँच इंद्रियों के विषय-विकारों (तेवीस विषय, दो सौ चालीस विकार) को शान्त बनाकर परस्पर क्षमा याचना करना ही पर्युपशमन या पर्युषण है।

(४) परिसमन्तात् ऊषणं-दुष्कर्माणां
दाहः तपश्चर्यात् आत्मशुद्धिहेतोः यस्मिन् पर्वणि सा पर्युषणाः ।

कहा गया है कि जिस पर्व में तपश्चरण की साधना द्वारा कर्म-निर्जरण कर आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से दुष्कर्मों का दहन किया जाय, वह पर्युषण पर्व है।

(५) परि-परितः उपासना-आत्मदेवस्य,
देवाधिदेवस्य परमात्मनोहंसद्देवस्य च यस्मिन् सा पर्युपासना ।

अर्थात् जिस पर्व में आत्मदेव व परमात्म देव की सम्यक् उपासना की जाय, वह पर्युपासना (पर्युषण) पर्व कहलाता है।

सम्यक् उपासना से तात्पर्य है—“सत्यक् प्रकारेण उप-समीपे आसनं, उपवेशनं इति उपासना।” वीतराग देव या आत्मदेव के सान्निध्य में वास करना। ऐसी साधना करना जिससे आत्मदेव के निकट बसा जा सके।

□ आगम में ‘पर्युषण’ का तात्पर्य

आगमों में पर्युषण (पञ्जुसण) शब्द का उल्लेख कहीं भी पर्व के रूप में नहीं मिलता है। वहाँ इस शब्द का उल्लेख वर्षावास-कल्प के रूप में आया है। समवायांग, कल्पसूत्र, निशीथ चूर्णि आदि में इस तरह के उल्लेख मिलते हैं। समवायांग में आया है—

“समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसराइए मासे वइक्रंतो सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेइ।”
(समवायांग ७०)

इसका अर्थ है कि श्रमण भगवान महावीर वर्षावास प्रारम्भ से एक मास बीस अहोरात्रि व्यतीत हो जाने और सत्तर रात-दिन शेष रहने पर पर्युवसित हुए, अर्थात् वर्षावास के लिए स्थित हुए।

निशीथ चूर्णि में जो उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है—

सवीसति राति मासे पुणे, जतिवासवंतं न लब्भति।
तो रुक्ख हेट्ठा वि पज्जोसवेयव्वं॥

(निशीथ चूर्णि ३/५३)

अर्थात् वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के एक मास और बीस रात्रि पश्चात् भी यदि स्थिरवास के लिए निर्दोष स्थान नहीं मिल पाये तो साधक आषाढ पूर्णिमा के पचासवें दिन (अर्थात् अधिक मास में श्रावण दो होने पर दूसरे श्रावण शुक्ला पंचमी तथा अधिक मास न होने पर भाद्रपद शुक्ला पंचमी) को वृक्ष की छाया में ही निश्चित रूप से वर्षावास (पर्युषण) कर कल्प वहीं पूरा करे।

□ पर्युषण का परिवर्तित वर्तमान स्वरूप

बहुत काल पश्चात् आचार्यों ने समय की माँग को देखते हुए पर्युषण के पूर्व सात दिन और जोड़ दिये। इस तरह यह अष्टाहिक पर्व बन गया और इसका अन्तिम दिन ‘संवत्सरी’ कहा जाने लगा। तब से आज तक हम सभी अपनी परम्परानुसार आठ दिन-रात पर्युषण पर्व मनाते हैं।

आत्मोन्नति के लिए, अन्तर् की शुद्धि-विशुद्धि के लिए पर्युषण के इन आठ दिनों का पूरा लाभ उठाना है। दिन आठ हैं और कर्म-शत्रु भी आठ। अतः ये आठ दिन कर्मों को काटने के लिए विशेष दिन हैं।

मद भी आठ ही होते हैं और प्रतिदिन एक-एक मद को क्षीण बनाया जा सकता है।

आत्मा के अनंत ज्ञानादि आठ गुण हैं। इन आठ दिनों में निज के इन गुणों के प्रकटीकरण का पुरुषार्थ किया जा सकता है और उनका विकास किया जा सकता है।

□ महापर्व की चाबी है—आत्मा की विशुद्धि

आज पर्युषण का अर्थ वर्षावास-कल्प से न होकर अष्टाह्निक पर्व से है। आश्चर्य इस बात का है कि पर्युषण पर्व के लिए पहले से तैयारियाँ की जाती हैं, उमंग और उल्लास से पर्व मनाया जाता है, व्याख्यान में उपस्थिति रहती है, प्रतिक्रमण में खूब लोग आते हैं, तपस्याएँ भी होती हैं, पर साथ ही यह भी सत्य है कि पर्युषण और विशेष रूप से संवत्सरी को लेकर अनेक वाद-विवाद, मतभेद, झगड़े प्रतिवर्ष हो रहे हैं। पर्युषण का जो मूल भाव है, उस पर किसी का ध्यान नहीं है। आपकी हालत उस व्यक्ति की तरह है जो किसी बहुमंजिला इमारत की सबसे ऊपर की मंजिल पर बने कमरे से कुछ सामान लेने जाता है, पर जब वहाँ पहुँचता है तो ध्यान आता है कि कमरे पर लगे ताले की चाबी तो नीचे ही रह गयी है। यह उस समय की बात है जब लिफ्ट नहीं थी। आज तो बहुमंजिला इमारतों में लिफ्ट की सुविधा रहती है। विद्युत का बटन दबाया और जिस मंजिल पर जाना है, वहाँ पहुँच गये; सीढ़ियाँ चढ़ने की जरूरत नहीं। हाँ, जब बिजली बन्द हो और जरूरी कार्य हो तो मुश्किल पड़ती है, श्रम करना पड़ता है, सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं, पसीना बहाना पड़ता है। इतना श्रम करने के बाद यदि ताले की चाबी ग्राउंड फ्लोर पर ही भूल आए तो सोचिए क्या दशा होगी? पर्युषण महापर्व की चाबी अर्थात् मूल भावना है—आत्म-शुद्धि। आत्म-शुद्धि के लिए कषायों का उपशमन एवं त्याग-तप, व्रत-प्रत्याख्यान आवश्यक हैं।

□ पर्युषण में आवश्यक रूप से करणीय कार्य

पर्युषण में करणीय कार्यों की पूर्वाचार्यों ने जो सूची दी है, उसमें सम्पूर्ण साधक (अणगार मुनि) के लिए (१) सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण, (२) केश-लुञ्चन (श्रमण-श्रमणी

वर्ग के लिए), (३) तपश्चरण, (४) आलोचना, और (५) क्षमापना—ये पाँच प्रमुख हैं। श्रावक-श्राविका वर्ग के लिए केश-लुञ्चन छोड़कर शेष चार कर्म आवश्यक रूप से करणीय हैं।

(१) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

तीर्थंकर प्ररूपित जिनभाषित जैनधर्म में प्रत्येक साधक को अहर्निश आत्म-शुद्धि के लिए साधना करने का निर्देश मिलता है। यहाँ साधना का लक्ष्य ही आत्मा से कर्ममल को हटाकर उसे निर्मल, कषाय-मुक्त बनाना है। कहा है कि “कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।” अर्थात् कषायों से, क्रोध-मान-माया-लोभ से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है।

कषाय-मुक्ति या आत्म-शुद्धि के लिए साधकों अर्थात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं को चाहिए कि वे प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करें और प्रतिपल आत्मालोचन करते हुए आत्म-शुद्धि के लिए जागरूक रहें।

प्रमादवश साधक को व्रतादि में जो दोष लगते हैं, पारस्परिक व्यवहार में जो कलह-द्वेष उत्पन्न होता है उसके निवारणार्थ आलोचना का प्रावधान रखा गया है। कभी-कभी मानव भूल करके, व्रत में दोषादि लग जाने पर तुरन्त पश्चात्ताप नहीं कर पाता और धीरे-धीरे मन के शान्त हो जाने पर उन्हें याद कर पश्चात्ताप करता है। कभी मन के शान्त होने में अधिक समय लग जाता है। समय का यह व्यवधान मानव-मन की सरलता, सहजता पर निर्भर करता है।

कुछ साधक ऐसे होते हैं जो भूल करते ही तुरन्त उसकी तरफ ध्यान दे देते हैं, कुछ साधक सुबह की भूल संध्या तक और रात्रि की भूल प्रातः तक समझ लेते हैं, कुछ को दस-पन्द्रह दिन बीतने पर विचार आता है और कुछेक ऐसे भी होते हैं जो चार मास में और कुछेक तो वर्ष में एक बार ही समय निकालकर विशेष रूप से वर्षभर की भूलों को स्मृति में लाते हुए उन पर पश्चात्ताप करते हैं। मानसज्ञानी प्रभु ने इसी कारण देवसिय एवं राइसी प्रतिक्रमण के अतिरिक्त पाक्षिक, चौमासी व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का विधान किया है। साधक प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण न कर सके तो एक समय करे। ऐसा भी न कर सके तो पन्द्रह दिन में अवश्य एक बार अपनी भूलों, अपने दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ले। पक्ष में भी न कर सके तो चार मास में एक बार प्रत्येक चौमासी पर्व पर

अवश्य प्रतिक्रमण करे। विशेष कारणों या प्रमादवश यह भी न हो तो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण तो अवश्य करे। इस परम-पावन दिन तो पुराने सभी शल्य निकालकर, दोषों की शुद्धि कर, कषायादि शान्त कर ले और हृदय से सभी को खमाए, सभी से क्षमा याचना करे, सभी को क्षमा प्रदान करे।

दशाश्रुतस्कंध की २३वीं समाचारी में बताया है कि यदि श्रमण-श्रमणी पर्युषण के दिनों में भी पूर्व में हुए कलह-दोषों को उपशांत नहीं करता। वह सम्यक्त्व से पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होता है। उसका श्रमणत्व से पतन हो जाता है। यहाँ तक कि उसे साधु-संघ से निष्कासित करने तक का विधान है।

□ प्रतिक्रमण के षडावश्यक

कषाय-मुक्ति और आत्म-शुद्धि के लिए श्रमण और श्रावक, हम और आप प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण-विधान में षडावश्यक होते हैं जिनका अपना विशेष महत्व है—

प्रथम आवश्यक 'सामायिक' साधक को समभाव की भूमिका के लिए प्रेरित करता है। दूसरा 'चतुर्विंशतिस्तव' तीर्थकरों के गुणगान स्वरूप है, जिसमें कभी उत्कृष्ट रसायन आए तो तीर्थकर गोत्र का उपार्जन भी संभव है। तीसरे आवश्यक 'वन्दना' में सद्गुरु भगवन्तों का वन्दन-नमन है, जिसके द्वारा जीवन में विनय का प्रवेश होता है और 'विनय' साधना की आधार भूमि है। चतुर्थ आवश्यक है 'प्रतिक्रमण', जिसमें लगे हुए दोषों की आलोचना कर व्रतों की शुद्धि द्वारा साधक आत्म-शोधन व आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर बनता है। पाँचवाँ आवश्यक है 'कायोत्सर्ग'। इसमें साधक अपने शरीर तक में ममत्व को मिटाने का प्रयास करता है। छठा आवश्यक 'प्रत्याख्यान' है। इसमें भविष्य के लिए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान लिए जाते हैं।

प्रतिक्रमण के बिना आत्म-शुद्धि सम्भव नहीं है। एक मनीषी जैनाचार्य के कथनानुसार—

स्वस्थानात् यत् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतः।

तत्रैव क्रमणं भूय प्रतिक्रमणमुच्यते॥

आत्मा अपने स्व-स्थान अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से हटकर प्रमाद के वशीभूत बन पर-स्थान अर्थात् राग-द्वेष, मोह-माया, विषय-कषाय आदि में जाकर स्वभाव से

हट, विभाव में चला जाता है, इसी को अतिक्रमण कहते हैं और तब उसे पर-स्थान से लौटाकर स्व-स्थान की ओर मोड़ने की क्रिया **प्रतिक्रमण** कहलाती है।

**आलोचन णिंदण गरह-णाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
तं भाव पडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिअं ॥**

अर्थात् आलोचना, निन्दा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुनः दोष न करने में उद्यत साधक के भाव-प्रतिक्रमण होता है। शेष द्रव्य-प्रतिक्रमण है।

अतिक्रमण मर्यादा का उल्लंघन है और प्रतिक्रमण है पुनः मर्यादा में लौट आना।

□ प्रतिक्रमण में भावों का साथ हो

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण वर्ष का आत्म-स्नान माना गया है। श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका प्रत्येक के लिए सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आवश्यक रूप से करणीय है। इसके द्वारा साधक अपने वर्षभर में हुए प्रमाद-आचरण आदि की सरल भावों से आलोचना कर शुद्ध बन जाता है।

प्रतिक्रमण केवल शाब्दिक या वाचिक न होकर उसमें मन के शुभ भावों का सम्पूर्ण साथ होना चाहिए, क्योंकि भावना में यथार्थता के बिना पापों के प्रति ग्लानि या पश्चात्ताप और दोषों के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना निष्फल रहता है।

(२) केश-लुञ्चन

श्रमण-साधकों के लिए पर्युषण पर्व के दिनों में 'लोच' (केश-लुञ्चन) का विधान आगमों में मिलता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण से पूर्व गाय के रोम प्रमाण वाले बाल से बड़े बाल श्रमण-श्रमणी के नहीं होने चाहिए। आगमोल्लेख इस प्रकार है—

“वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पई निग्गंथाण वा निग्गंथिण वा पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसं तं रयणि उवाइणा वित्त ए।” (आयारदशा ७०)

(३) आलोचना

जो मर्यादाएँ साधक ने व्रत या महाव्रत ग्रहण करने से ले रखी हैं, उन व्रतों या महाव्रतों में लगे दोषों की समृति आलोचना है और जीवन में किसी भी कारण से किसी भी क्षेत्र में हुए पापों, भूलों, गलतियों की स्मृति और आलोचना का नाम है—'आलोचना'।

पर्युषण महापर्व के अन्तिम दिन वर्षभर के प्रत्येक पाप या भूल की गुरुदेव या बड़े श्रावकों के समक्ष सरल भाव से, विनयपूर्वक आलोचना करना, उसे गुरु-सम्मुख प्रकाश में लाना, प्रकट करना ही 'आलोचना' है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन में प्रभु महावीर ने कहा है—

“आलोचनाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्ग-विघ्णाणं अणंत-संसार-बद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जु भावं च जणयइ।” (उत्तरा. २९)

तात्पर्य यह है कि आलोचना करने से जीव माया, निदान और मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों को आत्मा से निकाल फेंकता है। ये तीनों शल्य अथवा इन तीनों में से कोई एक शल्य भी मोक्षमार्ग में विघ्न रूप है, बाधक तत्त्व है, अवरोधक है। ये शल्य अनंत संसार को बढ़ाने वाले हैं, अतः इनको निकाल फेंकना आवश्यक है। स्व-आलोचना करने वाला सरलमना व्यक्ति इन शल्यों को निकालकर निःशल्य बन सकता है।

(४) तपश्चरण

पर्युषण के दिनों में प्रत्येक जैन को तपश्चरण के लिए तत्पर बनना चाहिए। जिनका सामर्थ्य है उन्हें अठई, सात, छह, पाँच आदि की तपस्या करनी चाहिए। तपस्या कर्मनिर्जरा का कारण है पर तप करने के आध्यात्मिक लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आप लोगों को चाहिए कि तप का दिखावा या तमाशा न बनाएँ।

तप वही या उतना ही करना चाहिए, जिसके करने पर मन में अमंगल का उदंगल न हो, अर्थात् भूख और प्यास लगने पर आपका मन आर्त्तध्यान के चिन्तन में नहीं जाना चाहिए।

तप ऐसा करना चाहिए कि जिससे स्वयं को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे और न नित्यप्रति की आध्यात्मिक साधना एवं धर्मध्यान में विघ्न आए।

तप करके प्रमाद करना, गर्पें मारना, ताश-चौपड़ खेलकर समय व्यतीत करना, टी. वी. या वीडियोगेम आदि में मन को उलझाना अथवा अन्य ऐसे ही व्यर्थ के पाप-भार को बढ़ाने वाले कार्यों में समय बिताने से किया गया तप निष्फल बन जाता है और वह कर्मनिर्जरा के स्थान पर अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन सकता है।

तप के बारह भेद हैं। इसके बारे में विस्तृत विवेचन आपके सम्मुख पूर्व में कर चुका हूँ। (देखिए बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन भाग-१ में)

(५) क्षमापना

पर्युषण पर्व का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है—क्षमापना। इसमें क्षमा करना और क्षमा माँगना, दोनों ही सम्मिलित हैं। इसके अत्यधिक महत्त्व को देखते हुए पर्व के अन्तिम दिवस 'संवत्सरी' को 'क्षमा पर्व' के नाम से भी पुकारा गया है।

क्षमा से कषायों की उपशान्ति होती है, उनका उपशमन होता है, वे पतली बनती हैं और कषायों के पतला बनने से ही आत्मा के निकट पहुँचा जा सकता है।

कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष, अँधियारे पक्ष से उजाले पक्ष की ओर जाने वाला (सामान्यतः भाद्रपद कृष्ण द्वादशी को प्रारंभ होकर भाद्रपद शुक्ला पंचमी को समाप्त होने वाला) यह पर्व सभी साधकों को सन्देश दे रहा है कि अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़िए, "तमसो मा ज्योतिर्गमयः"। अन्धकार है—मोह का, माया का, राग का, द्वेष का, अज्ञान का, विषय-विकारों का, कषायों का और प्रकाश है सम्यग्ज्ञान का, वीतराग-श्रद्धा का, संयमाचरण का। आपको आत्मा के उज्वल पथ, शुक्ल पक्ष, प्रकाश-पथ पर आना है, अग्रसर होना है। इसके लिए क्षमा और सहनशीलता को अन्तर् में धारण करना होगा। विषय विस्तृत न हो जाए, अतः इस पर संवत्सरी के पावन दिवस पर विशेष चर्चाकरेंगे।

आत्म-बन्धुओं ! कल से प्रारम्भ हो रहे हैं पर्युषण पर्व और आठ दिन तक इस पर्व की आध्यात्मिक चहल-पहल रहेगी। आप सभी को जो यहाँ, इस धर्म-सभा में उपस्थित हैं, इन पर्व दिनों में धर्मध्यान की झड़ी लगानी है, तपाराधन की ज्योति जगानी है, दान-दया-व्रत-त्याग-प्रत्याख्यान की अलख गुञ्जानी है। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को समझकर आप सभी आत्म-कल्याण के लिए अग्रसर बनें तभी पर्व की सफलता है।

जो भाई-बहनें यहाँ उपस्थित नहीं हैं, आप उन्हें भी प्रेरित करें धर्म-दीप प्रज्वलित करने के लिए।

आनंद ही आनंद !



कीधो मुक्ति नो साथ

(गौतमादिक अठारह सहोदर)

आत्म-बन्धुओं!

महान् आध्यात्मिक पर्व पर्युषण आज से प्रारम्भ हो रहे हैं। प्रति वर्ष आते हैं पर्युषण और आकर चले जाते हैं। गृहस्थ-श्रावक और अणगार-श्रमण, दोनों प्रकार के साधक इस अष्टाहिक पर्व को विशिष्ट अध्यात्म एवं आत्म-साधना का पर्व मानकर इन दिनों ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि में विशेष पुरुषार्थ करते हैं। वैसे तो साधक वर्षभर अपनी साधना में निरत रहते ही हैं पर इन पर्व-दिनों का उनके लिए अत्यंत महत्त्व होता है।

□ पर्युषण, धर्म-जागरण का पर्व

जो गृहस्थ-साधक या श्रावक-श्राविका वर्ग प्रमादवश वर्ष के अन्य दिनों में साधना में शिथिल बन जाते हैं, व्यापार-व्यवसाय में अत्यधिक जुड़ाव के कारण अपना नियत समय साधना के लिए नहीं दे पाते अथवा ऐसा युवा-बाल वर्ग जो वर्ष के अन्य दिनों में धर्म-जागृति में रुचि नहीं ले पाता, पूर्वाचार्यों ने ऐसे सांसारिक प्रवृत्तियों में सदा लीन रहने वाले, आरंभ-समारंभ में पाप रूप सावद्य कार्यों में मगन बने रहने वालों के लिए बहुत ही सोच-समझकर ये पर्युषण के आठ दिवस निवृत्ति में भाग लेने हेतु, निर्वद्य कार्यों में समय व्यतीत करने हेतु, धर्मध्यान व जप-तप में आत्म-जागरण हेतु निश्चित किए हैं।

□ पर्युषण अर्थात् आत्मा के निकट रहना

क्या है पर्युषण? क्यों है पर्युषण पर्व के दिनों का इतना माहात्म्य? क्या करते हैं साधक इन दिनों में? इन सब प्रश्नों के समाधान बिना पर्युषण पर्व मनाने का पूर्ण आनन्द प्राप्त होना सम्भव नहीं।

पर्युषण शब्द 'वस्' धातु में 'परि' उपसर्ग और 'अन्' प्रत्यय लगने से बना है। 'वस्' का अर्थ है रहना, निवास करना, बसना। 'परि' अर्थात् निकट, पास में। प्रश्न यह है कि कहाँ रहना? किसके निकट निवास करना? क्या—

- तिजोरी के इर्द-गिर्द रहना ?
- पारिवारिक जनों के निकट रहना ?
- व्यवसाय-व्यापार के पास रहना ?

नहीं बंधुओं? ये सब सावद्य विचार, सावद्य क्रियाएँ हैं। यहाँ तो इनसे दूर रहकर कुछ करने का तात्पर्य है। यहाँ जो अर्थ है वह है आत्मा के निकट वास करना, आत्माभिमुखी बनना, अन्तःकरण की शक्ति के पथ पर कदम रखना।

□ आत्मा के पास रहने का उपक्रम है उपवास

पर्युषण तपाराधन के लिए विशेष महत्त्व रखता है। झड़ियाँ लग जाती हैं इन आठ दिनों में तप की। भाई और बहन, बच्चे और बूढ़े सभी में होड़-सी मच जाती है। तप की प्रारम्भिक भूमिका में आता है उपवास। उपवास का अर्थ क्या? 'उप' अर्थात् समीप, 'वास' अर्थात् रहना। अपने निकट, अपनी आत्मा के पास रहने का जो उपक्रम है, उसके लिए जो प्रयत्न है उसे उपवास का नाम दिया गया है।

□ कैसे रहें आत्मा के निकट ?

आप कहेंगे—महाराज ! आत्मा तो हमारे भीतर ही अवस्थित है, इस तरह हमारी आत्मा तो हमारे पास ही है और हम सभी अपनी आत्मा के पास ही हैं, पर बात यह नहीं है। यहाँ आत्मा के पास आने, रहने, बसने का अर्थ है—आत्मा में रमण करना, आत्मोत्थान के लिए क्रियाएँ-पुरुषार्थ करना, आत्म-हितकारी कार्य (साधना) करना।

□ कौन दूर, कौन पास ?

आपका पुत्र व्यापारिक कार्य हेतु परदेश चला गया। दूर-बहुत दूर। हजार-दो हजार किलोमीटर की दूरी पर है वह, पर यदि आपके मन के किसी कोने में उसकी स्मृति सजीव है, आप यदि प्रतिपल उसके हिताहित का चिन्तन करते हुए उसके लिए हित की शुभ कामना करते रहते हैं तो वह दूर कैसे कहा जाए? दूर होते हुए भी वह आपके पास है।

आपका पुत्र आपके साथ ही रहता है, आपके साथ ही व्यापार-धंधे में हाथ बँटाता है, दूर नहीं है वह आपसे। एक ही शहर में, एक ही घर में हैं आप दोनों, पर यदि वह आपकी आज्ञाओं की अवहेलना करता है, बात-बात पर आपके विरोध में खड़ा हो जाता है, आपकी कही गई बातों का मुँहतोड़ जवाब देता है, आपका निरादर करता है, सेवा से मुख मोड़ता है तो आपके निकट होकर भी वह आपसे दूर, बहुत दूर है।

आप कहते हैं आत्मा तो हमारे भीतर ही है और हम आत्मा के पास ही हैं। कैसे मानी जाए यह बात? आत्मा के पास होते हुए भी आप आत्म-ज्ञान से दूर, आत्म-शुद्धि से विमुख, आत्मोन्नति से विपरीत बह रहे हैं। आप अपनी इन्द्रियों और मन के दास बने हैं, अतः आत्मा की आवाज को कभी सुनते ही नहीं। आपका मन यदि आत्म-विकास और आत्म-शुद्धि की ओर जागृत बना हुआ है तो सांसारिक कार्य करते हुए भी आप आत्मा के निकट हैं, पर वस्तुतः ऐसा है कहाँ? मन तो आपका चंचल है, अस्थिर है, भटक रहा है सांसारिक कामनाओं, इन्द्रिय-विषयों, भोग और वासनाओं में।

□ पर्युषण में आत्माभिमुखी बनें

आचार्यों, सन्तों, ऋषि-महर्षियों ने इसीलिए ये आठ पर्व-दिन निश्चित किए हैं जिससे इन दिनों में आप सांसारिक कार्यों से विमुख बन आत्माभिमुखी बन सकें, बाहर से भीतर की ओर मुड़ सकें, जड़ से चैतन्य की ओर अग्रसर हो सकें।

□ गौतमादिक कुंवर

जिन्होंने सम्पूर्ण सांसारिक प्रवृत्तियों का, समस्त सावद्य-योगों का सम्पूर्ण जीवन के लिए तीन करण-तीन योग से त्याग किया और अंतिम श्वासोच्छ्वास तक शुद्ध संयम का पालन किया, उत्कृष्ट तपाराधन किया और अंतिम समय में संलेखना-संधारा कर उस दिव्य, अनुपम आनन्द को प्राप्त किया, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य आनन्द, किसी अन्य सुख को प्राप्त करने की कामना निःशेष बन जाती है, जीवन के अंतिम लक्ष्य को उन महापुरुषों ने प्राप्त किया और इसके लिए वे सभी साधना की उच्चतम स्थिति तक पहुँचे। सदा-सदा के लिए सर्वप्रकारेण दुःखों, कष्टों, बाधाओं से छुटकारा पाकर मोक्ष गति प्राप्त करने वाली उन भव्यात्माओं को, जिनका वर्णन अंतगडसूत्र में आया है, जिसे आप पर्युषण के इन पावन दिनों में गुरुदेव के श्रीमुख से सुन रहे हैं,

एकभवावतारी पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी कृति बड़ी साधु वन्दना में उन्हें भाव-वन्दन किया है। कड़ी संख्या ५५ से ७७ तक उन २० ही भव्यात्माओं को अपना विनीत नमन करते हुए प्रारम्भिक कड़ी में कवि-हृदय ने कहा है—

गौतमादिक कुंवर, सगा अठारह भ्रात।

सब अंधक विष्णु सुत, धारिणी ज्यांरी मात ॥ ५५ ॥

तजी आठ अंतेउर, काढी दीक्षा नी बात।

चारित्र लेइ ने, कीधो मुक्ति नो साथ ॥ ५६ ॥

इन दो कड़ियों में अन्तगड़सूत्र के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनों तथा दूसरे वर्ग के आठ अध्ययनों में वर्णित कुल अठारह (१८) दिव्यात्माओं को भाव-नमन किया गया है।

बंधुओं! आपके सम्मुख आज जिस सूत्र की वाचना प्रारंभ की गई है, उसका नाम है—‘अंतगड़सूत्र’। प्रतिवर्ष पर्युषण महापर्व के आठ परम-पावन दिनों में इस सूत्र की वाचना आपके सम्मुख करने की परम्परा बनी हुई है। यह परम्परा स्थानकवासी सम्प्रदाय में है। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के सन्त-सती इन पर्व-दिनों में कल्पसूत्र का वाचन करते हैं। महावीर के शासनकाल की अपेक्षा से सर्वप्रथम इस अंतगड़सूत्र की वाचना स्थविर आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य समुदाय के सम्मुख आर्य जम्बू स्वामी के पूछने पर की। यह देशना चम्पा नगरी में हुई थी। चम्पा नगरी के निर्माण का इतिहास भी अत्यंत रोचक है।

□ चम्पा नगरी के निर्माण का इतिहास

इस अवसर्पिणी काल के अंतिम (२४वें) तीर्थंकर प्रभु महावीर के प्रथम पट्टधर-शिष्य स्थविर आर्य सुधर्मा स्वामी अपने अन्तेवासी आर्य जम्बू स्वामी के पूछने पर आठवें अंगसूत्र अंतगड़ की वाचना देते हैं। उनकी यह वाचना चम्पा नगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में और श्रेणिक के पुत्र राजा कौणिक के शासनकाल में होती है। अंतगड़सूत्र की इस प्रथम वाचना का काल है—इस अवसर्पिणी के चतुर्थ आरक का अंतिम समय।

महाराज श्रेणिक के राज्य की राजधानी थी राजगृही। तब फिर कौणिक के राज्य की राजधानी के रूप में चम्पा नगरी का उल्लेख कैसे? राजगृही को छोड़ कौणिक ने चम्पा नगरी को अपनी राजधानी क्यों बनाया?

□ मुझे उपाय करना चाहिये

बंधुओं! महाराज श्रेणिक के पुत्र और उत्तराधिकारी थे—राजकुमार कौणिक। राजकुमार जब युवा हुए और श्रेणिक जब वृद्ध होने लगे तो एक दिन कौणिक ने विचार किया कि पिताजी तो अभी राज्यासक्त हैं, सिंहासन छोड़कर अपने पुत्र का राज्याभिषेक करने की बात भी नहीं सोच रहे। इस तरह तो हम राजकुमार वृद्धावस्था के निकट पहुँच जायेंगे पर पिताजी की राज्यलिप्सा तब भी नहीं मरेगी। मुझे ही कुछ उपाय करना चाहिए।

उस राजकुमार कौणिक ने अपनी विमाताओं के पुत्र दस ही भ्राताओं को अपने महल में गुप्त मंत्रणा के लिए बुलाया और उनके समक्ष अपने प्रस्ताव रखते हुए कहा—“पिताश्री को इस योजना की सफलता के लिए बन्दी बनाना होगा, राज्य के ग्यारह भाग करके आपस में बाँटने होंगे, जिन पर हमारा अपना-अपना अधिकार होगा। मंत्रियों को लोभ देकर अपने साथ मिलाना होगा। यह सब मैं करूँगा पर इसमें आप सबकी सहमति और योगदान की स्वीकृति आवश्यक है।”

□ श्रेणिक राजा से बन्दी बना

कौणिक के दस ही भ्राताओं ने कौणिक की योजना को स्वीकृति व पूर्ण सहयोग की सहमति दे दी। योजना के अनुरूप सर्वप्रथम राज्य के विशिष्ट अधिकारियों—सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि को लालच दिया गया तब मंत्री-परिषद् को भी लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया गया। कौणिक ने एक दिन अपने कुछ विश्वस्त अनुचरों को साथ लिया और अपने पिताश्री महाराज श्रेणिक को बन्दी बना लिया। उसने उन्हें काठ के बने एक पिंजरे में डाल दिया।

□ अभयकुमार होते तो ऐसा नहीं होता

बंधुओं! महाराज श्रेणिक का प्रधानमंत्री था—‘बुद्धिनिधान अभयकुमार’! जब तक वह प्रधानमंत्री पद पर रहा, नीति व धर्मपूर्वक शासन-तंत्र के कुशल संचालन का पूर्ण नियंत्रण रखा उसने। अभयकुमार के मुनिधर्म ग्रहण करने के पश्चात् नगर की राजनीति व शासन-संचालन में नैतिकता और धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया। श्रेणिक के अन्य पुत्रों में जालि, मयालि, उवयालि आदि ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। हल्ल-विहल्ल नामक राजकुमार कौणिक के षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं हुए। तथ्य यह है कि यदि अभयकुमार अपने पद पर होते तो कौणिक का षड्यंत्र कभी सफल नहीं हो पाता।

□ पूर्वभव वैराणुबंध

षड्यंत्र की सफलता के पश्चात् कौणिक मगध गणराज्य का शासक बना और बना राजगृही नगरी का नराधिप। अपने दस विमाता-पुत्रों को एक-एक राज्य उसने दे दिया। पिता के प्रति उसके मन में इतना रोष, द्वेष भाव कि वह प्रतिदिन नियम से उनके पास जाता और उनकी पीठ पर पाँच सौ कोड़े नित्य लगाता। पिता के प्रति पुत्र की ऐसी निर्मम भावना, निर्दय व्यवहार और अत्याचार का कारण था—पूर्वभव का वैराणुबंध।

□ पारणा मेरे महलों में करें

पूर्वभव में कौणिक का जीव तापस के रूप में था। एक दिन शिकार पर निकले राजा को जंगल में वह तपस्वी तापस मिला। वह मासक्षमण का पारणा कर पुनः मासक्षमण किया करता था। उसकी तपस्या की बात से श्रेणिक उसके प्रति श्रद्धाभिभूत बन गया। उसने तापस से इस मासक्षमण तप के पारणे पर राजमहलों में पधारकर पारणा करने की प्रार्थना की।

तापस ने कहा—“नरेश ! मेरा संकल्प है कि पारणे में मैं किसी एक गृहस्थ के घर ही जाता हूँ और यदि किसी कारणवश वहाँ पारणा नहीं कर सकूँ तो किसी अन्य के द्वार नहीं जाता, पुनः मासक्षमण तप प्रारंभ कर देता हूँ। महलों की चहल-पहल और गहमागहमी में हो सकता है कहीं कुछ शिथिलता, अव्यवस्था रह जाए, अतः तुम मेरे पारणक की प्रार्थना को रहने दो।”

□ पुनः मासक्षमण आरम्भ

इस पर भी नृप ने जब पुनः-पुनः आग्रह किया तो तापस ने स्वीकृति दे दी।

पारणे के दिन तापस ने तो याद रखा राजमहलों में जाने का वचन, पर राजा भूल गया। राजमहलों में राजकुमार के जन्म का उत्सव, जश्न मनाया जा रहा था, अतः तापस जब वहाँ गया तो किसी ने ध्यान नहीं दिया। तापस को बिना पारणा किए वापस आना पड़ा। उसका पुनः मासक्षमण तप प्रारंभ हो गया।

□ पुनः-पुनः वही क्रम

राजा को जब ध्यान आया और ज्ञात हुआ कि तापस पारणे के लिए आया और बिना पारणा किए ही चला गया तो अत्यन्त खेदित हुआ। वह पुनः तापस के पास गया, क्षमा

याचना की और पुनः निमन्त्रण दिया। तापस के मना करने पर नृप ने अत्यधिक आग्रह किया। विवश तापस ने पुनः स्वीकृति दे दी।

दो मासक्षमण पूरे हुए। पारणे के दिवस तापस पहुँच गया राजमहलों में। उस दिन राजा किसी विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान कर रहा था, अतः वही हुआ जो पहले हुआ था।

□ तापस का जीव चेलणा के उदर में आया

बंधुओं ! इस तरह तीन-चार बार, बार-बार हुआ। तापस बिना पारणा किए पुनः मासक्षमण तप करते रहे। अंत में तापस ने निदान किया—“यह राजा दुर्बुद्धि है, मेरी प्रशंसा से ईर्ष्या करके मुझे प्रताड़ित करके मारना चाहता है, मेरे इस भव के सद्प्रभाव से मैं आगामी भव में इसके लिए दुःखदायी, पीड़ादायी, कष्टदायी बनूँ।” वहाँ से वह अनशन करके काल कर चेलना के उदर में आया।

पूर्वभव के वैराणुबंध का फल था यह। तापस का जीव महाराज श्रेणिक के पुत्र रूप में कौणिक बना। यही है कर्मों की महाविचित्र लीला।

कथा साहित्य में उल्लेख मिलता है कि कारागार में महाराज श्रेणिक से किसी को भी मिलने की मनाही थी, उनका भोजन-पानी भी बन्द था। महारानी चेलना से महाराज का यह असह्य दुःख नहीं देखा गया। उसने पुत्र कौणिक से वहाँ जाने और श्रेणिक महाराज से नित्य मिलने की अनुमति माँगी। माता के प्रति कौणिक के मन में असीम स्नेह था, अतः वह मना नहीं कर सका।

□ चेलणा नित्य मिलने जाती

अब चेलना नित्य महाराज श्रेणिक से मिलने हेतु जाने लगी। वह अपने बालों को लक्ष-पाक तेल से भिगोकर ले जाती और महाराज श्रेणिक की पीठ पर बने कोड़ों के घावों पर लगाती। तुरन्त दर्द गायब हो जाता। वह प्रतिदिन किसी तरह छुपाकर उत्तम रस-रसायनों से युक्त एक मोदक भी नित्य ले जाती और महाराज श्रेणिक को खिला देती थी। इस तरह प्रतिदिन कोड़े लगते पर घाव भी प्रतिदिन ठीक हो जाते। दर्द गायब हो जाता। शरीर में रस-रसायनयुक्त मोदक पहुँचने से शरीर में शक्ति भी बनी रहती थी।

कुछ समय बीत जाने पर कौणिक की पत्नी पटरानी पद्मावती ने एक पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया उसका—उदयन। समय बीतने के साथ उदयन बड़ा होने लगा। बालक उदयन के प्रति कौणिक के मन में अत्यधिक स्नेह, ममत्व और राग भाव था।

□ पुत्र ने थाली में मुत्रोत्सर्ग किया

एक दिन राजा कौणिक भोजन करने बैठा। उदयन आकर उसकी गोद में बैठ गया। कौणिक ने भोजन करना प्रारंभ किया। बीच में बाल-राजकुमार उदयन को भी खिलाता जाता था। अचानक उदयन ने वहीं बैठे-बैठे मूत्र-विसर्जन कर दिया। राजा के कपड़े खराब हुए सो तो कोई बात नहीं पर मूत्र की धारा भोजन की थाली में भी चली गयी।

पिता को नित्य प्रातः पाँच सौ कोड़े मारने वाले कौणिक को अपने पुत्र से कितना सीमातीत स्नेह? उसने रंच मात्र भी बुरा नहीं माना, न क्रोध किया। आश्चर्य तो यह है कि उसने दूसरी थाली भी नहीं मँगवायी। उसी थाली में भोजन करता रहा।

सामने से माता चलना चली आ रही थी। उसने देखा तो कहा—“अरे! यह क्या? कम से कम भोजन की थाली तो दूसरी मँगवा लो।”

□ मेरे जैसा कौन पिता होगा

कौणिक बोला—“मातुश्री! आप यह बताइये कि जैसा प्यार मुझे अपने पुत्र से है क्या उतना प्यार और कोई पिता अपने पुत्र से कर सकता है?”

अवसर का औचित्य जानकर चलना ने बताया—“पुत्र! तुम क्या पुत्र से प्यार करोगे? पिता के मन की पीड़ा तुम क्या समझोगे? तुम जो महापापी हो, देवता के समान अपने पिता को नरकतुल्य दुःख देने वाले हो, क्या जानोगे पिता की महत्ता को? तुम पूछ रहे हो कि क्या कोई पिता तुम्हारी तरह अपने बेटे से असीम प्यार कर सकता है? अरे! क्या है तुम्हारा पुत्र-प्यार? तुम्हारे अपने पिता के पुत्र-प्यार की तुलना में वह नगण्य है, शून्य है। उन्होंने जितना स्नेह, प्यार, वात्सल्य तुम्हें दिया, इस धरती पर शायद ही कोई पिता दे सकेगा अपनी सन्तान को उतना प्यार!

निरयावलिका सूत्र में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि किसी दिन कौणिक राजा स्नान करके यावत् सर्व अलंकारों से अलंकृत होकर चलना देवी के चरणवन्दनार्थ पहुँचा। उस समय कौणिक राजा ने चलना देवी को उदासीन यावत् चिन्ताग्रस्त

देखा, तब पाँव पकड़कर पूछा—“माता! क्या मेरा राजा होना आपको अच्छा नहीं लग रहा है?”

तब चेलना देवी ने कहा—“हे पुत्र! मुझे आनन्द कैसे हो सकता है, जबकि तुमने देवतास्वरूप, अत्यन्त स्नेहानुरागयुक्त पिता श्रेणिक राजा को बन्धन में डालकर स्वयं राजा बन गये।” कौणिक ने कहा—“माताजी! श्रेणिक राजा तो मेरा घात करने के इच्छुक थे। तो फिर हे माता! कैसे मान लिया जाए कि श्रेणिक राजा मेरे प्रति अतीव स्नेहानुराग वाले थे।

□ मैंने तुम्हें कचरे के ढेर पर फिंकवा दिया

“वत्स! सुन सकते हो तो सुनो! जब तुम मेरे गर्भ में आये तो गर्भ के प्रभाव के कारण मुझे अत्यंत घृणित दोहद उत्पन्न हुआ। तुम्हारे गर्भस्थ होने के तीन माह पश्चात् मेरे मन में इस तरह की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं तुम्हारे पिता के कलेजे का माँस भक्षण करूँ। ऐसे अनिष्ट दोहद से मैं अपने गर्भस्थ बालक अर्थात् तुम्हारे प्रति आशंकित बन गयी। अभयकुमार की बुद्धिमत्ता से मेरा दोहद बिना महाराज को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये पूर्ण हो गया पर तुम्हें कुलघातक मानकर जन्म के बाद मैंने तुम्हें अपने विश्वस्त सेविका के हाथों एक एकान्त उकरड़ी (कूड़े-कचरे के ढेर) पर फिंकवा दिया।

□ पता लगाओ, बालक कहाँ रो रहा है?

इस घटना के तुरन्त बाद तुम्हारे पिता श्रेणिक जब भ्रमण के लिए निकले तो संयोगवश उसी राह से गये जहाँ वह उकरड़ी थी और तुम जो मगध के भावी उत्तराधिकारी थे वहाँ कचरे के ढेर पर पड़े रो रहे थे। महाराज के कानों में तुम्हारे रोने की आवाज पड़ी। वे चौंके! सुनसान जगह थी, आसपास कोई भवन, रहवास आदि नहीं था, फिर यह आवाज? सेवकों को आज्ञा दी—“पता लगाओ, बालक कहाँ रो रहा है?” सेवकों ने आवाज की दिशा में कदम बढ़ाए। देखा उस रोते बच्चे को, उठाय उसे और महाराज के पास ले आये।

□ खून, खून को खींचता है

बंधुओं! एक प्राकृतिक नियम है—‘खून अपने खून की ओर स्वतः आकर्षित होता है।’ महाराज ने देखा तुम्हें। चेहरे पर एक विशेष तेज, शारीरिक आकार-प्रकार से तुम

राजपुत्र थे ही, महाराज ने तुम्हें देखकर यही सोचा भी। उन्हें एक सुखद-सी कल्पनानुभूति हुई कि तुम उन्हीं के पुत्र हो। विद्युत्-कौंध-सी उनके स्मृति-पटल पर मेरे क्रूर दोहद और मृत-संतान पैदा होने की बात अंकित हुई। महाराज थे वे, जान गये कि तुम्हारा निश्चित रूप से इस घटना से कहीं न कहीं जुड़ाव है।

महाराजा श्रेणिक महलों में आए। कठोरता से खोज-बीन की तो भेद खुल गया। वे जान गये कि तुम्हीं उनके पुत्र हो पर गर्भकाल में पिता के कलेजे का माँस खाने जैसे क्रूर दोहद के प्रतिफल का चिंतन करते हुए मेरे द्वारा तुम्हें चुपचाप इस तरह किसी उकरड़ी में फिंकवा दिया गया है।

□ मुझे उपालम्भ दिया

इस जानकारी के बाद उन्होंने मुझे उपालंभ दिया और तुम्हें मेरे सुपुर्द करते हुए कहा कि “बालक की राजसी ठाट के साथ पूरी देखभाल व सुरक्षा की जाए।”

□ मुर्गे ने अंगुली को चोंच मारी

“वत्स! उकरड़ी पर किसी मुर्गे ने चोंच मारकर तुम्हारे हाथ की एक अंगुली के अग्र भाग में ‘कूणि’ कर दी। चमड़ी छिल जाने तथा रक्त बहने से वहाँ घाव हो गया। घाव खुला रहा, धूल व कचरा वहाँ लगा, अतः पीव पड़ गई। उसकी चिकित्सा होने पर कभी पीड़ा अधिक बढ़ती और तुम दर्द से रोते तो तुम्हारे पिता तुम्हारे दर्द को कम करने, तुम्हें शांति प्रदान करने के लिए उस अंगुली को अपने मुँह में लेते और पीव चूसकर बाहर थूक देते, इससे तुम्हें शांति मिलती और तुम चुप हो जाते, सो जाते। ऐसा कई बार हुआ। कभी-कभी तो वे भोजन करते-करते उठ जाते व तुम्हें इस तरह शांत करते। अनेक समय भरी-पूरी निद्रा से उठकर उन्होंने ऐसा किया। क्या अन्य पिता को ऐसा करते सुना है तुमने?”

“उकरड़ी पर फेंके जाने वाले मुर्गे द्वारा चोंच मारकर अंगुली में कूणि कर दिये जाने के कारण ही तुम्हें ‘कौणिक’ कहा गया।

□ तुम्हारी सोच आधार हीन

“ऐसे वात्सल्यमय पिता के प्रति तुम्हारे जैसे क्रूर पुत्र ने कैसा अन्याय किया ! तुमने उस स्नेह-मूर्ति के लिए कैसे यह सोचा कि वे राज्य व भोगों में आसक्त के कारण तुम्हें

राज्य नहीं देना चाहते, तुम्हारा घात कराना चाहते हैं, तुम्हें निर्वासित करना चाहते हैं। तुम्हारा यह सोचना बिल्कुल आधारहीन था। तुम्हारे पिता तब भी तुम्हारे प्रति अत्यंत स्नेहानुरागयुक्त थे और अब भी, आज भी वे मन ही मन तुम्हें वैसा ही मानते हैं, तुम्हारे प्रति वैसा ही स्नेह भाव रखते हैं।”

कौणिक ने जब अपनी माता के मुँह से अपने लिए पिता के इस असीम स्नेह, प्रेम, वात्सल्य की बात सुनी तो वह चकित, अचंभित रह गया। अपने पुत्र के प्रति अनुराग की अधिकता का जो अभिमान उसके अन्तर् में आया हुआ था, वह चकनाचूर हो गया। उसे महसूस हुआ कि उसका पुत्र-प्रेम तो उसके पिता के उसके प्रति प्रेम से बहुत कम है, शतांश भी नहीं है।

□ मैं क्या समझ बैठा

उसने सोचा—‘मेरे प्रति उनका इतना प्रेम! और मैं क्या समझ बैठा था मन में? कैसी-कैसी वीभत्स, घृणित, कुत्सित भावनाएँ थीं उनके प्रति मेरे मन में? क्यों आये ऐसे विचार मेरे हृदय में? क्यों सोचा मैंने कि वे मेरे राज्य-वैभव को क्षीण बना देना चाहते हैं, अंतिम समय तक मुझे राजसत्ता के लिए तरसा देना चाहते हैं, मेरा प्राणान्त करवा देना चाहते हैं।’

“हाय! मैं कितना अधम, पातकी, नीच हूँ। पिता देवतुल्य और मैं मान बैठा उन्हें राक्षसतुल्य! लगता है तब मेरे भीतर बैठा कोई राक्षस मुझसे यह सब करवा रहा था!

“हाय! मुझे जी-जान से चाहने वाले, मुझे प्राणाधिक प्यार करने वाले मुझे नव-जीवन दान देने वाले उस स्नेहशील, ममता की प्रतिमूर्ति, देवस्वरूप पिता की मैंने क्या दुर्दशा कर दी? कौन कहता है कि मैं उनका पुत्र कहलाने योग्य भी हूँ?”

□ वैराणुं बंध का समापन

बन्धुओं! कौणिक का हृदय हाहाकार करने लगा, उसके अन्तर्मन में उथल-पुथल मच गयी, वह अत्यंत हैरान-उद्विग्न-बेचैन बन अपने आपको महापापी, दुष्टी और महाकृतघ्न मानने लगा। पश्चात्ताप की निर्मल, शांत, शीतल भाव-धारा में अवगाहन करते हुए सोचा उसने—‘शीघ्र ही जाऊँ! अपने उन महान् देव-पिता से क्षमा याचना करूँ, उन्हें मुक्त करूँ, उनके पुनः राज्य-सिंहासन पर बैठने का निवेदन करूँ, उनके चरणों का

सेवक बन यह जीवन उनके लिए ही समर्पित कर दूँ।' वैराणुबन्ध समाप्त हो जाने पर अब उसके भाव बदल चुके थे।

पिता के बंधनों को तोड़ने के लिए कौणिक ने रसोईघर में लकड़ियाँ काटने हेतु रखी हुई कुल्हाड़ी उठायी और चल पड़ा उस ओर जहाँ उसके पिता काष्ठ के पिंजरे में कैदी बने हुए बंधनों में जकड़े पड़े थे। मन में एक ही विचार—'तोड़ दूँ पिंजरा! काट दूँ बंधन! कर दूँ पिता को मुक्त!'

□ स्वयं मृत्यु का आलिंगन करूँ

वह जा रहा था काष्ठ-पिंजर की तरफ तभी महाराज श्रेणिक की नजरें उस पर पड़ीं। देखा कि दुष्ट हाथ में कुल्हाड़ी लिये आ रहा है। देखा कि त्वरित गति से बढ़ रहा है। देखा कि जिस समय नहीं आना चाहिए उस समय आ रहा है। सोचा महाराज श्रेणिक ने—'अवश्य यह मेरा ही घात करने आ रहा है। मुझे कुल्हाड़ी के वारों से मारेगा। तड़प-तड़पकर इस तरह इस दुष्ट के हाथों मरने से, लोहास्त्र के आघात से अंगच्छेदन करवाने से तो अच्छा है कि मैं स्वयं अपनी मृत्यु का आलिंगन करूँ, अपने ही हाथों अपना प्राणघात करूँ।'

महाराज श्रेणिक ने तब अपने हाथ में पहनी स्वर्णांगुष्ठिका की ओर देखा। उसमें हीरा जड़ा था, उसके नीचे था तालपुट विष। हाथ उठाकर उन्होंने अँगूठी को चूम लिया। हीरे की कणी का विष उनके मुँह से होता हुआ उदर तक जाकर नस-नस में व्याप्त होने लगा। इस तरह अपनी इह-लीला समाप्त कर वह प्रथम नरक में गये।

कितनी विचित्र है कर्मों की लीला। भावी तीर्थंकर के जीव को कर्म कैसे नचाते हैं? "अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य!" जीव जिस तरह के कर्म करता है, उसे अपने किए उन कर्मों को भोगना ही पड़ता है। अच्छे कर्म करेगा तो सुख प्राप्त करेगा, बुरे कर्म करेगा तो दुःख प्राप्त करेगा। सुख या दुःख-प्राप्ति का कारण और कोई नहीं उसके अपने कर्म ही हैं।

□ कर्मों की लीला

मगध के विशाल राज्य का भोग करने वाला, चक्रवर्ती के समान सुखमय जीवन व्यतीत करने वाला, भृकुटि के एक संकेत से विकट योद्धाओं को कम्पित कर देने वाला राजा श्रेणिक अशुभ कर्मों के उदय होने पर कितने ही दिन अपने अति प्रिय पुत्र के कारण

कारागार में क्रूर यातनाएँ सहन करता रहा और एक दिन अपने हाथों विष खाकर उसे मृत्यु को गले लगाना पड़ा। कर्मों की इस लीला पर चिन्तन करिए और संकल्प लीजिए कि जीवन में प्रति पल शुभ विचार और शुद्धाचार को स्थान देंगे।

बंधुओं! कौणिक जब तक अपने पिता के निकट पहुँचा तब तक तो सारा खेल ही खत्म हो चुका था। उसके सामने पड़ी थी उसके पिता की निश्चेष्ट, निर्जीव, पार्थिव देह।

□ उदास खोया गुमसुम कौणिक

इस तरह पिता के आत्महत्या कर लेने की बात जानकर पिता के प्रेम में पगलाया हुआ कौणिक बिलख उठा। उसकी आँखों से अश्रु सहस्र धारा बन बहने लगे, वह अपने आपको धिक्कारने लगा, विलाप करने लगा और मूर्च्छित हो भूमि पर गिर गया।

अनेक तरह से उपचार कर उसे होश में लाया गया। जैसे-तैसे उसने लौकिक रीति के अनुसार पिताश्री की निर्जीव देह का अग्नि-संस्कार किया। अब उसका मन उचट गया। राजमहल उसे श्मशान की तरह वीरान लगने लगे, राजगृही नगरी उसे बियावान जंगल-सी लगने लगी, उसके मन की शांति नष्ट हो गई। हृदय की अतल गहराइयों में उसे एक ही आवाज की गूँज रह-रहकर सुनाई देती—“तुम अपने पिता के हत्यारे हो। तुम पितृ-हंता, पितृघातक हो।” राजकाज में उसका रत्तीभर भी मन नहीं लगता था। वह हर पल अपने आपको अपराध भावना से घिरा पाता और गुमसुम, उदास-उदास, खोया-खोया-सा रहा करता था।

□ चम्पा नगरी का निर्माण

राजा की हालत ऐसी हो तो शासन कैसे चले? मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष, अमीर-उमराव, सरदार, प्रतिष्ठित नगर-जन, जन-प्रतिनिधि और प्रजा-जन-सभी चिन्तित थे। किस तरह नराधिप की उदासी दूर की जाए? अनेक प्रयत्न किये गये पर कौणिक की उदासी दूर नहीं हुई, उसकी खामोशी नहीं टूटी, उसकी अन्तर्-व्यथा कम नहीं हुई। इस पर प्रधान अमात्य ने मंत्री-परिषद् एवं उच्च राज्य-पदाधिकारियों को एक आवश्यक मंत्रणा हेतु आमंत्रित किया गया। सभी ने वर्तमान ज्वलंत विषय पर विचार-विमर्श किया और माना कि ऐसी दशा में राज्य में अव्यवस्था व अराजकता संभव है। यह भी

सभी ने एक मत से स्वीकार किया कि जब तक महाराज कौणिक इस नगर और इन राजमहलों में रहेंगे, जहाँ उनके पिताश्री महाराज श्रेणिक ने आत्मघात किया है, तब तक उनकी उदासी दूर नहीं हो सकती। इन महलों को देखते ही उनकी स्मृति में वही घटना आती रहेगी।

समस्या जितनी विकट थी, समाधान उससे अधिक विकटतर लग रहा था। अनेक उपायों पर चिन्तन एवं बहस के पश्चात् यह निर्णय लिया गया कि राजगृही को छोड़कर महाराज कौणिक के लिए अन्यत्र कोई उचित भूमिखंड देखा जाये, जहाँ किसी दूसरी नगरी का निर्माण किया जा सके। महाराज भी उचित समझें तो नये नगर का वहाँ निर्माण कराया जाए।

निर्णय लेने की देरी थी, क्रियान्विति के लिए कदम अग्रसर हो गये। महाराज कौणिक ने स्वीकृति प्रदान कर दी। वास्तुशास्त्रियों को बुलाकर उत्तम भूमिखंड शोध का कार्य सौंप दिया गया। गहराई से शोध करें तो 'वास्तुशिल्प' जैनशास्त्रों की ही देन है। जैनशास्त्रों में अनेक स्थलों पर जहाँ नगर आदि के निर्माण का वर्णन मिलता है, वहाँ धरती की पुण्यवानी, निमित्तकों को उत्तम भूमि के लिए संकेत, धनराशि या गुप्त खजाने आदि के विषय में दिशा-निर्देश जैसे अनेकों वर्णन भी मिल जायेंगे। अनेकों स्थलों पर व्यक्ति की स्वयं की पुण्यवानी से धरती की पुण्यवानी फलने का वर्णन भी आगमों में आया है। श्रीकृष्ण और द्वारिका के निर्माण का वर्णन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

बंधुओं! उधर मगध के श्रेष्ठ वास्तुकार किसी उत्तम भूमिखण्ड की शोध कर रहे थे, इधर राजा कौणिक अशान्त मन अश्वारूढ़ हो अनेक राज्याधिकारियों के साथ कभी किसी दिशा में और कभी किसी दिशा में भ्रमण करने के लिए निकल जाते थे। बाहर घूमने पर शोक से कुछ निवृत्त होते पर राज्य-सिंहासन पर बैठते ही उन्हें पिताश्री की याद सताने लगती।

प्रधान अमात्य द्वारा नियुक्त कुशल भूमिशास्त्रियों ने भूमि-खोज का कार्य प्रारंभ किया। चारों दिशाओं में दूर-दूर तक वे शोध करते रहे पर कई दिनों तक उपयुक्त भूमि उन्हें नहीं मिल पायी, वे सभी निराश होने लगे। अपने शोध-कार्य से वे ऊबने लगे। थक-से गये वे सभी घूमते-घूमते।

एक दिन भूमि-शोधन करते हुए वे भूमिशास्त्री बहुत हताशा-निराशा महसूस कर रहे थे। काफी घूमकर थक गये तो विश्राम के विचार से किसी छायादार स्थान हेतु नजरें चारों ओर घुमा रहे थे। कुछ दूरी पर उन्हें एक छायादार वृक्ष नजर आया। वे सभी विश्राम करने के विचार से चलकर उस वृक्ष के नीचे पहुँचे और बैठ गये उसी छाया में।

बंधुओं ! वह एक चम्पा के फूलों का वृक्ष था। भूमिशास्त्री वहाँ बैठे तो लगा उन्हें कि मन के भीतर तक एक अद्भुत शांति, सुख, अमन-चैन व्याप्त हो रहा है।

विश्राम के पश्चात् नगर में आए तो यह बात उन्होंने प्रधान अमात्य से कही। प्रधान अमात्य को लगा कि नव-नगर निर्माण का स्वप्न साकार होने का अवसर निकट आ रहा है। वे कुछ शिल्पकारों को लेकर गए उस स्थान पर। खड़े हुए चम्पा-वृक्ष के नीचे। सचमुच एक निराली शांति अन्तर् में व्याप्त हो गई वहाँ। सोचा—‘एक दिन महाराज कौणिक को भी इस स्थान पर लाना चाहिए।’

योजनानुसार भ्रमण हेतु निकले हुए महाराज कौणिक को अमात्य एक दिन उसी दिशा में ले गये। उसी चम्पा-वृक्ष के नीचे उन्होंने अपना अश्व रोका। महाराज भी रुके वहाँ। उन्हें आश्चर्य हुआ कि अचानक उनके अन्तर् में एक अवर्णनीय सुख-शांति का स्रोत प्रवाहित हो उठा है। महाराज के चेहरे पर अद्भुत, अनिर्वचनीय शांति देख अमात्य बोले—“महाराज ! बड़ा सुन्दर स्थल है यह। आज्ञा हो तो यहाँ एक नव-नगरी का निर्माण कराया जाए।”

महाराज कौणिक ने आज्ञा प्रदान कर दी।

एक शुभ दिन देखकर शुभ मुहूर्त में उस चम्पा-वृक्ष के आसपास के स्थान को नाप-जोखकर, निश्चित नक्शा बना, भूमि-पूजन कर नींव खोदने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। प्रथम दिवस नींव खोदते हुए धरती के भीतर गढ़ा हुआ ढेर सारा स्वर्ण और हीरे, पन्ने, माणिक आदि रत्नों से भरे कलशों का भण्डार प्राप्त हुआ। यह सारा धन नगर-निर्माण में काम लिया गया। चम्पा-वृक्ष के पास होने से नगर का नाम रखा गया—‘चम्पा नगरी।’ इसी चम्पा नगरी को कौणिक ने अपनी राजधानी बनाया।

□ सगा अठारह भ्रात

इसी चम्पा नगरी में स्थविर आर्य सुधर्मा स्वामी ने अंतगड़ की वाचना दी थी। इस अन्तगड़सूत्र में प्रथम वर्ग में कुल दस अध्ययन हैं—(१) गौतमकुमार, (२) समुद्रकुमार,

(३) सागरकुमार, (४) गंभीरकुमार, (५) स्तमितकुमार, (६) अचलकुमार, (७) कांपिल्यकुमार, (८) अक्षोभकुमार, (९) प्रसेनजितकुमार, और (१०) विष्णुकुमार एवं दूसरे वर्ग के आठ अध्ययन हैं—(१) अक्षोभकुमार, (२) सागरकुमार, (३) समुद्रकुमार, (४) हिमवन्तकुमार, (५) अचलकुमार, (६) धरणकुमार, (७) पूरणकुमार, और (८) अभिचन्द्रकुमार। इस तरह दोनों वर्गों में अठारह राजकुमारों की उज्ज्वल साधना एवं मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन आया है। इन्हीं अठारह कुमारों को भाव-वन्दन करते हुए एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने कहा—

गौतमादिक कुंवर, सगा अठारह भ्रात।
सब अन्धकविष्णु सुत, धारिणी ज्यांरी मात ॥

□ प्रभु नेमिनाथ एवं द्वारिका

अन्तगङ्गसूत्र के आठ वर्गों में से प्रथम पाँच वर्गों में भगवान नेमिनाथ के युग के ५१ साधकों का वर्णन है। प्रथम वर्ग के दस व द्वितीय वर्ग के आठ अध्ययनों में भी प्रभु नेमिनाथ युग के अठारह साधकों की आदर्श कथा है। तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु नेमिनाथ भव्य जीवों को आत्म-कल्याण का हितोपदेश करते हुए जब-जब भी द्वारिका पधारते थे तो वहाँ द्वारिका नगरी के उत्तर-पूर्व में रैवताचल तले सुरम्य नन्दनवन में सुरप्रिय नामक यक्ष के यक्षायतन के निकट एक विशाल अशोक वृक्ष के नीचे समवसरित होते थे।

□ द्वारिका नगरी के निर्माण की पृष्ठ भूमिका

कंस के वध के पश्चात् समस्त यादवों ने एकत्रित होकर कारागृह में बंद उग्रसेन को मुक्त किया। उग्रसेन जी ने कृष्ण और बलराम का आभार जताया। सभी यादवों ने मंत्रणा करके उग्रसेन जी को मथुरा का राज्याधिकार सौंप दिया।

□ कंस की अंत्येष्टि

महाराज उग्रसेन की आज्ञा से कंस की विधिवत् अंत्येष्टि सम्पन्न करवाई गयी। कंस की पट्टरानी जीवयशा जो प्रतिवासुदेव जरासंध की पुत्री थी, वह करुण रुदन करती हुई यादवों को कोसने लगी। कुपित महाराज उग्रसेन ने उसे डाँटा कि “अशुभ शब्द मत बोलो।” तब वह कहने लगी कि “मेरे जैसा विधवा का वेश सभी यादवों की स्त्रियाँ पहनें तब ही मेरे पति का प्रेत कार्य होगा।”

□ जरासंध ने जीवयशा को दिलाया धैर्य

वह सिर के बाल खोलकर रुदन करती हुई मथुरा से निकलकर राज्यगृह अपने पिता के पास पहुँची। पिता के गले लगकर खूब विलाप किया। जरासंध ने उसे धैर्य बाँधवाते हुए कालकुमार को यादवों को नष्ट करने का आदेश दिया और कहा—“मेरे दामाद के हन्ताओं को बाँधकर या मारकर मेरे समक्ष उपस्थित करो। वे चाहे कहीं गये हों, उनको खोजकर, मारकर पूरे वंश का नाश करना।”

“हाँ भैया! उन्हें मारे बिना तुम वापस मत आना।”—जीवयशा ने कहा।

“हाँ बहन! मैं उन्हें मारे बिना नहीं आऊँगा।”—कालकुमार ने कहा।

□ सत्यभामा का विवाह

समारोहपूर्वक सत्यभामा का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया गया। समस्त परिजनों के साथ कृष्ण शौरीपुर आ गये। समुद्रविजय जी के पास जरासंध का दूत आया—“कृष्ण-बलराम को मेरे पास भेज दो। मैं दोनों का वध कर अपने क्रोध को शान्त कर लूँगा। तुम यथावत् मेरी आज्ञा में रहकर राज्य का उपभोग करो। वैसे दो छोकरो के मरने से तुम्हारे यादवों को क्या हानि होने वाली है? जिस पर एक तो काला निरा उज्जड़ गँवार ग्वाला कृष्ण, दूसरा महाढीठ गोरिया। दोनों उज्जड़ हैं। तुम शीघ्र बन्दी बनाकर मेरे पास भेजो। मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।”

दूत की बात सुनकर समुद्रविजय अतीव कुपित हुए और कहने लगे—“हे दूत! जैसा तेरा स्वामी अविवेकी और मूर्ख है वैसा तू भी है। इन दोनों नर-रत्नों के लिए ऐसा कह रहा है। ये दोनों यादव वंश के लिए आँखों के समान हैं। यादवों के प्राणों से अधिक मूल्यवान हैं। जरासंध कुछ भी कर ले हम इन दोनों को नहीं सौंपेंगे।”

कृष्ण ने कहा—“हे दूत! तेरे स्वामी की अवश्य मति मारी गई है। क्योंकि नाम भी जरा-सन्ध है न। जरा—अर्थात् वृद्धावस्था। जिसके साथ सन्धि हो गयी अर्थात् बुढ़ापे से उसकी मित्रता हो गयी। उसकी मति सठिया गयी है। वह दम्भी हमें क्या मारेगा? जो दशा उसके दामाद की हुई है, निश्चय ही किसी दिन उसकी भी यही दशा होगी। वह बहुत ही अन्याय पर उतर आया है। पाप के भार से वह बहुत भारी हो गया है। उसके सिर पर अत्याचारों का बहुत ही बोझ है, जिसको मैं कृष्ण, उसका सिर काटकर इस जगत् को भय से मुक्त करूँगा।”

दूत और कुछ कहने लगा तो समुद्रविजय जी ने उसे तिरष्कृत कर बाहर निकालने का आदेश दे दिया। यादव सैनिकों ने दूत को तिरष्कृत करके वहाँ से बाहर निकल दिया।

□ कोष्टुक नैमित्तिक का आगमन

इसी समय यादवों का हितैषी कोष्टुक नैमित्तिक आ गया जो इष्ट बली ज्योतिष विद्या में पारंगत एवं अनेक विद्याओं में निपुण था। इसकी बात अन्यथा नहीं होती थी।

□ जरासंध का यादवों पर दवाब

कंस वध के पश्चात् राजगृह नगर में हलचल मच गयी। प्रतिवासुदेव जरासंध का वह चहेता दामाद था। यद्यपि कंस वध के नायक श्रीकृष्ण थे, सहयोगी बलराम थे जो यादव कुलोद्भव थे। जरासंध मुख्य रूप से कृष्ण-बलराम को ही हत्यारा मान रहा था। सौरीपुर नरेश समुद्रविजय जी को बार-बार यही आदेश भेज रहा था कि उन दोनों कालिया-गोरिया ग्वालों को बन्दी बनाकर शीघ्र ही राजगृही भेजो, अन्यथा सभी यादवों की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी। यादव इस बात के लिए कतई तैयार नहीं थे।

जब गुप्तचर ने यादव नरेश समुद्रविजय जी को सूचना दी कि जरासंध की सेना काल-यवन के नेतृत्व में यादवों का दलन करने के लिये राजगृही से चल पड़ी है, सभी यादव वीरों ने युद्ध के लिये तैयारियाँ करने हेतु तात्कालिक युद्ध मंत्रणा सभा का समायोजन किया। प्राण-प्रण से युद्ध करने के लिये सभी यादव प्रस्तुत थे।

□ पुरोहित का भावी संकेत

यादवों के पुरोहित कोष्टुक नैमित्तिक ने यादवों को सचेत करते हुए कहा अभी जरासंध के साथ युद्ध करना सामूहिक आत्महत्या से कहीं कम नहीं होगा। अब यह भूमि यादवों के लिये उतनी सहायक नहीं है जितनी जरासंध के लिए अनुकूल है। यद्यपि इस कुल में तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव हैं फिर भी समस्त यादव यहाँ से प्रस्थान कर पश्चिम दिशा में बढ़ते जायें। जहाँ पर सत्यभामा पुत्र को जन्म दे, वहीं छोड़ी गाड़कर रुक जायें। वहीं यादवों का उत्कर्ष होगा। जो वृद्ध हैं, अशक्त-अपंग हैं उन्हें यहीं छोड़ दें। उनसे किसी को भय नहीं है तो किसी से उन्हें क्यों भय होगा? अब समय योजना बनाने का नहीं है। अब तो यहाँ से अतीव शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान करो। यादवों का उत्कर्ष अभी यहाँ नहीं है।

□ यादवों का शौरीपुर से प्रयाण

पुरोहित की सलाह के अनुसार समस्त शौरीपुर के स्त्री-पुरुषों, बालकों से रथों, सकटों, अश्व, गज आदि पर बैठकर टिड्डी दल के समान यादव पश्चिम दिशा में प्रस्थान की तैयारी कर रहे थे कि अतिमुक्त मुनि आकाशमार्ग से नीचे उतरे। समुद्रविजय जी ने वन्दन करके कहा—“भगवन्! इस विपत्ति का निवारण कब होगा?” मुनि बोले—“आपको घबराने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे पुत्र अरिष्टनेमि स्वयं बावीसवें तीर्थंकर बनेंगे, बलराम बलदेव, श्रीकृष्ण स्वयं नवम वासुदेव बनने वाले हैं। ये देव निर्मित द्वारिका नगरी बसाकर उसमें रहेंगे। अर्ध-भरत क्षेत्र में राज करेंगे।” प्रयाण से पूर्व सारी व्यवस्था कर समस्त यादव शौरीपुर से प्रस्थान कर गये।

जो पशु, जैसे—बैल, घोड़े, ऊँट, हाथी, खच्चर आदि बलिष्ठ थे, उन्हें एवं दुधारू गाय, भैंस आदि उपयोगी थे, उन्हें साथ ले लिया। जो अशक्त अनुपयोगी थे, उन्हें भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। इसी भाँति अशक्त रोगी, अपंग स्त्री-पुरुषों को वहाँ की जिम्मेदारी सौंप दी और अपने साथ में पर्याप्त मात्रा में अन्न-धन से भरे सकटों की लम्बी कतारें ले ली। अठारह कुल कोटि यादव साहस, धैर्य से आगे बढ़ते जा रहे थे। रास्ते में अनुकूल स्थान होता वहाँ पड़ाव, छावनी डालते। विश्राम, भोजनादि करते पर विराम कहीं नहीं। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में प्रस्थान करते और प्रहर रात्रि तक यात्रा चलती रहती।

□ विश्राम भी करते

जहाँ पीने योग्य पानी की सुविधा होती, घास वाला मैदानी क्षेत्र होता वहाँ पड़ाव डालकर पशुओं को घास दाना, आदि दे दिया जाता था। अलग-अलग जगह शिविर लग जाते थे, जहाँ पर भोजन, विश्राम आदि किया जाता। बीच-बीच में प्रमुख दश दशार्ह एकत्रित होकर भावी योजनाओं पर विचार करते। कभी-कभी कृष्ण-बलराम आदि महायोद्धाओं को भी इसमें सम्मिलित कर लेते थे।

□ सुरक्षा व्यवस्था

युद्ध रचना में यादव अतीव कुशल थे। सबसे आगे अश्व सेना चलती थी जो अत्यन्त कुशल एवं सुशिक्षित थी। उसके पीछे रथ सेना, जिसके ठीक पीछे रानियों, राजकुमारों, राजकुमारियों की रथ पालकियाँ चल रही थीं। पालकियाँ ढोने वाले कहार

निरे गँवार नहीं थे बल्कि अच्छे सैनिक थे। उनकी कमर में तलवारें, खड्ग लटक रहे थे। पीठ के पीछे ढालें भी थीं जो किसी आक्रमण का प्रत्युत्तर देने में सक्षम थीं। पीछे राजकीय कोष बड़े सकटों पर बड़े-बड़े सन्दूकों में रखा था। सकटों को हाथियों के सदृश विशालकाय महिष (भैंसे) खींच रहे थे, जिसकी सुरक्षा स्वयं वसुदेव जी कर रहे थे। अन्न के सैकड़ों विशाल सकट एक कतार में चल रहे थे। आजू-बाजू शस्त्रों से सुसज्जित रथों में मोर्चा सम्भाले योद्धा बैठे थे। पैदल सैन्य दल के संरक्षण पैदल नागरिक अपना-अपना सामान ढोये चल रहे थे। सम्पन्न वर्ग भी अपने सेवकों, रथों, सकटों में अपना सामान लेकर चल रहे थे, बीच-बीच में कहीं अश्व दल थे तो कहीं पैदल सैनिक अनुशासन से चल रहे थे। व्यापारी वर्ग भी सैनिकों से घिरे अपने माल असबाव को सकटों में भरकर चल रहे थे। श्रेष्ठजनों ने स्वर्ण मणि-मुक्ता, रजत के बड़े-बड़े सन्दूकों से भरे सकटों पर निगरानी रखने के लिये निजी सैनिक नियुक्त कर रखे थे। उनके पीछे उन परिवार के नौकर, सेवक कर्मकर की भारी भीड़ थी जिसके पीछे हाथियों की विशाल सेना चल रही थी। दशों ही दशार्ह के रथ आगे-पीछे चल रहे थे। अग्र पंक्ति में बलराम थे, वहीं पृष्ठ भाग में श्रीकृष्ण अपने रथ में सवार थे। जरासंध की सेना का आक्रमण पीछे से होने की सम्भावना थी।

□ शहर का दृश्य साकार हो उठता

यादव सेना जहाँ पड़ाव डालती कितने ही कोसों में वह पड़ाव होता था, जहाँ विधिवत् दुकानें लगती थीं, जिसमें सभी प्रकार के वस्त्र, अलंकार, अनाज, मिष्ठान्न, महिलाओं के उपयोग के सौंदर्य प्रसाधन की समस्त सामग्री होती थी। वाद्यकारों के टोले अलग-अलग होते थे, नृत्यकारों के टोले विभिन्न स्थानों पर होते थे। सायं होते ही अलग-अलग जगह छावनियाँ लग जाती थीं। नायक, उपनायक अपने-अपने अश्वों पर बैठकर चौकत्रे होकर छावनियों के चक्कर लगाते रहते थे। किसी व्यक्ति को यह आभास नहीं होता कि हमें जीवनोपयोगी साधन उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा लगता था जैसे एक शहर ही बस गया हो। सभी की यादव सैनिक सार-सम्भाल कर रहे थे। इस तरह प्रवास-यात्रा में कई महीने लग गये।

□ काल यवन शौरीपुर पहुँचे

जरासंध ने काल यवन को यादवों के दलन हेतु विशाल सैन्य शक्ति देकर शौरीपुर भेजा पर समूचे शहर में वृद्ध, अशक्त, विकलांगों के अतिरिक्त कोई नहीं मिला। घर के

द्वार सभी खुले मिले। वृद्ध, विकलांग भी वे ही वहाँ रहे जो किसी शर्त पर शौरीपुर को छोड़ने के लिए तैयार थे ही नहीं। कई व्यक्तियों को स्थान से लगाव हो जाता है। वे किसी मूल्य पर अपने इच्छित स्थान को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होते हैं। जरासंध के सैनिक बाजारों, द्विपथ-त्रिपथ-चतुष्पथों को देख आये। उन्हें कोई रोकने-टोकने वाला नहीं मिला। न ही उनकी किसी के ऊपर दृष्टि भी ठहरी। शौरीपुरवासियों की दृष्टि में ये सैनिक अवारा घूमते पशुओं के समान थे तो सैनिकों की दृष्टि में नगर के वृद्ध, स्त्री-पुरुष किसी खण्डहर के ईंट-पत्थर की भाँति अनुपयोगी लगे। सैनिकों ने किसी एक व्यक्ति को पकड़कर एक वृक्ष की शाखा पर लटकाकर उसे निर्दयता पूर्वक बेंतों से पीटना प्रारम्भ किया। फिर धमकाते हुए पूछा—“बताओ, सारे यादव कहाँ गये?”

वृद्ध ने सिसकते हुए कहा—“मुझे क्या पता किधर गये हैं? हाँ, वे पश्चिम दिशा की ओर गये हैं। बस, इतना बता सकता हूँ।” इस पर सैनिकों ने उसे वृक्ष की शाखा से नीचे उतार दिया।

□ पीछा किया यादवों का

जरासंध की सेना ने पश्चिम दिशा की ओर रुख किया। रास्ते के छोटे-बड़े गाँवों में लूट, मार-काट करते हुए आगे बढ़े। कहीं-कहीं गाँवों को जलाकर राख कर दिया। कथा साहित्य में वर्णन आता है कि यादवों की कुलदेवी ने उपयोग लगाया कि ‘शत्रु सेना और यादवों के बीच कितना अन्तराल है। उसने पाया कि काल-यवन अपनी राक्षसों-सी सेना के साथ बहुत ही तेजी से यादवों के पड़ाव के पास पहुँचने वाला है। उधर यादव सेना असावधान है। यादव सेना को सचेत करने की अपेक्षा इस पिशाची सेना को बीच में रोका जाये। इस समूह में स्त्रियाँ, बालक-शिशुओं की संख्या भी काफी है। अचानक आक्रमण से इनका अहित हो सकता है। यद्यपि इन यादवों में अनेक जीव चरमशरीरी हैं। होने वाले तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव आदि महान् पुण्यशाली जीव हैं, किन्तु मैं इस कुल की अधिष्ठातृ हूँ। मेरा दायित्व है कि इनका हित साधन करूँ।’ इस प्रकार कुलदेवी ने विचार किया।

□ कुलदेवी ने की विकुर्वणा

कुलदेवी ने यादवों के हितार्थ एवं सेना को भ्रमित करने के लिए विकुर्वणा कर कुछ ऐसा दृश्य प्रस्तुत किया। पूरा जंगल आग की महाज्वालाओं से घिर गया जिसमें अम्बाड़ी

सहित हाथी, रथों सहित घोड़े, रथी-महारथी, रानियाँ-महारानियाँ, बालक, युवक-युवतियाँ पूरी तरह से जल रहे हैं। चीख-पुकार हो रही है। बचाओ! बचाओ! की करुण पुकारें गूँज रही थीं। वहाँ पास की एक छोटी-सी टेकरी पर एक बुढ़िया बैठी-बैठी बिलख-बिलखकर रो रही थी। वह बार-बार उन जलते हुए को देख और जोर-जोर से चीख-चीखकर रोने लगी।

□ काल-यवन की सेना आयी

काल-यवन अपनी सेना के साथ वायु वेग से भयंकर हुंकार भरते हुए वहाँ आ पहुँचा। पूरा जंगल धाँय-धाँय जल रहा था। कड़कते हुए काल ने पूछा—“ओ मौत चाहने वाली बुढ़िया! कौन है तू? इतनी चिल्लाकर क्यों रोये जा रही है? सच-सच बता नहीं तो ये देख....।” हवा में एक तीक्ष्ण तलवार लहरायी जैसे कोई बिजली ही कौंधी हो।

बुढ़िया ने सुबकते हुए कहा—“क्या बताऊँ? मैं यादवों की कुलदेवी हूँ। वे बेचारे...।” कहते-कहते फिर बिसुर पड़ी।

“अरे...रे...! वे भगोड़े किधर भागे हैं? हम तो उन अभागों को ही खोजने-मारने के लिए घूम रहे हैं। बता बुढ़िया, वे अभागे कहाँ भागे-छुपे हुए हैं?” काल ने अपने दाँतों को भींचकर तलवार को हवा में लहराते हुए कहा।

बुढ़िया ने कहा—“उनकी सेना तो आग में जल मरी। वे दोनों श्रीकृष्ण-बलराम उस राह से भाग निकले हैं।”—एक ओर जहाँ आग की लपटें कम उठ रही थीं, उस ओर इंगित किया। जबकि उस ओर आग से भरी खाई थी। कालकुमार अपनी सेना के साथ उधर तेजी से बढ़ा पर ज्यों ही आगे बढ़ा कि पूरी सेना आग की लपटों से घिर गई। भगदड़ मच गई। आपस में एक-दूसरे के ऊपर गिर पड़े। कोलाहल हो गया। व्यूह बन्दी टूट गयी। जिनको जिधर राह मिली, वे उधर भागे। कालकुमार आगे बढ़ता गया जो आग में जलकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। कुछ सैनिकों ने वापस भागते-भागते राजगृही पहुँचकर जरासंध को सारी बात बतायी तो वह करुण क्रन्दन करने लगा।

□ यादव लवण समुद्र के तट पहुँचे

यादव सेना लवण समुद्र के तट पर पहुँच गयी। सागर की उताल तरंगों आकाश को छूने की स्पर्धा कर रही थीं। सागर गम्भीर गर्जन कर रहा था, मानो हर्ष ध्वनि से यादवों का

स्वागत कर रहा हो। असीम जल वाले सागर को प्रथम बार जिन यादवों ने देखा वे तो भाव विभोर हो गये। अब कहाँ जाना, कहाँ स्थायी निवास करना, इस पर परस्पर यादव मंत्रणा करने लगे।

□ सत्यभामा को पुत्र की प्राप्ति हुई

दश दशार्ह तथा प्रमुख यादव बलराम-श्रीकृष्ण आदि के समक्ष अब एक प्रश्न था कि आगे क्या करना? सहसा अन्तःपुर जिस छवनी में था वहाँ से एक त्वरित गति से दासी आयी और हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी।

समुद्रविजय जी ने पूछा—“क्या बात है?”

“स्वामिन्! बधाई हो बधाई! अभी-अभी सत्यभामा ने पुत्ररत्न को जन्म दिया है।”

“यह लो तुम्हारा पुरस्कार।” समुद्रविजय जी ने अपने गले से स्वर्ण जड़ित हार निकालकर दासी की ओर उछाला।

“कृतार्थ हुई महाराज!” दासी ने हार को दोनों हाथों में झेलकर अपने मस्तक पर लगाते हुए कहा। सारे यादवों में प्रसन्नता का सागर तरंगित हो गया। सभी को अच्छी तरह से याद था कि जहाँ पर सत्यभामा पुत्र को जन्म दे, वहीं छड़ी रोप देना अर्थात् वहाँ नगर बसा लेना, बस यहीं से यादवों का उत्कर्ष प्रारम्भ होगा। यह स्थान बहुत रमणीय है। मन करता है बस यहीं बस जायें। दौड़-धूप करते-करते भी थक भी गये हैं। वहाँ की मोहक धरा यादवों को वहीं बस जाने के लिए बार-बार आकर्षित कर रही थी। पर्वत से नाले-झरने कलकल बह रहे थे। पशु-पक्षीगण अपनी क्रीड़ा में रत थे। यह वातावरण इतना सुहावना था कि किसी भी यादव का मन आगे बढ़ने का नहीं हो रहा था।

□ नगर-निर्माण

बलराम और श्रीकृष्ण आपस में धीरे से बातचीत करने लगे। फिर श्रीकृष्ण आँखें मूँदकर गम्भीर चिन्तन में उतर गये। बलराम ने झल्लाकर कहा—“हमारी भी कुछ समस्याएँ हैं और तुम योगीराज अपने ध्यान में लीन हो गये हो।”

श्रीकृष्ण ने आँखें खोलकर बलराम की ओर देखा और मुस्कराते हुए बोले—
“आपका ही काम कर रहा हूँ।”

“वत्स कृष्ण! अब आगे क्या करना है? इसका निर्णय तुम्हें करना है जिसकी तुम दोनों भाई योजना बनाकर पूर्ण कर लो।” समुद्रविजय जी ने अपना निर्णय दिया।

“जैसी आपकी आज्ञा तात! शीघ्र ही नगर-निर्माण की योजना आपके समक्ष आ जायेगी।” कौष्ठिक नैमित्तिक की सलाह के अनुसार कृष्ण ने लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव के आह्वान के लिये अट्टम तप करने का निश्चय किया।

□ अट्टम तप की आराधना

कृष्ण ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि उनके लिये पौषधशाला का निर्माण करें। तत्काल सेवकों ने छवनी के निकट एक पट्टकुटी (तम्बू) में पौषधशाला का निर्माण कर दिया। श्रीकृष्ण ने उस पौषधशाला में पहुँचने के पूर्व सर्व वस्त्रालंकार उतार दिये। पौषध योग्य वस्त्र पहनकर पौषधशाला में सविधि प्रवेश किया। जैसा कि कौष्ठिक नैमित्तिक ने कहा कि इस लवण समुद्र का अधिष्ठायक सुस्थित देव है, उसकी आराधना विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव की आराधना प्रारम्भ की।

□ सुस्थित देव प्रकट हुआ

अट्टम तप के प्रभाव से लवण समुद्र अधिष्ठायक सुस्थित देव आकाशमार्ग में उपस्थित होकर आदर-विनययुक्त बोला—“अहो देवानुप्रिय! कहिए, मैं क्या सेवा करूँ? आपका क्या अभीष्ट कार्य करूँ?”

“पूर्व के वासुदेव की नगरी द्वारिका थी, वह तो जलमग्न हो गयी। मेरे लिए नगरी बसाने के सुयोग्य स्थान का निर्देशन करें।”—श्रीकृष्ण ने प्रत्युत्तर दिया।

“तथास्तु!” कहकर सुस्थित देव ने समुद्र-जल अन्दर खींचकर एक दीर्घ सुविस्तीर्ण भूभाग को रेखांकित कर दिया, जो स्थान बहुत रमणीय था।

□ दो शंख प्रदान किए

सुस्थित देव ने कृष्ण को पाँचजन्य नामक एक सुलक्षणवंत शंख दिया, जिसके नाद मात्र से शत्रुओं का पराभव हो जाता है, जो देवाधिष्ठित शंखरत्न था। इसके अतिरिक्त बहुमूल्य रत्नाभरण, उत्तम वस्त्रालंकार अर्पित किए, साथ ही बलराम को सुघोष नामक शंखरत्न के अतिरिक्त रत्नाभरण उत्तम वस्त्रालंकार देकर आकाशमार्ग में चला गया।

□ इन्द्र द्वारा द्वारिका निर्माण का आदेश

सुस्थित देव ने शक्रेन्द्र की सेवा में पहुँचकर सारा वृत्तान्त बतलाया। तब इन्द्र ने कहा—“भो! सुस्थित इस यादव कुल में बावीसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि, नवम वासुदेव श्रीकृष्ण, नवम बलराम, इनके अतिरिक्त अनेक चरमशरीरी आत्माएँ हैं। महान् धर्म-सम्पन्न, पुण्य-सम्पन्न जीव हैं, जिनके आगमन से समूचा क्षेत्र सुप्रसिद्धि को प्राप्त होगा, जंगम तीर्थ तीर्थकर के दीक्षा का पुण्य अवसर प्राप्त होगा। तुम्हारा अहोभाग्य है कि ऐसे पुण्य पुंज ने तुम्हारा स्मरण कर तुम्हें कार्य करने का सुनहरा अवसर प्रदान किया। तुम धन्य हो! कृतार्थ हो।”

□ देवेन्द्र ने नगरी निर्माण का आदेश दिया

शक्रेन्द्र ने अपने धनपति कुबेर को बुलाकर बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी स्वर्गोपम नगरी बसाने का आदेश दिया। कुबेर ने अपने कला-कौशल से बहुत सुन्दर नगरी का निर्माण किया। वह नगरी स्वर्ण के परकोटे से सुशोभित पूर्ण संरक्षित थी। परकोटे के कंगूरे विविध मणि रत्नों से देदीप्यमान थे। वह परकोटा बारह गज नींव में, सत्रह गज भूमि से बाहर था। आठ गज परकोटे की मोटाई थी। कंगूरे की लम्बाई अनुमानतः एक हाथ प्रमाण की और कंगूरे अर्ध हाथ की चौड़ाई थी। परकोटे की सुरक्षा के लिये परिखा (खाई) आठ गज गहरी एवं आठ गज चौड़ी थी जिसमें सदा ही जल रहता था। जिसमें विशालकाय विकराल मगरमच्छ किल्लोल करते थे।

परकोटे में साठ करोड़ घरों का निर्माण किया। परकोटे के बाहर बहत्तर करोड़ घरों का निर्माण किया। कृष्ण के निवास के लिये इक्कीस खण्ड के छिन्नु हजार भवन का निर्माण किया जो देव विमान की समानता करने वाले थे। बलराम के निवास के लिये अठारह खण्ड के बावन हजार अति रमणीय भवन बनाये। इसी प्रकार वसुदेव जी के दस खण्ड के बहत्तर हजार सुशोभित महल बनाये। इसके अतिरिक्त आठ खण्ड के भवनों की अपार संख्या थी जो सभी निष्कलंक स्वर्ण से निर्मित थे। मणि मुक्ताओं की कलात्मक कारीगरी से उनकी शोभा सतगुणी अधिक थी। प्रत्यक्ष देवलोक के समान शोभा से युक्त थी वह द्वारिका नगरी।

□ दुकानें बाजार

विशाल भवन, अन्तःपुर, आमोद-प्रमोद के योग्य मनोहारी स्थान थे। नाट्यशालाएँ, संगीतशालाएँ, पाठशालाएँ, अखाड़े, अश्वशाला, गजशाला, रथशाला, बड़े-बड़े शस्त्रागार थे। देश-विदेश की मूल्यवान वस्तुओं से सुशोभित दुकानें थीं। नगरी के बाहरी भाग को सुन्दर बाग-बगीचे, उपवन, वापी, कूप, तालाबों से शोभित बनाया। देव ने एक ही रात्रि में यह सब बनाया। पूर्व दिशा में रेवतगिरि, दक्षिण में माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गंधमादन पर्वत थे।

सूर्योदय होते ही धनाधिपति कुबेर कृष्ण के सम्मुख उपस्थित हुआ। दोनों हाथ जोड़कर बोला—“भो! देवानुप्रिय! देवेन्द्र की आज्ञा से आपके लिये इस द्वारिका का निर्माण किया है। आप इसके स्वामी हैं। इसके बारह द्वार हैं और अनेक उपद्वारों से युक्त हैं। आप इसका उपभोग कीजिए। देवेन्द्र ने आपको ये भेंटस्वरूप भेजे हैं—दो पीताम्बर, नक्षत्र माला, हार, मुकुट, कौस्तुभ मणि, शारंग धनुष, अक्षय तूणीर, नन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, गरुड़ ध्वज रथ। बलराम के लिये—दो नीलाम्बर, हल, मूसल, वनमाला, ताल ध्वज रथ, अक्षय तूणीर वज्र धनुष। आप इन्हें स्वीकार करने का अनुग्रह करें।” दश दशार्हों के लिये उत्तमोत्तम आभरण अलंकार अस्त्र-शस्त्र भी दिये गये।

□ कृष्ण का राज्याभिषेक

कृष्ण को सर्वशत्रु जीत जानकर यादवों ने लवण समुद्र तट पर महोत्सवपूर्वक राज्याभिषेक किया। इसके बाद कृष्ण के रथ को संचालित करने के लिये दारुक नियुक्त किये गये। बलराम के रथ को संचालित करने के लिये सिद्धार्थ को नियुक्त किया। सर्वप्रथम कौष्टुक नैमित्तिक ने मंत्रोच्चारण करते हुए कृष्ण को रथारूढ़ होने का आदेश दिया। तत्पश्चात् बलराम को रथ में बैठाया। उसके बाद दश दशार्ह आदि यादवों के रथों को शुभ मुहूर्त में द्वारिका में प्रवेश करवाया। प्रवेश के समय में जयघोषों से गगन गूँज उठा। सभी यादवगण द्वारिका नगरी में प्रवेश करके पुलकित हो उठे।

□ आवास वितरित किए

कुबेर के निर्देशानुसार और कृष्ण की आज्ञानुसार सभी को अपने-अपने आवास बता दिए गये। सभी ने आवास स्वीकार कर लिया। द्वारिका में यादवगण बस गये। सबका मन प्रफुल्लित हो गया।

□ स्वर्ण वर्षा

इतने दिनों से थके-हारे सभी अपने-अपने घरों में जाकर सो गये। इधर पूरी रात्रि स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा पूरी द्वारिका नगरी में होने लगी। प्रातःकाल लोगों ने उठ जाली झरोखों से बाहर झाँककर देखा तो उन सभी की आश्चर्य से आँखें फटी रह गयीं। घर के प्रांगण, छत आदि स्वर्ण-मुद्राओं से अटे पड़े थे। नगरी की गलियाँ, राजपथ, तिराहे, चौराहे, उपवन, उपस्थानशाला, राजसभा का प्रांगण, अन्तःपुर आदि सभी जगह स्वर्ण-मुद्राओं के ढेर लगे हुए थे।

□ कुबेर ने व्यवस्था की घोषणा की

कुबेर ने पूरी द्वारिका नगरी में उद्घोषणा की कि जिनके आवास-निवास प्रांगण छतों पर स्वर्ण-मुद्राएँ बरसी हैं। उन पर उस स्थान के स्वामी का अधिकार रहेगा। शेष राजमार्गों, गली, मोहल्ले, चौराहे, तिराहे, उपवन आदि स्थानों पर बरसी स्वर्ण-मुद्राओं पर राज्य का अधिकार रहेगा।

□ कुबेर का विसर्जन

राजकीय कोषागार अनवरत तीन दिन-रात्रि तक स्वर्ण-मुद्रा मणिमुक्ता सर्व प्रकार अति उत्तम रत्नों, आभूषणों, अलंकारों की वर्षा हुई। राजकीय कोष अतीव समृद्ध हो गया था। इतना सब कुछ हो जाने पर कृष्ण ने कुबेर का आभार जताकर विसर्जित किया।

□ तीन खण्ड विजय

द्वारिका नगरी बसाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने तीनों खण्डों पर विजय पताका फहरायी। समुद्रविजय आदि दश भ्राता 'दशार्ह' कहलाते थे। श्रीकृष्ण के सोलह हजार रानियाँ थीं। वे सोलह वर्ष बाल-लीला, छप्पन वर्ष तक मांडलिक राजा रहे। आठ वर्ष दिग्विजय यात्रा में लगे। नौ सौ बीस वर्ष अर्ध-चक्री वासुदेव पद पर रहे। उनका कुल आयुष्य एक हजार वर्ष का था। समुद्रविजय जी आदि दश दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर जिनके पराक्रम के आगे कोई टिक नहीं सकता। प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन क्रोड केशरिया कुमार जो युद्ध के लिये केशरिया किये हुए तैयार रहते। साम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त वीर महासेन आदि युद्ध सूर महाबलशाली छप्पन हजार रण पण्डित थे। वीरसेन आदि इक्कीस रणबंका शत्रुदल को दलन करने वाले उग्रसेन आदि सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा आज्ञाकारी थे।

□ द्वारिका नगरी साक्षात् अलकापुरी थी

सौराष्ट्र देश की राजधानी थी द्वारिका, जो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। धनपति कुबेर ने सृजना की थी द्वारिका की। परकोटा जिसका स्वर्णमय था और कंगूरे रत्न-माणिकमय थे।

□ मुनि गौतमकुमार

ऐसी अत्यंत समृद्ध एवं अलकापुरी के समान दर्शनीय, स्वच्छ और सुन्दर उस द्वारिका में अन्धकवृष्णि नाम के राजा भी रहते थे। अन्धकवृष्णि नृप की रानी का नाम था धारिणी।

रानी के शुभ स्वप्न देखने, गर्भ धारण करने, गर्भ का समय पूर्ण होने पर पुत्ररत्न को जन्म देने, गौतमकुमार नामक उस बालक के युवा होने, विवाह करने, प्रभु नेमिनाथ के दर्शनार्थ जाने, वैराग्य उत्पन्न होने, दीक्षा लेने, ज्ञानाराधन करने, गुणरत्न संवत्सर तप करने, एक मास का संथारा पूर्ण होने पर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनने का वर्णन अभी आपने अंतगढ़ के वाचन में सुना।

□ संसार के सुखों में फँसना नहीं है

बंधुओं! संसार में रचे-पचे रहकर अवसर मिलने पर भी संयम-पथ पर न चलने वाले प्राणी उस मक्खी की तरह हैं जो गीले गुड़ की मिठास ग्रहण करने के लिए उस पर बैठकर स्वयं अपने को फँसा देती है और फड़फड़ाते हुए प्राण त्याग देती है। गौतमकुमार उन लोगों में नहीं थे। उन्होंने संसार के उत्तम भोगों को ग्रहण तो किया पर इस तरह जैसे वे मिश्री की डली पर बैठे हों और जब अवसर आया, मात्र एक उपदेश सुनकर ही वैराग्य के रंग में रंग गए। अधिकांश सांसारिक व्यक्ति भोगोपभोग की साधन-सामग्रियों में उलझ जाते हैं पर कुछेक ही विरले व्यक्ति होते हैं जो इन्हें त्यागकर शाश्वत सुख-प्राप्ति के पथ पर कदम बढ़ाते हैं।

सांसारिक भोग तो उस दलदल की तरह हैं जिनमें एक बार फँसने के पश्चात् फँसना ही फँसना है, धँसना ही धँसना है। संयोग अच्छे हों तो ही कोई सहारा पाकर दलदल से निकल सकता है। रमणीय भोगों को भोगते हुए भी गौतमकुमार उनमें आसक्त नहीं थे। भीतर में आत्मा जागृत थी, ज्ञान की ज्योति जगमगा रही थी। विषपान कर रहे थे पर विष

को विष मानते हुए उसे छोड़ने की भी पूरी तैयारी थी। जब दर्शन किए सर्वज्ञ प्रभुवर के तो जीवन की दिशा को ही परिवर्तित कर दिया।

□ दहेज : एक विवेचन

आठ-आठ सुन्दर, सुशील, सुलक्षणा राजकन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। प्रीतिवर्धन हेतु प्रत्येक राजकुमारी को उनके माता-पिता द्वारा आठ-आठ कोटि स्वर्ण-मुद्रा, रजत-मुद्रा तथा अन्य अनेक वस्तुएँ प्रदान की गईं।

आज जिसे दहेज कहते हैं, उस समय कन्या को माता-पिता द्वारा इस तरह धनादि दिया जाना प्रीतिदान कहलाता था पर तब और अब के विचारों में इस विषय में जमीन-आसमान का अन्तर आ चुका है। दहेज के लिए आगम में 'दाओ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'दाओ' शब्द 'द' धातु से निष्पादित है जिसका अर्थ है देना। 'दहेज' में भी 'द' धातु मान लें तो अर्थ वही हुआ—देना। कैसे देना? तो 'द' के साथ 'हेज' शब्द लगाकर निर्देश दिया गया कि जो भी देना है, हेज के साथ दें। हेज अर्थात् स्नेह, प्रेम, वात्सल्य।

पितृकुल परम्परा में एक पिता के जितने भी पुत्र हैं वे पिता की सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। पुत्रियों को तब पिता की सम्पत्ति का दावेदार नहीं माना जाता था। यह मत कानून सम्मत भी था और समाज प्रचलित भी। अतः माता-पिता जब भी कन्या की शादी किसी अच्छे, योग्य वर से करते तब अपनी स्वेच्छा से, पुत्री पर अपना वात्सल्य बरसाते हुए अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे कुछ न कुछ धन-सम्पत्ति दिया करते थे। उसी को कहते थे—'दाओ' अर्थात् दहेज, प्रीतिदान।

आज समाज ने उस दहेज शब्द के अन्तर् में निहित भावों का त्याग कर दिया है, उसके वास्तविक अर्थ को ही बदल दिया है। आज जो दहेज दिया जाता है उसमें 'द' तो अपनी उपस्थिति का स्पष्ट भान कराता है पर 'हेज' वहाँ से गायब है। जाने कहाँ उड़ गया है वह हेज?

दहेज देते हैं और उसमें हेज की, स्नेह की, प्रीति की भावना है तो वह बुरा नहीं। आज दहेज को बुरा माना जाता है उसे 'दहेज-दानव' कहा जाता है। उसका कारण है दहेज में 'वर' के माता-पिताओं की राक्षसी प्रवृत्ति की संयुति। आज एक पुत्री के माता-पिता प्रीति के साथ देना चाहें तो भी दे नहीं पाते। कारण है वर पक्ष के लम्बे-चौड़े फटे हुए मुँह

अर्थात् अत्यधिक माँग। दहेज उनसे जबरदस्ती वसूला जाता है और लड़की के माता-पिता मजबूर होकर अचल सम्पत्ति बेचकर या गिरवी रखकर, ऊँची ब्याज दर से उधार लेकर, जैसे-तैसे करके वर पक्ष वालों की माँग पूरी करते हैं, करनी पड़ती है लड़की के हित को देखकर। माँग फिर भी बनी रहती है, नहीं पूरी हो तो वधू को कष्ट दिया जाता है और वधू के माता-पिता आदि को प्रताड़ित किया जाता है।

एक बात और ...! माँगना तो बुरा है ही, प्राप्त दहेज का प्रदर्शन भी बुरा है। माँगना भिखारीपन है, दिमागी दिवालियापन है, मानसिक विकृति है तो दी हुई वस्तु का प्रदर्शन समाज, जाति के कमजोर तथा मध्यम वर्ग को विवश बनाना है। निकाल दें इन विकृतियों को यदि तो फिर दहेज बुरा नहीं रहेगा। दानव की गिनती में नहीं आएगा। एक लड़की के माता-पिता अपनी बेटी को क्या देते हैं, इससे आपको क्या? मेरी मान्यता यह है कि मुँह से माँगकर दहेज लेना बेटे को बेचना है, सौदेबाजी है। चिन्तन करें मेरी बात पर और दहेज में हेज को सहेजें, प्रीति व प्रेम को प्रमुख स्थान दें और इस तरह इसे अपने पूर्व रूप में वापस लाकर 'दहेज' की वर्तमान भयंकरता को समाप्त करने में पुरुषार्थ करें, आगे आएँ।

□ तीर्थकर-धर्मदेशना और आत्म-जागरण

आठ-आठ अति सुन्दर, सुकोमल रमणियों के साथ राजमहलों में देवोपम कामभोगों को भोग रहा था गौतमकुमार। सुख की सरिता में किल्लोलें करता हुआ आनंद में आकण्ठ डूबा हुआ था गौतमकुमार। झुण्ड के झुण्ड लोगों को प्रभु-दर्शन के लिए जाता देखकर वह भी गया वहाँ। रेवतगिरि के नन्दनवन में समवसरित प्रभु नेमिनाथ के दर्शन कर धर्मोपदेश सुन धन्य हो गया वह।

बंधुओं! श्रोता आप भी हैं और श्रोता वह भी था। आप सुनते हैं तो अन्तर्पट बन्द करके, बुद्धि की खिड़कियों की चिटकनी चढ़ाकर। गुरु-मुख से सुधारसमय वर्षण करती जिनवाणी की एक अमृत-बूँद तक को अन्दर प्रविष्ट करने का अवसर मिल जाए तो आप श्रोता ही क्या हुए? गौतमकुमार आपकी भाँति श्रोता नहीं थे। दिल, दिमाग, बुद्धि को कहीं और रखकर श्रवण नहीं किया उन्होंने। उनके अन्तर्पट खुले थे, बुद्धि की खिड़कियाँ भी खुली थीं और आत्मा में भी जागृति थी, रुचि थी। यही कारण है

कि प्रभु की एक ही देशना से उनकी आत्मा, उनकी विवेक दृष्टि जग उठी। अन्तर् में सांसारिक कामभोगों की असारता, शरीर की नश्वरता का ज्ञान होने पर उन्हें विरक्ति भाव उत्पन्न हो गया। माता-पिता से पूछकर दीक्षा लेने की भावना प्रभु के सम्मुख प्रकट की गौतमकुमार ने।

□ जैसा सुख हो, वैसा करो

प्रभु ने तब कहा गौतमकुमार को—“अहा सुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंध करेह !” कितना संतुलित, सटीक और रहस्यपूर्ण कथन है यह। बलपूर्वक आचरण करवाने की बात नहीं यहाँ।

जैनधर्म के सिद्धांतों में सर्वोपरि सिद्धांत ही यह है कि किसी पर कोई बात थोपो मत, बाध्य मत करो किसी को। उचित भी यही है, क्योंकि लोभ देकर, भय दिखाकर, जबरदस्ती करके यदि कोई काम करवाया जाता है तो वह कार्य कभी सफल नहीं होता। वह तो सदैव विपरीत परिणाम देने वाला और नेष्ट ही होता है। जैनधर्म आत्म-प्रेरित धर्म है। यहाँ धर्मगुरुओं, धर्मग्रंथों का काम है—मानव के सुषुप्त विवेक को जगाना, उसको आत्म-ज्ञान की पहचान कराना। ऐसा व्यक्ति जब अपने भीतर की इच्छा से कोई आचरण करता है तो उसमें दिव्य-देव-शक्ति की प्रतिष्ठा हो जाती है। पूर्ण आत्म-बल के कारण उस व्यक्ति का कार्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि सभी सर्वज्ञ, तीर्थकर-भगवंत भव्य प्राणी को दीक्षा भाव आने पर कहते हैं—“जैसा तुम्हें सुख हो, वही करो।”

□ शुभस्य शीघ्रं

साथ ही वे यह भी फरमाते हैं—“विलम्ब मत करो।” शुभ कार्य है अतः ‘शुभस्य शीघ्रं’ वाली कहावत चरितार्थ होनी चाहिए। समय बलवान है। जाने किस समय में विचारों में परिवर्तन आ जाये। विचार शुभ हों तो क्रियान्विति में विलम्ब मत करो।

अंतगडसूत्र के वाचन में अभी कहा गया था—

“एवं जहा मेहे, जाव अणगारे जाए……” अर्थात् जिस प्रकार मेघकुमार ने प्रभु महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की, उसी प्रकार गौतमकुमार भगवान अरिष्टनेमि के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये।

बंधुओं ! मेघकुमार की दीक्षा का वर्णन ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के पहले अध्ययन में मिलता है। मेघकुमार ने दीक्षार्थ अपने माता-पिता से आज्ञा माँगी, इस पर उनकी माता मूर्च्छित हो गयीं। उपचार करने पर जब कुछ ठीक हुई तो पुत्र से बोलीं—“हे पुत्र! तू मेरा इकलौता बेटा है। तू मुझे अत्यंत इष्ट है, कान्त है, प्रिय है, मनोज्ञ है और श्वासोच्छ्वास की तरह आनंददायक है, अतः जब तक हम जीवित हैं, दीक्षा का नाम मत ले। उपलब्ध कामभोगों को भोग, कुल-वृद्धि कर, फिर हमारे मरण-धर्म प्राप्त होने के पश्चात् संयम लेना।”

इस पर मेघकुमार ने कहा—“यह शरीर नश्वर है, विनष्ट होने वाला है, अनित्य है। मृत्यु का कोई भरोसा नहीं। कौन जानता है कि पहले कौन मरेगा? हो सकता है पहले मैं चला जाऊँ? काल का क्या भरोसा? आज, इसी समय मौत आ जाये। अतः हे पूज्यों! आप मुझे आज्ञा दीजिए।”

तब माता ने कहा—“हे पुत्र! जिन आठ राजकुमारियों से तुमने शादी की है, उनका क्या होगा? तुम इनके साथ कामभोग भोगो फिर मुण्डित हो जाना।”

मेघकुमार ने प्रत्युत्तर दिया—“मनुष्य सम्बन्धी कामभोग आत्मा को पतित करने वाले, अपवित्र और शरीर को निर्बल बनाने वाले अत्यंत घृणित हैं, अतः इन्हें तो उपभोग से पूर्व ही त्यागना अच्छा है। इस कारण आप मुझे संयम ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें।”

□ क्षण भंगुरता

माता ने तब संग्रहीत अटूट धनादि का उपभोग करने के लिए कहा तो मेघकुमार ने धनादि को भी नश्वर बताया। वे बोले—“धन तो चोर चुरा सकते हैं, राजा छीन सकता है, अग्नि आदि से नष्ट हो सकता है। मौत यदि आ जाये तो सारा धन यहीं पड़ा रह जाता है, अतः हे माता! आप मुझे आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होने की अनुमति दीजिए।”

□ संयम मार्ग की विकटता

यह सुनकर माता संयम-पथ के अनेकों कष्टों का वर्णन करती हैं। बावीस अति कठिन परीषहों को जीतना, नंगे पाँव चलना, शीत-उष्ण सहन करना, भिक्षापूर्वक जीवन व्यतीत करना, केश-लुञ्चन करना आदि को दुस्साध्य बताते हुए दीक्षा लेने से मना

करती है। मेघकुमार तब कहता है कि “ये सब दुस्साध्य और दुष्कर उनके लिए हैं जो कायर और कमजोर हैं। वीर और धीर पुरुषों के लिए तो ये सब नगण्य हैं। मैं भी तो एक वीर क्षत्रियाणी का वीर पुत्र हूँ और क्षत्रिय धर्म का जीता जागता प्रतीक हूँ। वीरांगना के पुत्रों में दुर्बलता की शंका करना अनुचित है। माँ! एक वीर माता अपने पुत्र को संग्राम से पीछे हटने का उपदेश दे, यह देखकर आश्चर्य हो रहा है। एक क्षत्रिय कुमार होता हुआ मैं संयम की कठिनता से भयभीत हो जाऊँ? यह तो आपको स्वप्न में भी सोचना नहीं चाहिए। माँ! आप इस विषय में सर्वथा निश्चिन्त रहें। अतः मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान कीजिये।”

अब माता-पिता ने सब तरह के प्रलोभनों से दूर अपने पुत्र को ‘राज्य-प्रलोभन’ दिया और कहा—“हम तुम्हारी एक दिन की ‘राज-लक्ष्मी’ देखना चाहते हैं।”

मेघकुमार इस पर मौन रहे। उनके मौन को “मौनं स्वीकृति लक्षणं” मानकर उनका राज्याभिषेक किया गया। राजा मेघ से उनके माता-पिता ने पूछा—“अब आपकी क्या आज्ञा है?” इस पर राजा मेघ ने कहा—“मेरी दीक्षा की तैयारियाँ की जाएँ। राज्य कोष से दो लाख स्वर्ण-मुद्राओं के ओघे, पात्रादि खरीदे जाएँ तथा एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ नापित को केश काटने के लिए भेजी जाएँ और अपने हाथों से रजोहरण एवं पात्र प्रदान कर स्वयं चलकर भगवान के चरणों में मुझे समर्पित कीजिये।”

समझा था जो माता-पिता ने, उनकी वह इच्छा भी पूरी नहीं हुई। मेघकुमार राज्य-प्रलोभन में नहीं फँसे। विवश माता-पिता ने, उनको दीक्षानुमति प्रदान कर दी और बहुत ही भव्य जुलूस के साथ भगवान के श्रीचरणों में पहुँचकर निवेदन किया—“हे प्रभु! यह राजकुमार भविष्य में अतीत के समान दुःखों को न पाये इस भावना से आपके श्रीचरणों में दीक्षित होकर आत्म-कल्याण करना चाहता है। अतः इसकी पुनीत भावना को पूर्ण करने की कृपा कीजिये। भगवान की अनुमति पाकर मेघकुमार ने ईशानकोण में जाकर उन्होंने स्वयं अपने वस्त्रालंकार उतारे, पंचमुष्टि लोच किया व श्रमण-वेश धारण किया।

आत्म-प्रेमी सज्जनों! मेघकुमार की तरह ही गौतमकुमार ने भी अरिहन्त अरिष्टनेमि प्रभु के पास श्रमण-पर्याय को स्वीकार किया। श्रमण बनकर वे ईर्या समिति आदि पाँच

समितियों व तीन गुप्तियों का पालन करते हुए जिनेश्वर देवों की वाणी के अनुसार संयम-पथ पर अग्रसर हुए और इतस्ततः विचरने लगे।

मुनि गौतमकुमार ने अपनी दीक्षा के पश्चात् गीतार्थ गूढ़ रहस्यों को जानने वाले स्थविर मुनिराजों से सामायिक आदि ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। इस तरह वे ज्ञान-दर्शनपूर्वक संयम व तप द्वारा अपनी आत्मा को भावित करने लगे।

स्पष्ट है कि जैनदर्शन व जैनागमों में तीर्थंकर भगवन्तों ने ज्ञान और क्रिया, इन दोनों की महत्ता को प्रतिपादित किया है। साधक के जीवन में संयम और तप की साधना सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनपूर्वक होनी आवश्यक है। ये दोनों ही शुद्ध साधना की, आत्म-शुद्धि की, मोक्ष-पथ की आधारशिलाएँ हैं। वस्तुतः ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है और क्रिया बिना ज्ञान पंगु है। कहा भी है—“ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः।”

□ अंधा और पांगला

एक दृष्टान्त है इसके लिए। किसी ग्राम में एक अंधा व्यक्ति रहता था और उसी गाँव में एक पैरों से लाचार पंगु-पांगला व्यक्ति भी रहता था। ग्राम में दोनों व्यक्तियों की कोई कद्र नहीं थी। उनकी पेट-भराई भी वहाँ मुश्किल से होती थी। अतः दोनों व्यक्ति आसपास की गाँव-ढाणियों में जाकर जो कुछ मिलता, लाते और गुजारा करते थे।

एक बार वे दोनों किसी ऐसे गाँव में गये जो दूर था और मध्य-पथ पूरा का पूरा जंगल था। संध्या हुई तो दोनों चले पुनः अपने ग्राम की ओर। वे जंगल की राह चल ही रहे थे कि जंगल में आग लग गई। हवा के साथ आग फैलने लगी। पशु दौड़-भागकर और पक्षी उड़कर अन्य सुरक्षित स्थानों पर चले गये। जंगल की पगडंडी पर आवागमन करने वाले जो पथिक थे, वे सभी भी भागकर अपने प्राणों को बचाने के प्रयत्न में लग गये।

अंधा व्यक्ति भी जान गया कि आग लगी है। वह भी इधर-उधर भागने लगा पर किस दिशा में भागे? समझ नहीं पाया। देख तो सकता नहीं था। अतः भागते ही कभी पेड़ से टकराता तो कभी पत्थर से और कभी झाड़ियों में उलझ जाता।

पांगला व्यक्ति देख रहा था जंगल में लगी आग को, भागते-उड़ते पशु-पक्षियों को, प्राण बचाते पथिकों को पर वह स्वयं क्या करे? असमर्थ था वह, लाचार था पैरों से अतः भाग तो सकता नहीं था। तभी उसके दिमाग में एक विचार कौंधा। अंधा जो उसी के

गाँव का था, दौड़ पड़ा था प्राणों की रक्षार्थ पर देख न पाने से गिर रहा था, उलझ रहा था, ठोकरें खा रहा था। उसने आवाज दी उसे, दिशा-निर्देश देकर अपने पास बुलाया और कहा—“बंधु ! इस समय मेरे और तुम्हारे, दोनों के ही प्राण संकट में हैं। मेरे दिमाग में एक तरीका आया है, जिससे दोनों के प्राण बच सकते हैं।”

अंधे ने पूछा—“जल्दी बताओ भाई! क्या करें हम कि प्राण बच जायें।”

पांगले ने कहा—“हम परस्पर एक-दूसरे के सहयोगी बन सकते हैं। तुम्हारे पास आँखें नहीं हैं पर पैर हैं, मेरे पास पैर नहीं पर आँखें हैं। तुम मुझे अपने कंधों पर बिठाओ और मैं तुम्हें जैसा कहूँ, जिस तरफ कहूँ उस तरफ चलो, भागो तो हमारे प्राण सही-सलामत रह जायेंगे।”

अंधे व्यक्ति को भला क्या आपत्ति होती? पापी पेट के लिए भी लोग क्या-क्या नहीं करते फिर यह तो प्राणरक्षा का प्रश्न था और पांगले को कंधे पर बिठाने में कोई बुराई भी नहीं थी।

दोनों ने वैसा ही किया। पारस्परिक इस सहयोग ने दोनों के प्राणों की रक्षा की, उन्हें जंगल की अग्नि से बचा, गन्तव्य तक पहुँचा दिया।

संसार की भी यही दशा है। कषायों की भीषण आग में अनादिकाल से अनंत-अनंत आत्माओं के आत्म-गुणों का ह्रास हो रहा है। जल रही है, छटपटा रही है आत्मा, कषायों की अग्नि में। उससे बाहर निकलने के लिए सम्यग्ज्ञान-दर्शन का सम्यक् चारित्र में संगम आवश्यक है।

इसी सत्य-तथ्य को जयगच्छीय आशुकवि स्वामीप्रवर श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. सा. ने अपने इस काव्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है—

मुक्ति ना मिले रे सम्यग्ज्ञान क्रिया बिन भोला ॥टेर ॥

काशी जाओ, मथुरा जाओ, चाहे जाओ गंगा।

खाक लगाओ, भगवा पहनो, चाहे पहनो अंगा ॥१ ॥

चाहे लुंचन कर लो चाहे, जटा बड़ा लो जंगा।

चाहे पैदल फिर लो चाहे, करो सवारी संग ॥२ ॥

चाहे धोला वस्त्र पहन लो, चाहे पहनो रंगा ।
 चाहे (कर) लोह-कड़ा पहन लो, चाहे रख लो कंगा ॥ ३ ॥
 चाहे एक लंगोट लगा लो, चाहे रह लो नंगा ।
 सम्यग्ज्ञान-चरण बिन चेतन, चित नहीं होवे चंगा ॥ ४ ॥
 दोनों मिलकर गांव पहुँचगा, अंधा और अपंगा ।
 ज्ञान अपंग है किरिया आंधी, शिवपुर शहर सुरंगा ॥ ५ ॥
 भाव, ज्ञान अरु शुद्ध क्रिया को, नमिण् नित उमंगा ।
 स्वामी “नाथ” ने “चौथ मुनि” को, सहज किया सुढंगा ॥ ६ ॥

किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, पंथ की कोई भी धर्मक्रिया कर लो पर ज्ञान और क्रिया का यदि संगम नहीं तो क्या स्थिति होगी, यह स्पष्ट है। भावों में सम्यग्ज्ञान की गंगा बहती हो तो क्रिया में शुद्धि सहज संभव है और वही आत्मशुद्धि का कारण है। साधक ज्ञानी है पर क्रिया शिथिल है तो भी मंजिल नहीं और वह क्रिया में, चरित्र में, तप में उत्कृष्ट स्थिति वाला है पर सम्यग्ज्ञान की शून्यता है तो भी वहीं का वहीं, कोई प्रगति संभव नहीं।

□ भिक्षु-प्रतिमाराधन

राजकुमार थे और मुनि बन गये। सुकोमल शरीर था, पर मुनि बनकर तप से, त्याग से, व्रतों से मुख नहीं मोड़ा। दृढ़ता से बढ़ते रहे उस साधना के पथ पर जिसे ‘खांडे की धार’ की उपमा भी दी गयी है। मुनि बनने के पश्चात् ज्ञान की आराधना की और तब कर्मों की निर्जरा के लिए उपवास, बेला, तेला आदि अनेक तप किये। मन में भिक्षु-प्रतिमाओं के आराधन का संकल्प उठा। गुरु के सम्मुख संकल्प प्रकट कर उनकी अनुमति से भिक्षु-प्रतिमाओं की आराधना की। दशाश्रुतस्कंधसूत्र के सातवें ‘आयारदशा’ नामक दशा में बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का विवरण मिलता है। (कृपया परिशिष्ट भाग देखें।)

□ ‘गुणरत्न संवत्सर’ तप

बारह भिक्षु-प्रतिमाओं की आराधना कर गौतमकुमार मुनि ने ‘गुणरत्न संवत्सर’ नामक तपाराधन किया। (गुणरत्न संवत्सर नामक तप का विवरण परिशिष्ट भाग में

देखें) उनका शरीर क्षीण, दुर्बल, अशक्त हो गया। मात्र हड्डियों का ढाँचा रह गया था शरीर का, पर अनंत आत्म-शक्ति जागृत हो गयी। आगम में आया है—

“हुयासणे इव भासरासी पलिच्छणणे तवेणं तेएणं तव तेयसिरीए उव सोभेमाणे चिट्ठइ।”

बुझी हुई अग्नि जब राख बन जाये तब भी उस राख के नीचे दबी चिनगारी दमकती-चमकती रहती है, अपनी उष्णता और प्रकाश को कभी भी प्रकट करने की क्षमता रखती है।

गौतम मुनि ने भी तप के तेज से आत्म-ज्योति जागृत की। उनका चेहरा तेजोदीप्त बन गया।

□ संथारा, समाधिमरण, मुक्ति

शरीर की अन्तिम घड़ियों को निकट अनुभव कर पूर्ण समाधि के साथ प्राण त्यागने की भावना से ‘संलेखना व संथारा’ करने का निश्चय किया। प्रभु की आज्ञा से वे शत्रुञ्जय पर्वत पर गये। आलोचना द्वारा आत्मा को पूर्ण निर्मल व निःशल्य बना संथारा किया, यावज्जीवन चारों आहारों का त्याग किया, ‘कालं अणवकंखमाणे’—मृत्यु की इच्छा न करते हुए पूर्ण समाधि के साथ आत्म-भाव में स्थिर हो गये। तीस दिवस के संथारे के साथ बारह वर्ष की शुद्ध चारित्र-पर्याय का पालन कर उस दिव्यात्मा ने आयुष्य समाप्ति पर शरीर का त्याग किया और वे सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

□ अंतगड़ के प्रथम वर्ग के शेष नौ अध्ययन

मुनि गौतमकुमार का वर्णन अंतगड़सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में आया है। प्रथम वर्ग के कुल दस अध्ययन हैं। शेष नौ अध्ययनों में समुद्रकुमार, सागरकुमार, गंभीरकुमार, स्तमितकुमार, अचलकुमार, कम्पिलकुमार, अक्षोभकुमार, प्रसेनजितकुमार व विष्णुकुमार का वर्णन है। ये सभी राजा अंधकवृष्णि व रानी धारिणी के पुत्र थे। इन सभी ने अपने सहोदर गौतम की ही भाँति प्रभु का उपदेश सुन विरक्ति को प्राप्त किया, प्रभु अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अंगीकार की और उग्र तपःसाधना की। सभी ने बारह वर्ष तक शुद्ध चारित्र-धर्म का पालन किया और आयु के अंतिम समय में एक-एक मास के संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण को प्राप्त कर सिद्ध गति प्राप्त की।

□ अंतगड़ के द्वितीय वर्ग के आठ अध्ययन

अंतगड़सूत्र के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनों के पश्चात् द्वितीय वर्ग के आठ अध्ययनों में आठ कुमारों का वर्णन आया है, जिनके नाम हैं—अक्षोभकुमार, सागरकुमार, समुद्रकुमार, हिमवानकुमार, अचलकुमार, धरणकुमार, पूरणकुमार और अभिचन्दकुमार। ये आठों कुमार भी राजा अंधकवृष्णि और रानी धारिणी के ही पुत्र थे। इन सभी ने भी गौतमकुमार की तरह प्रभु अरिष्टनेमि की धर्मदेशना सुन संसार से विरक्ति प्राप्त की। ये सभी मुनि गौतमकुमार की ही तरह दीक्षित बने, सभी ने उन्हीं की तरह अध्ययन किया, तप किया, चारित्र-धर्म का दृढ़ता से पालन किया। इन आठों की चारित्र-पर्याय सोलह वर्ष की थी। अंत में इन सभी ने भी एक मास की संलेखना-संधारापूर्वक शरीर का त्याग कर सिद्ध गति को प्राप्त किया।

□ पर्व-दिन और साधना

जीवात्मा का अंतिम चरम और परम लक्ष्य सिद्ध गति को प्राप्त करना ही है। पर्युषण पर्व के ये दिन और अंतगड़सूत्र में वर्णित अंतिम लक्ष्य को सिद्ध करने वाली आत्माएँ यही सन्देश देती हैं कि आप श्रावक-श्राविका एवं हम साधु-साध्वी मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लेकर लक्ष्य तक पहुँचाने वाली साधना में अधिकाधिक पुरुषार्थ करें। जो भव्यात्माएँ कषायों को क्षीण बनाते हुए समभावों में विचरण करेंगी, उनका आत्म-कल्याण का पथ निश्चित ही प्रशस्त बनेगा।

आनंद ही आनंद!



भेट्या श्री नेमि ना पाय

आत्म-बन्धुओं !

चल रहे हैं महापर्व के दिन। जब तक नहीं आये पर्वाधिराज पर्युषण, तब तक आप लोग सोचते थे—पर्युषण आयेंगे तब खूब धर्मध्यान, जप-तप करेंगे। समय सारा स्थानक में बितायेंगे। सारा समय नहीं तो अधिकांश समय तो अवश्य स्थानक में जाकर धर्मानुष्ठान करेंगे। आ गये, आरंभ हो गये कल से। कर्मनिर्जरा के लिए आप यहाँ आये हैं, श्रुतवाणी का श्रवण कर रहे हैं, तपस्या में आगे बढ़ रहे हैं। पूरी शक्ति से करना है धर्माराधन! ऐसा न हो कि आज दूसरा दिन है, कल तीसरा आयेगा, एक-एक कर सारे दिन व्यतीत हो जायेंगे और पता ही नहीं चल पायेगा कि कब आत्म-शुद्धि के ये पर्व-दिन व्यतीत हो गये। कुछ नहीं किया इन पर्व-दिनों में तो बाद में हाथ मलते रह जायेंगे, अतः जैसी शक्ति, वैसी भक्ति। अपनी शक्ति, अपनी सामर्थ्य के अनुसार अवश्य धर्मक्षेत्र में पुरुषार्थ करें।

□ जीवन का लक्ष्य : पर्व का लक्ष्य

आत्म-साधकों को चाहिए कि वे इन दिनों प्रवृत्तियों का त्याग कर निवृत्ति के पथ को अपनायें और इसके लिए अपना एक सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित कर लें, क्योंकि लक्ष्य-निर्धारण नहीं होगा तो कार्य में सफलता संदिग्ध रहेगी। मेरा आप सभी से एक प्रश्न है—“आप किसलिए जी रहे हैं? जीवन का लक्ष्य क्या है आपका? धर्म आप करते नहीं। रुचि नहीं है धर्म में। आत्म-सिद्धि आपका लक्ष्य नहीं। ऐसा जीना किस काम का?”

आप कहेंगे—“पछे कांई करां महाराज, मर जावां कांई?”

बंधुओं! जीना या मरना आपके हाथ की बात नहीं है, पर धर्म करना आपके हाथ की बात है। कहावत यह है कि “चौबीस घड़ी काम की तो एक घड़ी राम की।” यहाँ राम

का अर्थ है— आत्म-रमण, प्रभु-स्मरण, धर्मानुष्ठान। आत्मा के लिए प्रतिदिन दो घड़ी समय भी आपके पास है कहाँ? धर्म के लिए समय कहाँ बचता है—सांसारिकों को? अतः प्रतिदिन नहीं तो वर्ष में इन आठ दिनों में तो आत्म-ज्योति को जागृत कीजिए। लक्ष्य बना लीजिए कि मुझे पूरे आठ दिन केवल धर्मध्यान ही करना है।

करते आप लोग भी हैं पर्युषण के इन आठ दिनों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना-आराधना। बालक-बालिकाएँ, युवक-युवतियाँ, भाई और बहनें सभी इन दिनों विशेष रूप से व्रत आदि रखते हैं, सामायिक-प्रतिक्रमण-दया-उपवास-संवर-पौषधादि करते हैं। इन दिनों पूरे वर्ष में कभी प्रवचन में न आने वाले भी प्रवचन श्रवण करने आते हैं। जीवदया व मानवीय-हित के अनेक अन्य कार्य भी होते हैं।

क्यों करते हैं ये सब? क्योंकि पर्वाधिराज पर्युषण के आठ दिनों का लक्ष्य ही एक विशिष्ट साधना-क्रम का पालन करते हुए जीवन-व्यवहार में परिवर्तन लाकर उसे शुद्ध और आत्मा को विशुद्ध बनाना है।

□ लक्ष्य स्पष्ट हो

बात चल रही है लक्ष्य निर्धारण की। कार्य कुछ भी करें, लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। चलते जायें और मंजिल का पता नहीं हो तो भटकना सुनिश्चित है। मेरे प्रश्न पर चिन्तन करिए—‘किसलिए जी रहे हैं आप?’ नहीं किया चिन्तन तो पछताना पड़ेगा। अनादिकाल से जिस चौरासी के चक्कर में फँसे हुए हैं, आगे भी जाने कब तक इसी में फँसे रहना पड़ेगा, चक्कर खाते रहेंगे अनंतकाल तक इस चौरासी के।

दीक्षा से पूर्व कॉलेज-जीवन का एक प्रसंग याद आ रहा है। एन. सी. सी. का शिविर जोधपुर से कहीं बाहर लगने जा रहा था। मुझे भी जाना था शिविर में। प्रिंसिपल ने मुझे बुलाकर कहा—“शिविर में जा रहे सभी साथियों का रेलवे-रिजर्वेशन कराना है। यह काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ।”

मैं गया स्टेशन। रिजर्वेशन के लिए बहुत लम्बी कतार लगी हुई थी। मैं धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने लगा। एक-एक कर मेरे आगे से व्यक्ति रिजर्वेशन कराकर कतार से निकलते रहे, कतार छोटी होती रही। मेरा नम्बर अब आने ही वाला था। मेरे से पहले केवल एक व्यक्ति था। उसने रूपए निकाले, खिड़की में हाथ डाला। खिड़की के उस पार बैठे व्यक्ति ने पूछा—“कहाँ का रिजर्वेशन चाहिए?” मेरे आगे वाला व्यक्ति

बोला—“यह तो मालूम नहीं। आप अपनी इच्छा से कहीं का भी दे दीजिए।” खिड़की पर बैठे उस रेलवे कर्मचारी ने उस व्यक्ति को प्लेटफार्म का टिकट दे दिया और उसके निर्धारित पैसे लेकर शेष पैसे उसे लौटा दिए।

व्यक्ति ने देखा टिकट तो पूछा—“कहाँ का दिया?” बाबू बोला—“यहीं प्लेटफार्म का दिया है। आ जाओ घूमकर।” उस व्यक्ति ने कहा—“नहीं बाहर तो जाना है। आप ऐसा करिए, ये पैसे लीजिए और इन पैसों में जहाँ तक का टिकट बनता हो, वहाँ तक का रिजर्वेशन टिकट बना दीजिए।” सोचिए क्या वह व्यक्ति पहुँच सकेगा अपनी मंजिल तक? नहीं पहुँच सकेगा। क्यों? क्योंकि उसका लक्ष्य निर्धारित नहीं है, उसे अपनी मंजिल का ही पता नहीं है।

आपके भी जीवन का लक्ष्य यदि निर्धारित नहीं तो यही होना है आपके साथ भी। मंजिल यदि ज्ञात नहीं तो मुश्किल होगी ही, भटकना पड़ेगा ही। अतः आपको अपने जीवन की, मनुष्य-भव की, दुर्लभ इस मनुज-जन्म की दिशा निर्धारित करनी है।

□ पर्युषण पर्व और अंतगड़ वाचन की परम्परा

आपके सामने वाचन हुआ अभी अन्तगड़दसांगसूत्र का। प्रतिवर्ष पर्युषण-पर्वाधिराज में अन्तगड़सूत्र का मुनि जन वाचन करते हैं और आप श्रोता-श्रावकगण सुनते हैं। क्या लाभ है इस सूत्र को पढ़ने का? क्यों पढ़ा जाता है यही सूत्र प्रतिवर्ष पर्युषणकाल में?

बंधुओं! पर्युषण आत्म-शुद्धि का पर्व है और आत्म-शुद्धि से मिलती है मुक्ति की मंजिल। मुक्ति अर्थात् जन्म-मरण के महादुःखों से छुटकारा, अष्ट कर्मबंधन की कारा से छुटकारा, भव-भ्रमण से अर्थात् चार गति-चौरासी लक्ष्य जीवयोनि से छुटकारा। जीवात्मा का चरम और परम लक्ष्य यदि कोई है तो वह है मुक्ति! बत्तीस जैनागमों में अंतगड़ को छोड़कर कोई भी ऐसा आगम, ऐसा सूत्र नहीं जिसमें उल्लेखित सभी के सभी साधक एकान्त रूप से मोक्ष के अधिकारी उसी भव में बने हों, मुक्ति का जिन्होंने वरण उसी भव में कर लिया हो। मात्र अन्तगड़ ही एक ऐसा आगम है जिसमें वर्णित सभी नब्बे आत्माओं ने मोक्ष की प्राप्ति की। मनीषी आचार्यों ने गहन मनन-चिन्तन के पश्चात् इन महान् आध्यात्मिक दिनों में पठन-पाठन, वाचन-विवेचन के लिए अंतगड़सूत्र को निर्धारित किया। इस सूत्र में वर्णित नब्बे (९०) ही साधकों ने उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप

रत्नत्रयी की आराधना कर, उत्कृष्ट तप से अपने पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर इसी भव में अपने अन्तः कृत्य को, अपने अंतिम कृत्य को सफल बनाया।

नाम ही इसका रखा गया है—अंतगड़ अर्थात् अन्त-कृत। अर्थ हुआ इसका कि वे साधक जिन्होंने उत्कृष्ट साधना कर अपना अंत सफल बना लिया है, अर्थात् अंतिम कृत्य कर कृतकृत्य बन गये, कर्मबंधन-मुक्त हो गये, समस्त दुःखों का अन्त कर शाश्वत-सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर लिया। ऐसे ही महान् पुरुषों के आदर्श जीवन के जीवन्त प्रसंगों से ओतप्रोत है यह सूत्र। अतः यह सूत्र हमें जीवन जीने की दिशा प्रदान करता है।

दूसरे जितने भी आगम हैं, उनमें कुछ इतने बड़े हैं कि इन आठ दिनों की अवधि में उनका वाचन-विवेचन पूर्ण करना कठिन कार्य है। कुछ आगम इतने छोटे हैं कि उन्हें सुनाने की परम्परा प्रारंभ की जाये तो जल्दी ही पूर्णता की ओर पहुँच जाते हैं। अंतगड़ एक ऐसा अंगसूत्र है जिसका वाचन व विवेचन आठ दिन में किया जा सकता है।

बंधुओं ! ध्यान में रखने की बात यह है कि अंतगड़सूत्र ग्यारह अंगों में आठवाँ अंगसूत्र है। इस आठवें अंगसूत्र में आठ वर्ग हैं और इन वर्गों को आठ दिन में पूर्ण करने का सूत्र में ही स्पष्ट निर्देश है।

□ अष्टाह्निक पर्व-परम्परा

समवायांगसूत्र के अनुसार पहले पर्युषण महापर्व की आराधना एक दिन ही की जाती थी। बाद में धर्माचार्यों ने काल के प्रभाव को देखते हुए एक दिन के समय को धर्मकार्यों हेतु बहुत कम माना और पर्युषण की भूमिका के रूप में सात दिन और जोड़कर इसे अष्ट दिवसीय महापर्व का रूप दिया। पहले सात दिन पर्युषण के व आठवाँ अन्तिम दिन संवत्सरी का। दिगम्बर सम्प्रदाय ने धर्म के दस लक्षणों को आधार मानकर इसे दस लक्षण पर्व नाम दिया। वे लोग इस पर्व को भाद्रपद शुक्ला पंचमी से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी तक मनाकर दस दिवस पर्यन्त धर्म-जागरण करते हैं। कालान्तर में कालकाचार्य ने राज-सुविधा से प्रेरित हो संवत्सरी चतुर्थी के दिन मनाने की घोषणा करवाई थी, तब से संवत्सरी मनाने की तिथि में अन्तर आना प्रारंभ हुआ—ऐसी मान्यता है।

जैसे दिगम्बर सम्प्रदाय पर्युषण दस दिन तक मनाने का आधार धर्म के दस लक्षण बताते हैं, वैसे ही हमारे यहाँ इसे आठ दिन तक मनाने के विभिन्न कारणों का धर्माचार्यों ने उल्लेख किया है। उन कारणों में से प्रमुख कारण हैं—

(१) आठ कर्मों (ज्ञानावरणादि) को काटने के लक्ष्य को लेकर यह आठ दिवस पर्यन्त मनाया जाता है।

(२) आठ मर्दों को एक-एक कर त्यागने हेतु भी इसे आठ दिवसीय बनाया गया, ऐसी भी मान्यता है।

आठ की संख्या जैनदर्शन में मंगलमय मानी जाती है। मंगल (स्वस्तिक आदि) आठ हैं, सिद्ध प्रभु के गुण आठ हैं जो आठ कर्मों को काटने से प्रकट हुए, सिद्धियाँ आठ हैं, निर्ग्रन्थ-श्रमण के लिए आठ प्रवचन-माताओं (पाँच समिति व तीन गुप्ति) का वर्णन शास्त्रों में आता है, योग के अंग आठ हैं और आत्मा के रुचक प्रदेश भी आठ हैं।

□ पर्युषण : आध्यात्मिक साधना का स्वर्णिम अवसर

प्रमाद में, मोह-माया में, सावद्य-योगों में उलझे और आकण्ठ डूबे हुए व्यक्तियों के लिए आठ दिनों का यह पर्युषण पर्व आध्यात्मिक साधना एवं आत्म-जागरण के लिए एक स्वर्णिम अवसर (Golden Chance) है। जो व्यक्ति कर्मबंध की हेतुक प्रवृत्तियों में लगकर अपनी आत्मा का, स्वयं अपना भान भूले हुए हैं, उन व्यक्तियों को इन पर्युषण पर्व के पावन दिनों में अवश्य आत्म-जागृत बनना चाहिए, क्योंकि सांसारिक प्रवृत्तियों को त्यागकर निवृत्ति के, संयम के, चारित्र के पथ पर बढ़ना ही एक मात्र आत्म-कल्याण का सुलभ और सही रास्ता है।

□ अनिकसेनादि तेरह आत्म-साधक

अंतगड़ में चल रहा है ऐसे ही महनीय, वन्दनीय, पूजनीय महापुरुषों का जीवन-स्मरण जिन्होंने आत्म-ज्ञान प्राप्त कर आत्मोन्नति का लक्ष्य बनाया और आत्मा के गुणों को प्रकट करते हुए आठों मर्दों का सर्वथा त्याग किया। प्रमत्त संयति गुणस्थान से जो अप्रमत्त संयति गुणस्थान में आकर ऊपर ही ऊपर चढ़ते चले गये। इन भव्यात्माओं ने सम्यग्ज्ञानादि का आराधन करते हुए अपनी आत्म-शुद्धि की और शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त करते हुए मुक्ति के अधिकारी बन गये।

श्री अनिकसेनादिक, छहों सहोदर भ्रात।

वसुदेव ना नन्दन, देवकी ज्यांरी मात ॥५७॥

भद्विलपुर नगरी, नाग गाहावई जान।

सुलसा घर बधिया, सांभली नेमनी वाण ॥५८॥

तजी बत्तीस-बत्तीस अंतेउरी, नीकल्या छिटकाय ।
 नल कूबर समाना, भेट्या श्री नेमि ना पाय ॥५९॥
 करी छठ-छठ पारणा, मन में वैराग्य लाय ।
 एक मास संधारे, मुक्ति विराज्या जाय ॥६०॥
 वलि दारुक, सारण, सुमुख, दुमुख मुनिराय ।
 वलि कूपक अनाधृष्ट, गया मुक्तिगढ़ मांय ॥६१॥

अंतगड़ के तीसरे वर्ग के तेरह अध्यायों में (१) अनिकसेन, (२) अनंतसेन, (३) अजितसेन, (४) अनहतरिपु, (५) देवसेन, (६) शत्रुसेन, (७) सारण, (८) गजसुकुमाल, (९) सुमुख, (१०) दुर्मुख, (११) कूपक, (१२) दारुक, और (१३) अनादृष्ट—इन तेरह राजकुमारों की यशस्वी पावन जीवन-गाथा का वर्णन आता है।

□ प्रथम छह सहोदर : सभी समान रूप, कद, सौन्दर्य के धनी

अनिकसेन आदि प्रथम छह कुमार भद्विलपुर नगर के 'नाग' नामक गाथापति और उसकी भार्या 'सुलसा' के अंगजात थे। ये छह ही सहोदर सुकुमार, सुरूपवान, सुन्दर और प्रियदर्शी थे। नल-कूबर के समान इन सभी के अप्रतिम सौन्दर्य की चर्चा नगर-जन किया करते थे।

□ शिक्षा वह जो संस्कारित करे

बचपन में अत्यंत प्यार, लाड़, दुलार से इनका पालन-पोषण हुआ। बड़े हुए तो शिक्षा-योग्य आयु होने पर इन्हें कलाचार्य के पास विद्याध्ययन हेतु भेजा गया। बच्चों को शिक्षित व विद्वान् बनाना माता-पिता का कर्तव्य है। सभी माता-पिता अपने-अपने सामर्थ्य एवं देशकाल के वातावरणानुसार उस काल में भी संतान के प्रति अपने इस कर्तव्य का निर्वहन करते थे। आज भी माता-पिता अपने बच्चों को अपनी शक्ति अनुसार शिक्षा दिलाते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि आज के माता-पिता और शिक्षा-गुरु बालकों के भावी जीवन के निर्माण सम्बन्धी तत्त्वों पर ध्यान नहीं देते, जबकि प्राचीनकाल में शिक्षा में बालकों को सुसंस्कारित बनाने एवं व्यावहारिकता के साथ जीवन-निर्माण सम्बन्धी तत्त्वों का पूरा ध्यान गुरु भी रखते थे और माता-पिता भी। इस प्रकार इन्हें आध्यात्मिक शिक्षा का भी सहज लाभ निरंतर प्राप्त होता था।

□ वर्तमान दूषित शिक्षा

वर्तमान युग में शिक्षा देने-दिलाने का सम्पूर्ण ढाँचा ही बिगड़ चुका है। माता-पिता आज Standard एवं Status का ध्यान रखकर अधिक खर्चीली शिक्षा को महत्त्व देते हैं। अमुक स्कूल अच्छा है, अंग्रेजी मीडियम में बच्चा पढ़ेगा तो उच्च स्तर गिना जायेगा, बड़े-बड़े ऑफिसरों, व्यवसायियों, नेताओं के लड़के अमुक स्कूल में पढ़ते हैं—बस ऐसी ही बातें आज की शिक्षा के लिए माता-पिता की नजर में महत्त्वपूर्ण बन चुकी हैं। सन्तान तीन वर्ष की हुई कि मॉन्टेसरी स्कूल में, नर्सरी या के. जी. कक्षा में प्रवेश दिला दिया जाता है। लगता है माता-पिता सन्तान को जल्द से जल्द और अधिक से अधिक समय तक अपने से दूर रखना पसन्द करते हैं, अर्थात् स्वयं वे स्वतंत्र रहना पसन्द करते हैं।

उच्च शिक्षा के अवसर आने पर विषय चुनने में भी बच्चे की प्रतिभा व रुचि को महत्त्व नहीं दिया जाता अपितु भावी व्यावसायिकता का ध्यान अधिक रखा जाता है। पैसे चाहे जितने खर्च हों पर by Hook and Cook डॉक्टरी, इन्जीनियरी, पी. एम. टी. नेट में, एम. बी. ए. आदि विषयों में प्रवेश मिल जाना चाहिए। कहने को कहा यह जाता है कि शिक्षा वह जो व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करे पर वस्तुतः आज की शिक्षा तो एकांगी विकास भी नहीं कर पाती। शिक्षा-व्यवस्था के जो दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं उन्हें देखते हुए क्या यह नहीं लगता कि आज की शिक्षा में, शिक्षण पद्धति में, शिक्षा-व्यवस्था में और शिक्षा के पाठ्यक्रमों में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

□ शिक्षा, पाणिग्रहण, वैराग्य और दीक्षा

बात चल रही थी अनिकसेनादि छह सहोदर कुमारों की। कलाचार्य के पास रहकर वे सभी पुरुष-योग्य बहत्तर ही कला में निपुण बन गये। युवावस्था प्राप्त होने पर समान वय, समरूप लावण्य व सम-तारुण्य वाली समान कुल की बत्तीस-बत्तीस कन्याओं के साथ इन कुमारों का पाणिग्रहण कराया गया। वधू पक्ष के माता-पिताओं ने अपनी-अपनी कन्याओं के लिए बत्तीस-बत्तीस कोटि स्वर्ण, रजत व अन्य वस्तुओं का प्रीतिदान दिया।

भरा-पूरा यौवन, अखूट धन-सम्पदा, सुशील-शांत परिवार, फिर क्या कहना? छहों सहोदर भ्राता देवताओं के समान उत्तम भोगों को भोगते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

एक समय अर्हत् अरिष्टनेमि भगवान ग्रामानुग्राम विहार-विचरण करते, जन-जन को आत्म-कल्याण का पथ बतलाते, निज मुख से धर्म-वचन सुधा का वर्णन करते हुए भद्विलपुर में पधारे और नगर के बाहर श्रीवन नामक उद्यान में विराजमान हुए।

नगर-नरेश जितशत्रु, प्रधान अमात्य, मंत्रि-परिषद् के सभी सदस्य तथा अनेक उमराव, सरदार, प्रतिष्ठित नगर-जन प्रभु के दर्शन करने, उनका धर्मोपदेश श्रवण करने श्रीवन उद्यान में गये। अनिकसेन आदि छहों सहोदर भी प्रभु आगमन की बात जानकर प्रभु के समवसरण में पहुँचे। तीर्थंकर भगवन्त अरिष्टनेमि प्रभु ने उपस्थित परिषद् को धर्म-उद्बोध दिया, जिसे सुन अनिकसेन आदि छहों सहोदर भ्राता क्रमशः उस पर चिन्तन-मनन करते हुए वैराग्य-रंग में रंग गये और दीक्षा की कामना करने लगे। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर उन सभी ने राज्य-धन-वैभव-परिवार-बत्तीस-बत्तीस सुन्दर पत्नियों आदि का त्याग कर श्रमणधर्म की दीक्षा प्रभु-मुख से अंगीकार की। इस तरह वे प्रभु अरिष्टनेमि के शिष्य बन उनके चरणों में रहने लगे।

□ वर्तमान से तुलना

बन्धुओं ! अनिकसेनादि छह ही सहोदर निवृत्ति के पथ पर अग्रसर हो गये। तीन करण-तीन योग से समस्त सावद्य प्रवृत्तियों को त्याग दिया उन्होंने और सदा-सदा के लिए १८ पापों का त्याग कर, संयममय जीवन जीने लगे। वे अथाह वैभव के स्वामी थे, युवा थे, सम्पन्न थे, भोगोपभोगों की प्रचुरता में रमण कर रहे थे, पर उपदेश छू गया उनकी आत्मा को।

उनकी तुलना में आप क्या हैं? आपको यदि कहा जाये कि भाई! अब तो प्रवृत्ति-पथ को त्यागो, सावद्य योगों को छोड़ो, निर्वद्य योगों के साथ निवृत्ति के पथ पर चलो तो क्या कहेंगे आप?

आप कहेंगे—“महाराज! आप तो घणो ई केवो पण मन में मजबूती कोनी। विचारों में थिरता नहीं, मन जंजाल सूं निकलनी नीं चावे।”

□ संसार एक पागलखाना

निकले भी कैसे? आपका मन संसार की प्रवृत्तियों में ऐसा आकृष्ट है जैसे श्लेष पर बैठी मक्खी श्लेष में ही आकृष्ट रहती है। आप लोग वहाँ से निकलना चाहते ही नहीं। आप तो इनमें अधिक, और अधिक उलझना, फँसना, डूबना चाहते हैं। उसी तरह है आपका मन जैसा कि पागलखाने के पागलों का होता है। यह सारा संसार एक पागलखाना ही तो है और संसार में रचे-पचे प्राणी इसकी मोह-माया में उलझकर पागल-से बने हुए हैं और उसी पागलपन में सुखी होने का भ्रम पाल रहे हैं।

अन्तगडसूत्र में जिन भव्य आत्माओं का वर्णन चल रहा है, उन सभी ने तो अपना जीवन सफल बना लिया, संसार के पागलपन से बचकर उन्होंने आत्म-कल्याण को प्राप्त कर लिया।

उन महापुरुषों का वर्णन सुनकर आपको भी वही आत्म-कल्याण का लक्ष्य बनाना है, आत्म-कल्याण का पथ अपनाना है। बना लिया आपमें से जिन-जिन ने ऐसा लक्ष्य तो वे निश्चित ही पागल होने, पागलखाना जाने से बच जायेंगे। अन्यथा तो वही स्थिति होगी जो मुम्बई शहर के पागलखाने में रहने वाले पागलों की हुई।

□ पागलों के पागलपन की एक सत्य घटना

तब मुम्बई महानगरी की शहरी सीमा के भीतर एक पागलखाना था। शहर की तेजी से बढ़ती जनसंख्या के कारण शहर फैलने लगा तो शहर के भीतर आया वह पागलखाना सभी को खटकने लगा। समाजसेवियों ने आवाज उठाई, प्रशासकों तक बात पहुँची, अखबारों ने भी इसे एक समस्या मानते हुए नगर-प्रशासकों व सरकारी तंत्र से अपील की—इसे हटाकर शहर से बाहर स्थापित करने की। नेता और सरकारी तंत्र हरकत में आया। समस्या पर विचार किया गया। प्रस्ताव आया कि इसे शहर की सीमा से बाहर, कुछ दूर ले जाया जाये।

प्रस्ताव पर बहस हुई, विभिन्न लोगों ने विचार रखे, प्रस्ताव में कुछ संशोधन हुए, पागलों को रखने हेतु भवन-निर्माण के लिए निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। धीरे-धीरे बिल्डिंग बनने लगी। नक्शे के अनुसार सात मंजिला बिल्डिंग बननी थी। बहुत समय लगा बिल्डिंग के निर्माण में। एक दिन वह भव्य इमारत बनकर तैयार हो गयी। उद्घाटन के लिए राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि से बात की गई पर पागलखाने के बिल्डिंग के उद्घाटन की स्वीकृति कौन देता? आखिर एक वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध समाजसेवी को तैयार किया गया।

उद्घाटन हुआ। सारे पागलों को पुराने पागलखाने से नये पागलखाने में शिफ्ट कर दिया गया। सबसे ऊपरी सातवीं मंजिल पर सभी पागलों को रखा गया। छठी मंजिल पर मेंटल स्पेशलिस्ट एवं डॉक्टरों, नर्स स्टाफ, नौकर-चाकरों आदि के रहने की व्यवस्था और पागलों के परीक्षण, उनकी चिकित्सा आदि का प्रबंध था। ग्राउंड फ्लोर तथा शेष चार मंजिलों को किराए पर देना निश्चित हुआ।

सरकारी तन्त्र काम कर रहा था, अतः किराए पर देने के लिए टेंडर आमन्त्रित किए गये। नीचे की चार मंजिलों तक के टेंडर एक ऑयल कम्पनी के नाम पास हुआ। उसने पहली मंजिल में केरोसिन का स्टोर बनाया, दूसरी पर डीजल का, तीसरी पर पेट्रोल का तथा चौथी पर इंजिन ऑयल, ग्रीस आदि चीजों का। ग्राउंड फ्लोर में ऑयल कम्पनी का ऑफिस, गैराज, कैण्टीन आदि रखे गये। ऑयल कम्पनी भरपूर किराया देती थी और वह सारा पैसा उन पागलों की व्यवस्था, देखरेख, चिकित्सा, भोजन आदि पर व्यय किया जाता था। पाँचवीं मंजिल का टेंडर एक बारूद कम्पनी का खुला और उस मंजिल पर बारूद का गोदाम बनाया गया।

पूरी बिल्डिंग में ज्वलनशील एवं विस्फोटक पदार्थ थे, अतः पूरी सावधानी रखी जाती थी पर होनहार को भला कब कौन रोक पाया है? एक दिन बिजली के शॉट सर्किट ने अपना खतरनाक रूप दिखाया। बिल्डिंग में आग लग गयी। जहाँ केरोसिन, डीजल, पेट्रोल, बारूद जैसी चीजें हों वहाँ भला चिंगारी का क्या काम? और कभी चिंगारी पकड़ ली इन चीजों ने तो तबाही से बचने का क्या काम?

ज्वलनशील पदार्थों के गोदामों ने आग पकड़ ली, आग ने तीव्र गति से भयंकर रूप धारण कर लिया। बिल्डिंग से आग की लपटों के तो जैसे बवंडर ही फूट निकले थे। धुआँ आकाश को अपने भीतर समेट लेना चाहता था। रास्ते चलते पथिकों ने देखा, सामने की इमारतों में रहने वाले लोगों ने देखा, ग्राउंड फ्लोर से भागकर बाहर आये व्यक्तियों ने देखा, छठी मंजिल पर जिन-जिन को खतरे की सूचना, आग लगने का समाचार मिला वे भी भागे ग्राउंड फ्लोर की ओर। बेखबर थे तो सातवीं मंजिल के निवासी अर्थात् पागल। उन्हें तो इस आग से कुछ लेना-देना ही नहीं था जैसे।

‘आग लगी, भयंकर आग लगी’—टेलीफोन सरकारी तंत्र के पास पहुँचे, समाजसेवियों के पास पहुँचे। प्रशासन हरकत में आया। दमकलें भार्गी शहर से बाहर की ओर। अग्निशमन यंत्रों द्वारा आग बुझाने के प्रयत्न किए जाने लगे। पानी की तेज बौछारें बिल्डिंग पर फेंकी जाने लगीं पर आग ने सर्वग्राही रूप धारण कर लिया था, अतः कोई उपाय काम नहीं आया, आग बुझाई नहीं जा सकी। बारूद वाली मंजिल से आग अभी दूर थी, अतः विस्फोट अभी नहीं हो रहे थे पर निश्चित था कि आग वहाँ पहुँचेगी, सारे पागल मारे जायेंगे, पूरी बिल्डिंग ध्वस्त हो जायेगी।

पागलों को बचाने का विचार कर सारी दमकलों की लोहे की ऊँची सीढ़ियों को सातवीं मंजिल की विभिन्न खिड़कियों पर टिका दिया गया। अनेक मजबूत लम्बे-चौड़े जाल मँगाए गये। सैकड़ों व्यक्ति उन जालों को चारों तरफ से पकड़कर बिल्डिंग के नीचे खड़े हो गये। जाल इस तरह से फैला दिए गये कि ऊपर से कोई व्यक्ति उन पर कूदे तो उसे चोट न लगने पाये। अब नीचे से आवाजें दी जाने लगीं—“सीढ़ियों से उतर जाओ, खिड़कियों से जाल पर कूद जाओ।”

इसी समय पहली बार बारूद फटने की आवाज आयी। आवाज जोरदार थी। पागलों ने आवाज सुनी तो खिड़कियों से झाँकने लगे कि देखें यह आवाज कैसी है? बाहर देखा तो नजारा ही कुछ और था। इतने में धड़ाधड़ बारूद फटने लगा, धूम-धड़ाके की तेज आवाजें होने लगीं। पागलों को तो मजा आ गया। वे मस्त हो नाचने लगे। तभी नीचे से आवाज आई—“कूदो, खिड़की से कूद जाओ।”

सुनकर एक पागल बोला—“भागो यहाँ से। क्यों आये हो तुम लोग यहाँ? देखते नहीं सरकार ने हमारे लिए दीपावली का प्रबन्ध किया है। कितनी जोरदार रोशनी की है। बारूद छूट रहा है, पटाके फूट रहे हैं। तुम सब भाग जाओ, हमें मौज मनाने दो, रंग में भंग मत करो।”—सभी पागल नाचने लगे।

कुछ पागल ऐसे भी थे जिनमें कुछ-कुछ समझ शेष थी। वे सीढ़ियों के द्वारा उतरकर बच गये आग से। मौत से बचा लिया उन्होंने अपने आपको।

शेष का जो हाल हुआ उसे कहने की आवश्यकता नहीं है। आप सब समझ ही गये होंगे उन सब की सर्वनाशी दशा को।

□ जल रहा है सम्पूर्ण संसार

बंधुओं ! यह संसार भी एक पागलखाना है, जो राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह-मत्सरता रूप अनेक तरह के दावानल की दाह से धधक रहा है, जल रहा है, सुलग रहा है।

□ संसार-दावानल से रक्षा के लिए आध्यात्मिक सोपान

इस संसार-रूप पागलखाने से बचाने के लिए, दावानल-दाह में जलते हुए प्राणी के लिए शीतल जल की तरह संत-जन जिनवाणी के माध्यम से आपको व्रत-प्रत्याख्यान,

तप-त्याग, वैराग्य-संयम की ओर बढ़ने की निरन्तर प्रेरणा करते हैं पर आप तो उन पागलों की तरह मोहमाया में मस्त डांस कर रहे हैं सांसारिक प्रवृत्तियों में। आप पर वीतराग वाणी, संत-प्रेरणा, निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रभाव जैसे होता ही नहीं है। इन पर्व-दिनों में अपने आपको बदलिए। बचना है संसार के दावानल से तो आध्यात्मिक साधना से अपने को जोड़िए।

□ पर्युषण सन्देश : जीवन को कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष में लाएँ

जिन महापुरुषों पर जिनवाणी का महत् प्रभाव पड़ा, जिन्होंने संसार-दावानल से निकलकर संयम-सर से अपने को सरोबार किया ऐसे ही महापुरुषों के वर्णन इन पर्युषण के आठ दिनों में अंतगड़ के माध्यम से सुनाया जा रहा है। इन आत्माओं ने अपने आत्मिक गुणों को पूर्णतः उजागर कर अपने जीवन के कृष्ण पक्ष को दूर किया व शुक्ल पक्ष में प्रवेश कर विचरण करने लगे।

पर्युषण का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष में होता है पर कुछ ही दिनों के प्रयत्नों से वह कृष्ण से शुक्ल पक्ष में प्रवेश पा जाता है। अपने स्वयं के इस उदाहरण से वह हम सभी को एक महनीय जीवन्त सन्देश सुनाता है। वह सन्देश है—अय अंधकार में भटकने वाले जीवात्मा! अंधकार को त्याग, प्रकाश को अपना। अज्ञान को मिटा, ज्ञान की लौ लगा। कषायों को दूर कर, वीतरागता का दीप जला। विषय-वासना को त्याग, संयम की ज्योति जला। कर्मक्षेत्र से धर्मक्षेत्र में प्रवेश कर, सम्यग्ज्ञानी बन। जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा रख। शुद्ध चारित्र्य धर्म स्वीकार कर एवं दृढ़ता से उसका पालन कर। तप द्वारा पूर्व के कर्मबंधनों को क्षीण कर दे, नष्ट कर दे, जला डाल उन्हें।

कब होगा ऐसा? कृष्ण पक्ष से जीवन शुक्ल पक्ष में कब प्रवेश पायेगा? जब तक संसार में रचे-पचे रहेंगे, बाह्य जागतिक पदार्थों में ममत्व रखेंगे, 'स्व' का लक्ष्य छोड़ 'पर' के 'पराधीन' बने रहेंगे तब तक ऐसा होना संभव नहीं।

बंधुओं! इस संसार के ये नाते-रिश्ते सब स्वार्थ के हैं। आपके पास माया है, धन-माल है, वैभव-सम्पदा है तो सभी आपके हैं। पैसे हों तो बेटे भी सेवा के लिए तत्पर मिलेंगे, पैसा न हो तो मुँह भी नहीं लगायेंगे। दो समय का भोजन आपको खिलाना हो तो उनको भारी लगेगा, खारा लगेगा। उनके स्वार्थ की जब तक आप द्वारा पूर्ति होती है, आपके प्रति उनका स्नेह, राग, ममत्व रहेगा। स्वार्थ को ठेस लगी कि मुँह मोड़ लेंगे, शत्रु

बन जायेंगे, यही तो है कषायों की आग जो अनादिकाल से जल रही है और जीवात्मा उस आग में झुलसा जा रहा है फिर भी सजग नहीं बनता। संत-निर्ग्रन्थ दमकल वाली घंटी बजाते हैं, अर्थात् चेताते हैं कि निकल जाओ, अभी भी समय है। नहीं निकले तो अनंत-अनंतकाल तक भोगना पड़ सकता है।

संतों का काम है कहना, आपका काम है सुनना। करेंगे तो आप वही जो आपका मन चाहेगा, मन कहेगा। जाने आपके मन में परिवर्तन कब आयेगा, कब वह बाहर से अन्दर की ओर मुड़ेगा, अपने को जानने का प्रयत्न करेगा, आत्म-कल्याण का चिन्तन करेगा।

□ चंचल मन पर नियन्त्रण करिए

मन है चंचल। वह किसी एक विचार पर स्थिर बनता नहीं। ज्ञानी कहते हैं—‘मन को स्थिर करो, एकाग्र बनो।’ आप लोग कहते हैं—‘मन कैसे स्थिर करें? यह तो चंचल है। एक क्षण यहाँ, दूसरे क्षण वहाँ। इस मन को स्थिर किया ही नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि मन स्थिर हो गया तो बात मानने में नहीं आती।’

बंधुओं! ज्ञानी जब मन-निग्रह की बात, मन-संयम की बात, मन-नियंत्रण की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य है उसे अशुभ से शुभ की ओर मोड़ो, उसकी गति टेढ़ी है—माया की है तो उसे सीधी करो, अर्थात् मन को सरल-सहज बनाओ। ऐसा करने पर मन कर्मों के बंधन की प्रक्रिया को मिटाकर, कर्मों को काटने वाला बन जायेगा।

□ मन मरा तो कर्म कटे

अनिकसेन आदि छहों सहोदर भ्राता जो अब मुनि बन गये थे, उन सभी ने द्वादशांगी वाणी का अध्ययन, मनन, चिन्तन किया। चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। उत्तम श्रमण-धर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए ज्ञान-ध्यान, तप-संयमादि से आत्म-शुद्धि के लिए जीवन व्यतीत किया। बीस वर्ष तक सभी ने श्रमणधर्म का श्रेष्ठ निर्वहन कर एक मास की संलेखना के साथ शत्रुञ्जय पर्वत पर सभी छहों सहोदर मुनि सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

□ सारण, सुमुख, दुर्मुख, कूपक, दारुक और अनादृष्ट

अंतगडसूत्र के तृतीय वर्ग के तेरह अध्ययनों में ८वाँ अध्ययन गजसुकुमाल मुनि का है। उसका वर्णन आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने बड़ी साधु वन्दना की आगे की

गाथाओं में किया है, अतः उसे हम कल के प्रवचन में लेंगे। आज शेष छह अध्ययन-सारण, सुमुख, दुर्मुख, कूपक, दारुक और अनावृष्टकुमार के आदर्श जीवन पर एक दृष्टि डाल लेते हैं।

ये छह ही राजकुमार थे। सारण, दारुक और अनावृष्ट तो द्वारिका के राजा वसुदेव व रानी धारिणी के पुत्र थे, जबकि सुमुख, दुर्मुख और कूपक द्वारिका के राजा बलदेव और रानी धारिणी के पुत्र थे।

इन सभी की माताओं ने सिंह के स्वप्न देखकर गर्भ धारण किए और पुण्यशाली इन पुत्रों को जन्म दिया। युवावस्था प्राप्त होने पर इन सभी का पचास-पचास राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न किया गया। विवाह में प्रत्येक कुमार को पचास-पचास करोड़ सोनैया आदि का प्रीतिदान मिला।

किसी समय भगवान अरिष्टनेमि के वहाँ पधारने पर एक-एक कर इन छहों कुमारों ने उनका धर्मोपदेश श्रवण किया और दीक्षित बन शुद्ध सर्वविरति चारित्र धर्म का पालन किया। सभी मुनियों ने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। बीस वर्ष तक श्रमणचर्या पाली। सभी ने अंतिम समय में एक-एक मास का संलेखना-संधारा किया और सभी शत्रुञ्जय पर्वत पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

□ आत्म-जागृति से आत्म-शुद्धि तक

बंधुओं ! अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर अन्ततः इन आत्माओं ने परमात्मस्वरूप की प्राप्ति की और जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त किया। हम संत-सती वर्ग और आप श्रावक-श्राविका वर्ग का भी परम लक्ष्य वही है। बढ़ना है सभी को उसी तरफ। पर्युषण महापर्व के ये पावन दिन पुनः-पुनः यही सन्देश देकर आत्म-जागृति लाना चाहते हैं। जागृत बनिए और आत्म-शुद्धि के पथ पर अग्रसर हो जाइए। आत्म-शुद्धि से मोक्ष मिलना सुनिश्चित है और मोक्ष ही शाश्वत सुख है, अनंत आनंद-सिंधु है।

आनंद ही आनंद !



श्री नेमि समीपे, छोड़्यो मोह-जंजाल

(क्षमाश्रमण गजसुकुमाल मुनि)

आत्म-बन्धुओं!

महापर्व का आज तीसरा दिन है। दो दिवस व्यतीत हो गये। समय का काम है आना व चले जाना। भागा जा रहा है समय। व्यतीत हो गया जो वह समय वापस आने वाला नहीं है, अतः अधिक से अधिक समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए। जो ऐसा करते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी पुरुष होते हैं।

हम कहते हैं—“चौबीस घड़ी कर्म की तो एक घड़ी ही निकाल लो उसमें से धर्म की।”

आप कहते हैं—“महाराज! धर्म कठैई भाग्यो थोड़ी जावे है। उमर बाकी पड़ी है, धर्मध्यान तो करणो ही है।”

पर क्या उम्र का कोई निश्चित संकेत है किसी के पास कि इतने वर्ष तो मैं निश्चित ही जीऊँगा। मौत का क्या भरोसा? कहीं भी, कभी भी आ सकती है। यह जीवन नश्वर है। श्वासों का यहाँ क्या ठिकाना, कब रुक जायें? अतः जो कुछ करना है कल पर, उम्र के बचे हुए दिनों पर, वृद्धावस्था पर न छोड़कर जब भी समय मिले धर्म की ज्योत जला लें। करना है सो अभी, आज ही कर लें। किसी कवि ने भी कहा है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।

पल में प्रलय होयगी, फिर करेगा कब?

तर्क-बुद्धि के युग में पलने वाले इस उपदेशी पद को सुनेंगे तो नाक-मुँह सिकोड़ लें शायद, क्योंकि उनके मन में तो मलूकदास कवि के इस दोहे ने अपना महत् प्रभाव जमा रखा है—

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।
जल्दी-जल्दी क्यों करता है, अभी तो जीना बरसों॥

□ तीजे, लोक-पतीजे

पर्युषण जब तक नहीं आये थे, बड़ी प्रतीक्षा थी। सुनने को मिलता था अनेकों के मुँह से कि “पर्युषण आवेला जद आठ ही दिन धर्म ही धर्म करांला, थानक में ईज डेरा दे दे वांला।”

आ गये और बीत रहे हैं दिन। दुनियाँ कहती है—“तीजे, लोक-पतीजे।” पर लगता नहीं है कि पर्युषण के तीजे में धर्मध्यान का लोक पतीजेगा, धर्मध्यान में लोग पतीजेंगे। कुछ करके दिखाइए, धर्म का रंग लगाइये। बच्चों और युवकों को, प्रौढ़ों और वृद्धों को, नर और नारियों को—सभी को रंग लगाना चाहिए, रंग भी गहरा वरना आज तीसरा दिन भी चला जायेगा और कल चौथा दिन आ जायेगा। इसी तरह ये महान् आध्यात्मिक पर्व के दिन कब उगे, कब आथने, कुछ पता ही नहीं चलेगा। आ जायेगी संवत्सरी और तब कहेंगे आप कि “अरे सात दिन चले गये, हमने तो कुछ किया ही नहीं।”

बन्धुओं! तब कुछ करना चाहेंगे तो भी लाभ क्या? वह जो मिलना चाहिए था और मिल भी सकता था वह तो हाथ से निकल ही गया। शेष रहा पश्चात्ताप, कहावत है—“अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।”

संवत्सरी के दिन उपवास, प्रवचन-श्रवण, मुनि-दर्शन, सामायिक, आलोचना, प्रतिक्रमण, क्षमा याचना—ये सभी आवश्यक कर्म हैं आपके लिये। धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक परम्परा है, अतः विवशता है उसे निभाने की। आपको आना ही है, धर्मध्यान करना ही है, वरना लोग क्या कहेंगे? दुनियाँ क्या सोचेगी?

□ सावधान बन जाइए

रामभक्त कवि तुलसीदास ने कहा है—“का बरखा जब कृषि सुखाने।” खेत सूख गये, बीज नष्ट हो गये, अंकुरित पौधे जल गये तब यदि बरसा हो भी तो उसका लाभ क्या? तात्पर्य यह है कि दिन दो ही गये हैं, अब भी सावधान बन जाइए। घर, परिवार, संसार, व्यापार से मन को हटाकर स्थानक, गुरुदेव, धर्मध्यान, जप-तप में रमण कीजिए, मगन बन जाइए। आत्म-रमण ही पर्युषण की सार्थकता है।

अनेक बार हम प्रेरणा देते हैं धर्मध्यान करने की, पर आप यहाँ भी संसार की चर्चा करने लगते हैं। माताएँ व बहनें घर के काम-काज की चिन्ता में हैं और श्रावक जी व्यापार की चिन्ता में। जो वृद्ध हैं, उनसे कहते हैं तो प्रत्युत्तर मिलता है—“महाराज! काँई करां? शरीर में शक्ति ईज कोनी। आंख्या सूं सूजे नहीं, कान सूं सुणिजे नहीं। घांटकी डगमग-डगमग करे।”

बन्धुओं! आप भी जानते हैं कि आप धर्मध्यान से बचने के ये बहाने बना रहे हैं। विवाह-शादी, मौत-मरतंग, जीमण-चूंटण जैसे प्रमाद कार्य हों, होली-दिवाली जैसे पर्व हों तो समय कैसे निकल आता है। सब कार्यों के लिये समय है, शक्ति है, पर धर्म के लिए नहीं, ऐसा क्यों?

वृद्ध हो गये, तन जर्जरित हैं, पर मन! आत्मा!—ये तो कमजोर नहीं हैं। आत्म-बल तो यथावत् है। जानते हैं कितनी शक्ति होती है एक जीवात्मा में? अरे बन्धुओं! प्रत्येक जीवात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन की भण्डार है, अनन्त अव्याबाध सुखों की स्वामिनी है आत्मा, पर उसकी शक्तियों को आपने अशुभ कर्म पुद्गलों के रजकण-दल से आवृत्त कर रखा है। आवश्यकता है आत्मा को जागृत बनाने की।

□ चंचल मन को स्थिर बनाने का अभ्यास कीजिए

पर्युषण के दिनों में कर्मनिर्जरा के लिए तप और त्याग का विशेष महत्त्व है। आपसे कहते हैं तपादि के लिए तो आप प्रत्युत्तर में कहते हैं—“महाराज! उपवास तो मेरे से होता नहीं, आयम्बिल मैं कर नहीं सकता।” तात्पर्य यह है कि आपका मन तपानुष्ठान में नहीं लगता, भूख आप मार सकते नहीं। यह किसकी कमजोरी है? यह कमजोरी है आपकी स्वयं की, आपके मन की, आपके विचारों की। मनीषियों का कहना है—जिनका मन दृढ़ है, मजबूत है, अपनी नहीं अपितु आत्मा की बात को जो मन मानता है, वह मन जिताता है, सिद्धि दिलाता है, अतः मन को दृढ़ बनाइये, जिससे आत्म-शक्ति स्वतः जागृत बन जायेगी और तब कोई भी कार्य दुष्कर नहीं रहेगा। मन कमजोर बन गया तो गये काम से। कहा भी है—

चित चालवे, मन मालवे, हियो हाडोती मांय।
सेज बिछायी आगरे, सूतो दिल्ली जाय ॥

मन की चंचलता पर नियंत्रण करना सीखिए। पर्युषण के इन पर्व-दिनों में घर-परिवार, नाते-रिश्तेदार, सगे-सम्बन्धी, व्यापार-व्यवसाय, धन-माल, तिजोरी, बैंक-बैलेंस आदि को मन से, मस्तिष्क से निकाल दीजिए, भूल जाइये इन्हें और केवल एक बात पर ध्यान रखिये, केवल एक बात याद रखिए—

आत्मा को जाग्रत करना है, मनोबल दृढ़ बनाना है, जीवन को आध्यात्मिक उत्थान की दिशा देनी है।

□ मन कैसे स्थिर हो?

प्रश्न यह है कि मन कैसे दृढ़ बने? चल-विचल मन को कैसे स्थिर-अचल करें? मन तो इतना चंचल है कि लाख मनाओ, मानता ही नहीं; लाख प्रयत्न करो, नियन्त्रण में आता ही नहीं। पूज्य गुरु भगवंत आचार्य श्री लालचन्द्र जी म. सा. फरमाया करते थे कि कोई यदि यह कह दे कि मेरा मन स्थिर हो गया है तो बात मानने में आने जैसी नहीं है। पर कोई पूछे कि मन कैसे स्थिर होगा तो उपाय है—मनोनिग्रह, मन-संयम। मन के अशुभ चिन्तन को शुभ की ओर ले जाइए। टेढ़ी है इस मन की गति, इसे सीधी, सरल गति प्रदान कीजिए। अशुभ योगों से शुभ योगों की ओर गति करने वाला मन ही कर्मवर्गणा के पुद्गलों को मिटायेगा, कर्मबन्धनों को काटेगा, जन्म-मरण का चक्र विच्छेद करेगा।

□ प्रसंग : मन कहे सो मत करना

प्राचीनकाल का एक प्रसंग है। किसी गाँव में कोई जाट कृषि कर्म में मग्न रहते हुये भी भक्ति और भगवान पर चिन्तन करता रहता था। भगवान के अस्तित्व पर उसे अटूट श्रद्धा थी और वह प्रभु-दर्शन की कल्पनाएँ किया करता था, सपने देखा करता था।

एक बार वह जाट अपने विशाल खेत में लहलहाती फसल की पक्षियों और जानवरों से सुरक्षा के लिए पहरा दे रहा था। कभी वह इधर-उधर चारों तरफ देखता, कभी तेज विचित्र आवाजें निकालता तो कभी गोफिन में पत्थर डालकर किसी दिशा में एकत्रित कबूतरों, तोतों या चिड़ियाओं के झुंड को भगाता था। कभी ग्राम के ही शैतान नन्हें-मुन्ने बच्चों को खेत में पसरी बेलों से ककड़ियाँ, मतीरे, काचरे आदि के लिए ललचाते देखता तो उनको दूर से ही चेतावनी दे देता कि “मैं यहाँ हूँ, तुम लोग इस खेत में घुसने की हिम्मत मत करना।”

दिन इसी तरह व्यतीत होते जा रहे थे। फसल पूर्णतः परिपक्वता की दिशा में बढ़ रही थी। जाट अपने पहरे पर प्रतिदिन पूर्ण सजग रहता हुआ फसल की रक्षा कर रहा था। ऐसे में एक दिन उस जाट ने किन्हीं जैन-सन्तों को अपने खेत से सटे पगडंडीनुमा रास्ते पर जाते देखा। श्वेत-वस्त्र, कंधे पर रजोहरण, मुँह पर मुखवस्त्रिका। जाट ने सुन रखा था कि जैनियों के महाराज बड़े त्यागी, तपस्वी, व्रती और ज्ञानी-ध्यानी होते हैं। वह यह भी जानता था कि ये जैन-मुनि जीवनभर नंगे पाँव ही चलते हैं, भले ही रास्ता कैसा भी हो या फिर मौसम नग्न पद-विचरण के योग्य न हो। भयंकर धूप में जब धरती तवे की तरह तप्त और आसमान जैसे अँगारे बरसा रहा हो तब भी वह इन्हें धैर्य के साथ पैदल, नंगे पाँव, बिना जूते-चप्पल के विचरते, चलते, गमनागमन करते कई बार देख चुका था।

आज भी विश्वभर के विभिन्न धर्मों में जैन-सन्तों की जीवनचर्या उनके आचार, नियम और उनकी क्रिया-प्रक्रिया सर्वाधिक कठिन है, जटिल है, दुष्कर है। जैन मुनिजनों का कल्प है कि विहार के मध्य उनकी आचार-संहिता के अनुसार आहार-पानी प्राप्त न हो, तो वे लम्बे समय तक भूखे-प्यासे ही रह जाते हैं। जयगच्छीय श्रुताचार्य स्वामीवर्य श्री चौथमल जी म. सा. ने जैन-सन्तों के बारे में भजन के माध्यम से बहुत ही सुन्दर एवं सटीक परिचय दिया है—

साधु जैन का.....मुखड़ा रे, ऊपर मुखपति बाँधे रे... ॥टेर ॥

पांच महाव्रत पाले मुनिवर, टाले दोषण सारा रे।

सब जीवां ने साताकारी, सो गुरु म्हारा रे... ॥१ ॥

सीयाळा में सीयां मरे पण, धूणी नहीं धुकावे रे।

कारण अग्नि देवता ने, नहीं सतावे रे... ॥२ ॥

उन्हाळा में बींजणा सूं, वायरो नहीं खावे रे।

वायुकाय का जीव वळे, माछर मर जावे रे... ॥३ ॥

हेठे तो आकाश ऊपर, पवन ऊपरे पानी रे।

पानी रे ऊपर है पृथ्वी, सांची मानी रे... ॥४ ॥

तुलसी के नहीं फेरा खावे, पत्तो पिण नहीं तोड़े रे।
 गौ बन्धन में पडियां पीछे, अन-जल छोड़े रे... ॥५॥
 रात पड़्यां अन-जल रो खेरो, मूंडा में नहीं नाखे रे।
 सूई जितरो ही पिण धातु, रात न राखे रे... ॥६॥
 लीलोती रे भेला साधु, भूल कदे नहीं होवे रे।
 विषयां के वश होय नार के, सामो न जोवे रे... ॥७॥
 भांग-धतूरा गांजा रे तो, नेड़ा ही नहीं जावे रे...।
 तन्दूरा परमुख कोई बाजा, नहीं बजावे रे... ॥८॥
 पहर रात गयां के पीछे, ध्यान वा शयन लगावे रे।
 पिण नहीं गाय-बजाय के वे, रात जगावे रे... ॥९॥
 पग उभराणे चाले किंचित्, करडावण नहीं करता रे।
 पर-उपकार के कारणे, दुनियां में फिरता रे... ॥१०॥
 हाथी-घोड़ा-रेल-मोटर की, नहीं करे असवारी रे।
 दूर-दूर देशावर देखे, पाय-विहारी रे... ॥११॥
 बोली तो नहीं बोले ऐसी, खटके जैसी खारी रे।
 अमृत बोली बोल माणे, मोज मजा री रे... ॥१२॥
 गृहस्थ रे घर नेतियोड़ा, जीमण ने नहीं जावे रे।
 निर्दोष-आहार लाय ने, थानक में खावे रे... ॥१३॥
 होली-चौमासो नानणा में, दोय ठाणां सूं आया रे।
 नाथ-शिष्य 'चौथू' पंचाणव, स्तवन बनाया रे... ॥१४॥

जैन निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी की चर्या में ये सारी बातें आती हैं। जाट को इनमें से अनेक बातें ध्यान में थीं। किसी ने कभी उसे यह भी बताया था कि ऐसे त्यागी, वैरागी, धर्मानुरागी सन्तों को स्वयं भगवान दर्शन देते हैं, प्रत्यक्ष में प्रभु उनसे वार्त्ता करते हैं, इस तरह प्रभु का साक्षात्कार होने पर ये दयालु सन्त दूसरों को भी प्रभु-दर्शन का पथ बतलाते हैं।

जाट ने सोचा—‘आज अच्छा अवसर मिला है मुझे। इस सुयोग को अब छोड़ना नहीं चाहिए, इससे लाभ उठाना ही चाहिए।’

उसने नजर उठाकर पगडंडी की ओर दृष्टिपात किया। सन्तों के समूह में से कई सन्त आगे निकल चुके थे। एक तपस्वी वृद्ध सन्त सबसे पीछे धीरे-धीरे चल रहे थे। जाट ने विचार किया—‘ठीक है, मैं भी अकेला और ये भी अकेले। न मुझे कोई देखने वाला और न इन्हें कोई देखने वाला। आस-पास में दूर तक आदमी-जाट की सूरत तक नजर नहीं आ रही है। आज इनसे बात कर ही ली जाये। मालूम तो हो कि इनके बारे में जो इतनी बातें सुनी हैं उनमें कितनी सत्यता है?’

डांग (लाठी) तो हाथ में थी ही। दूरी पर पड़े पैरों के जूतों पर बिना ध्यान दिये चल पड़ा उधर, जिधर सन्त-चरण गतिमान थे। बन्धुओं! प्रभु-दर्शन की, भगवान से मिलने व साक्षात्कार करने की भावना थी उसके मन में। जहाँ ऐसी भावना जाग्रत हो जाती है फिर बाह्य भौतिक सम्पदा और साधन सभी बेमानी हो जाते हैं। जाट के लिए भी पैरों के जूते, उसका खेत, खेत में खड़ी भरपूर लहलहाती पकी हुई फसल, उस फसल की सुरक्षा का भाव आदि सभी जाने कहाँ तिरोहित हो गये। तन का लक्ष्य था—मुनि-चरण ग्रहण और मन का लक्ष्य था—प्रभु से साक्षात्कार।

इसे कहते हैं मनोनिग्रह, मन की एकाग्रता, जहाँ एक विचार ने अन्य सारे विचारों को गौण बनाकर दर-किनार कर दिया, दूर कर दिया। जहाँ ऐसी एकाग्रता जगती है अन्तर् में, फिर वहाँ अन्य कोई विचार न पनप सकेगा, न बाधक बन सकेगा।

वह जाट मुनि जी के सन्निकट पहुँचा। अपने ज्ञान के अनुसार हाथ जोड़कर उसने कहा—“गुरुदेव! वन्दना!”

मुनिवर ने शब्द सुने तो रुक गये। देखा तो वह जाट दिखाई दिया। जाट बिल्कुल निकट आ गया, तो बोला—“महाराज! आप तो जैनियों के सन्त हैं, त्यागी-तपस्वी हैं, ज्ञानी-ध्यानी हैं, प्रभु-भक्ति में पल-पल मगन रहने वाले हैं। मैंने तो सुना है कि आप जैसे त्यागी-तपस्वी महात्माओं को भगवान स्वयं दर्शन देते हैं और आप चाहें तो दूसरों को भी भगवान के दर्शन करा सकते हैं। यह बात सही है या नहीं?”

मुनिवर अभी सोच ही रहे थे कि इसे क्या जवाब दिया जाये तभी मुनिश्री के कुछ कहने से पूर्व जाट स्वयं ही पुनः बोल पड़ा—“आज तो महाराज, केवल ‘हाँ’ कहने से काम नहीं चलेगा। यदि यह बात सही है तो आपको यहाँ मुझे भी भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन कराने होंगे या फिर कह दीजिए कि यह सब झूठ है। कह दीजिए कि हम तो संसार को ठगने के लिए ऐसा कहते हैं। कह दीजिए कि यह सब जो दुनियाँ जैन-सन्तों के बारे में कहती है वह ढकोसला है।”

मुनि जी ने सोचा—‘बड़ा अजीब व्यक्ति है। भगवान से साक्षात्कार करना चाहता है, वह भी यहाँ और साक्षात्कार भी कराना होगा मुझे ! नहीं जानता यह कि आत्मा ही परमात्मा है। उत्कृष्ट भाव हों और आत्म-शुद्धि हो जाये, कर्म विनष्ट हो जायें तो व्यक्ति स्वयं भगवान बन जाये पर यह क्या जाने तत्त्व की बात ? इसको तो जन्म के साथ जो परम्परा प्राप्त हुई है, उसमें भगवान साकार रूप लेकर दर्शन देते हैं। इसकी परम्परा अवतारवादी जो है। खैर कुछ भी हो अभी तो मुझे इसकी जिज्ञासु वृत्ति का उचित समाधान करना है। बुद्धि-बल तो यहाँ काम आने वाला है नहीं, यहाँ तो युक्ति-बल ही उपयुक्त रहेगा।’

कहावत भी है—“नट बुद्धि तो आ सकती है पर जट बुद्धि नहीं आ सकती।”

मुनिश्री को इस तरह मौन देख जाट बोला—“सन्तां! आज तो मैंने निश्चय कर लिया है कि या तो आप ‘ना’ कह दीजिए और आगे बढ़ जाइये अन्यथा मुझे प्रभु-दर्शन करा दीजिए। इसके बिना मैं आपको आगे नहीं बढ़ने दूँगा।”

सन्त विचारों की उधेड़बुन में उलझ गये। जाटों की गति और मति से वे अच्छी तरह परिचित थे। समझ गये कि उपदेश तो व्यर्थ है यहाँ। अक्ल की चाबी को घुमाने से ही यह मान सकेगा। जैसा आगे व्यक्ति है, व्यवहार भी वैसा ही होना आवश्यक है।

सन्त ने जाट के खेतों की ओर संकेत करके जाट से पूछा—“क्या ये खेत तुम्हारे हैं?”

जाट—“हाँ! ये तो मेरे ही हैं।”

सन्त—“तुम अपने खेतों पर ही रहते हो?”

जाट—“नहीं! मैं तो गाँव में रहता हूँ, पर जब खेती का काम होता है तो यहाँ भी रहना पड़ जाता है। फसल पक रही होती है, तब उसकी सुरक्षा के लिए भी यहाँ रहता हूँ।”

सन्त—“ये खेत कब से तुम्हारे हैं?”

जाट सन्त के प्रश्नों से कुछ झल्ला गया था, अतः वह सन्त से बोला—“आप मेरे प्रश्न को टालकर मुझे इधर-उधर की बातों में उलझाना चाहते हैं, पर मैं इस तरह छलावे, भुलावे या बहकावे में आने वाला नहीं हूँ। अरे महाराज ! मैंने इतनी उम्र जी है। धान खाया है मैंने, धूल नहीं फाँकी है। इतना घुमा-फिराकर मना करेंगे इससे तो अच्छा है कि सीधा ही मना कर दें।”

सन्त—“भोले भगत ! जरा धीरज रख, न तो यह छलावा है, न भुलावा। मैं तुम्हें क्यों उलझाऊँगा ? मैं तो तुम्हारे ही प्रश्न का समाधान कर रहा हूँ। हाँ, तो मैं पूछ रहा था कि ये खेत कब से तुम्हारे हैं?”

जाट—“ये तो पीढ़ियों से हमारे हैं। मेरे पूर्वजों की सम्पत्ति हैं ये। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बाप के खेतों पर बेटे का अधिकार होता रहा है।”

सन्त—“तुम्हारे खेत के पास से ये जो दो मार्ग जा रहे हैं, क्या ये दोनों एक ही ग्राम को ले जाते हैं?”

जाट—“नहीं तो, दोनों ही दो अलग-अलग ग्रामों की ओर जाते हैं।”

सन्त—“इन गाँवों की ओर अनेक लोग जाते होंगे?”

जाट—“खूब लोग जाते हैं।”

सन्त—“उनमें से कई ऐसे भी होंगे जो रास्ता नहीं जानते हों। वे तुमसे पूछते भी होंगे कि अमुक ग्राम के लिए कौन-सा रास्ता है?”

जाट—“हाँ, हाँ! पूछते हैं कई यात्री और मैं उन्हें बताता भी हूँ। जब जानता हूँ तो क्यों न बताऊँ?”

सन्त बोले—“कैसे बताते हो? संकेत से, दिशा-निर्देश से या स्वयं उनके साथ गन्तव्य तक जाकर?”

जाट बोला—“महाराज! कितनी भोली बात कर दी आपने! साथ भला कौन जायेगा? ठेठ उनके गाँव की सीमा तक उन्हें पहुँचाने जाना मूर्खता है। काम से खोटी होना, समय गँवाना, पैर दुःखाना—मतलब ही क्या? कोई उनका गुलाम या उनके बाप का जर-खरीद नौकर तो नहीं मैं, जो उनका हाथ पकड़कर उनको उनके गाँव तक पहुँचा दूँ। मैं तो यहीं खड़ा-खड़ा संकेत से बता देता हूँ कि अमुक गाँव जाना है तो दायीं तरफ से जाना और अमुक गाँव के लिए जाना हो तो बायीं तरफ से।”

सन्त तो इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। जो वे चाहते थे, वही बात जाट के मुँह से बाहर प्रकट हो गई थी। बोले—“भगत! हम सन्त भी तुम्हारे नौकर तो नहीं हैं, जो यहाँ खड़े-खड़े तुम्हें भगवान के दर्शन करा दें। हाँ! तुम्हें रास्ता हम बता सकते हैं। संकेत दे सकते हैं कि जीवन को अमुक तरह से बनाओ। तुम यदि उस रास्ते पर दृढ़ता से चलोगे, जीवन-व्यवहार जैसा हम कहें वैसा बनाओगे तो भगवान के दर्शन की तो बात ही क्या, तुम स्वयं ही भगवान बन जाओगे।”

जाट बोला—“वाह, वाह महाराज ! ऐसा हो जाये तो फिर कहना ही क्या? न घर-परिवार पालने का झगड़ा, न खेती-बाड़ी करने का झंझट। कोई काम नहीं, कोई मेहनत नहीं। फिर तो अच्छा-सा एक मंदिर देखकर, वहाँ स्थापित हो जाऊँगा। भगत ही भगत आँगे मेरे दर्शन के लिए। मेरी पूजा होगी। भक्त खूब प्रसाद चढ़ायेंगे।”

सन्त—“नहीं भाई, नहीं! मंदिर में विराजमान मूर्ति जैसा भगवान मैं तुम्हें नहीं बनाऊँगा। मैं तो तुम्हें ऐसा भगवान बनाऊँगा कि वैसा बन जाने पर न तुम्हें भूख लगेगी न प्यास, न तुम्हारा पुनः जन्म होगा, न पुनः मरण, न तुम्हें कोई रोग होगा न शोक, न तुम वृद्ध बनोगे न किसी से भयभीत बनोगे। तुम्हारे सारे दारिद्र्य, सारे दुःख मिट जाएँगे।”

जाट—“इतना सब हो जाये तो फिर क्या चाहिए महाराज! आप तो शीघ्रता करो। जल्दी से जल्दी मुझे भगवान बनाओ।”

सन्त—“ज्यादा उतावलापन मत कर भाई! प्रभु बनने का वह पथ बहुत लम्बा है, बड़ा कठिन है।”

जाट—“आप चिन्ता मत करो महाराज! मैंने खूब देशी घी खाया है। मैं कोई ऐसा-वैसा निर्बल व्यक्ति नहीं हूँ। चलने की क्या, खूब दौड़ लगाने योग्य शक्ति है मुझमें। मार्ग बताओ आप, चलने में मैं दृढ़, मजबूत, हिम्मत न हारने वाला हूँ।”

सन्त ने कहा—“भाई! आज से तू संसार के सारे काम कर लेना, पर एक बात का ध्यान रखना।”

जाट—“कैसी बात, कौन-सी बात?”

सन्त—“मन कहे वह मत करना, आत्मा कहे वह करना।”

जाट—“अच्छी बात है महाराज! मैं ऐसे ही करूँगा। मुझे भगवान तो मिल जाएँगे?”

सन्त—“भाई! हम जैन-सन्त कभी असत्य भाषण नहीं करते। मैंने कहा, दृढ़ता से वैसा ही किया तो निश्चित ही तुम स्वयं भगवान बन जाओगे।”

बन्धुओं! सन्त ने पथ बता दिया और जिधर जाना था उस दिशा में विचरण कर गये। जाट जाते हुए सन्त को देखता रहा, तब तक देखता रहा, जब तक कि दृष्टि से ओझल नहीं हो गये।

जब सन्त आँखों से ओझल हो गये तो जाट का मन चंचल बन कहने लगा—‘अब यहाँ क्यों खड़ा है? चल खेत में। वहाँ पशु-पक्षी खेती को हानि पहुँचा रहे हैं।’

तभी चिन्तन में आया—‘नहीं! महाराज ने कहा है मन जो कहे वैसा नहीं करना। मैं खेत पर नहीं जाऊँगा।’

वह वहीं खड़ा रह गया। मन में अनेक विचार आते, पर वह उन्हें झटक देता। एक घण्टा बीत गया, वह खड़ा रहा। दो घण्टे बीत गये, वह वहीं खड़ा रहा। तीन घण्टे बीत गये तो मन ने कहा—‘भूख लगी होगी, प्यास लगी होगी। चल कुछ खा-पी लें, पर तभी वही चिन्तन—मन कहे जो नहीं करना है।’

मन ने कहा—‘खड़े-खड़े थक गया है, बैठ तो जा’, पर जाट तो जाट ठहरा। अड़ बुद्धि में जो बात ठहर जाये, पर वह पत्थर की लकीर। एक तेली ने किसी जाट को कह दिया—“जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट।” जाट ने भी कह दिया—“तेली रे तेली, तेरे सिर पर घाणी।” तेली ने सुना तो बोला— “जाट भाई, तुकबंदी जुड़ी नहीं।”

जाट बोला—“तेली भाई ! नहीं जुड़ी तो नहीं जुड़ी पर तुम बोझे से तो मरोगे ही ।” तो यही जाट-बुद्धि यहाँ काम कर गई। मन के कहने पर वह बैठा नहीं, खड़ा रहा।

संध्या घिर आयी। पैर पर चींटियाँ, कीड़े-मकोड़े चढ़ने लगे। इस पर मन ने कहा—‘मेरे कहने पर खेत में नहीं गये, बैठे भी नहीं, खाया-पिया भी नहीं, पर अब इन कीड़े-मकोड़ों को तो हटाओ।’

जाट का तो संकल्प दृढ़ था फिर क्यों हटाता। नहीं हटाये। और अधिक दृढ़ता आ गयी। महाराज कह गये हैं—मन कहे सो नहीं करना।

वेदना हुई, वेदना बढ़ी, वेदना की तीव्रता और बढ़ने लगी। कभी वे दिन थे जब वेदना होती तो वेदना दूर करने के लिए उपाय किये जाते थे और उन उपायों के कारण कर्मबन्धन होते थे, पर आज...! आज तो ज्यों-ज्यों वेदना तीव्र होती, उसकी सहनशीलता बढ़ती जाती। ज्यों-ज्यों सहनशीलता बढ़ती, त्यों-त्यों कर्मबन्धन हटते जा रहे थे। चिन्तन चला—‘ये तो काट ही रहे हैं, मैंने तो न जाने कितने-कितने जीवों की हत्या की है। हल चलाते हुए कितने जीव मरे होंगे? गोफण से कितने जीवों को घात-आघात पहुँचाया होगा? कितनी बार कचरा एकत्र कर उसे दियासलाई दिखाई, आग में कितने प्राणियों का घमासान हुआ होगा?’

अन्तःकरण में पश्चात्ताप की धारा का प्रवाह तीव्र हो उठा। उसके कर्मबन्ध हल्के होने लगे। वह गुणों की श्रेणियाँ चढ़ने चला। उधर उसके पाँवों से, जाँघों से खून की धाराएँ बहने लगीं। खून की सुगन्ध निकट से निकल रहे शृगालों को मिली तो वे सूँघते हुए उधर आ पहुँचे। चाटने लगे, स्वाद मिला तो काटने लगे, माँस नोंचने लगे। जाट दृढ़, उसकी मानसिक चिन्तन की धारा ऊर्ध्ववर्ती होती गयी। माँस शृगाल खा रहे हैं, रात्रि व्यतीत हो रही है। सूर्योदय का समय, अंधकार को खाने प्रकाश आने लगा तभी चढ़ती हुई परिणामों की श्रेणी में जाट ने अनन्त प्रकाश पा लिया। उसे केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। इधर आयुष्य समाप्ति के क्षण थे। आयुष्य समाप्त हुआ, प्राण निकले, चेतन जी सिद्धशिला पर जा विराजमान हुए।

बन्धुओं! महापुरुष बनते हैं अपने मन की दृढ़ता से, मन के अशुभ से शुभ में परिवर्तन से। बाह्य मन जब सांसारिक प्रवृत्तियों में नाचना, भटकना चाहता है तब अन्तर्

मन (आत्मा) उसे सावधान करते हुए कहता है—“संसार से निकलो, व्रत-प्रत्याख्यान करो, संयम रखो, संयम (चारित्र) का पालन करो।” बाह्य मन कहता है—“छोड़ो व्रत, संयम, नीति। मौज, ऐश करो। करोड़ों कमाओ। पास में धन-माल होगा तो प्रतिष्ठा बढ़ेगी, मान-सम्मान प्राप्त होगा।” अन्तर् मन कहता है—“यह प्रतिष्ठा झूठी है, यह मान-सम्मान अस्थिर है। करोड़ों का धन अनीति से कमाते हो, पर धन तो पास रहेगा नहीं; हाँ, अनीति से कमाये पापकर्म का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ेगा।”

वसुदेव व देवकी के नन्दन, श्रीकृष्ण के भ्राता बाल गजसुकुमाल ने मन की दृढ़ता के साथ आत्मा के स्वरूप को एक ही दिन में प्राप्त कर लिया। खेलने और भोगने की आयु में पहुँचते-पहुँचते वे योगी बनकर मोक्ष में जा विराजमान हुए। अन्तगड़सूत्र के तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में वर्णित उन्हीं महापुरुष को एकभवावतारी पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी ‘बड़ी साधु-वन्दना’ में अन्तर् की समस्त गहराइयों के साथ भाव-वन्दन करते हुए कहा है—

वसुदेव ना नन्दन, धन-धन गजसुकुमाल ।
 रूपे अति सुन्दर, कलावन्त वय बाल ॥६२॥
 श्री नेमि समीपे, छोड़्यो मोह-जंजाल ।
 भिक्षुनी पडिमा, गया मसाण महाकाल ॥६३॥
 देखी सोमिल कोप्यो, मस्तक बांधी पाल ।
 खेरा नां खीरा, सिर ठविया असराल ॥६४॥
 मुनि नजर न खंडी, मेटी मन नी झाल ।
 परीषह सही ने, मुक्ति गया तत्काल ॥६५॥

□ महारानी देवकी का चिन्तन

कल के प्रवचन में आपने अनीकसेन आदि जिन छह सहोदर भ्राताओं का वर्णन सुना, भगवान अरिष्टनेमि के वे छह ही अन्तेवासी शिष्य दीक्षा-दिवस से ही प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर बेले-बेले की तपस्या करने लगे। कितने ही समय पश्चात् जब प्रभु का पुनः द्वारिका में पदार्पण हुआ तो पारणे के एक दिन ये छहों सहोदर मुनि दो-दो के तीन

संघाड़ों में प्रभु-आज्ञा प्राप्त कर भिक्षार्थ निकले। उनमें से एक संघाड़ा द्वारिका नगरी के ऊँच-नीच-मध्यम कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए महारानी देवकी के राजभवनों में पहुँच गया। देवकी रानी ने अत्यन्त हर्षित हो विधियुक्त वन्दना कर उनका सत्कार-सम्मान करते हुए अपनी भोजनशाला से उन्हें वासुदेव कृष्ण के प्रातःकालीन नाश्ते के लिए बने सिंहकेसरी मोदकों का एक थाल भरकर बहराया।

संयोगवश पहले संघाड़े के जाने के पश्चात् दूसरा संघाड़ा भी उसी प्रकार भिक्षार्थ भ्रमण करते देवकी रानी के राजमहलों में पहुँचा। रानी देवकी ने उन्हें भी अत्यन्त हर्षित भाव से विपुल मात्रा में सिंहकेसरी मोदक बहराए।

संयोग की बात कि तीसरा संघाड़ा भी दूसरे के जाने के पश्चात् वहीं पहुँचा। महारानी देवकी ने हर्षित हो उन्हें भी एक थाल भरकर सिंहकेसरी मोदकों से प्रतिलाभित किया। जब तीसरा संघाड़ा आहारदान लेकर जाने लगा तो महारानी देवकी ने पूछा—“भन्ते! क्या कृष्ण वासुदेव की बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी इस द्वारिका नगरी में आप श्रमणों को गृह-समुदायों से कहीं से भी भिक्षार्थ आहार-पानी नहीं प्राप्त हुआ जिससे कि आप दोनों को पुनः-पुनः भिक्षार्थ एक ही कुल में आना पड़ा।”

बात यह थी कि ये छहों सहोदर मुनि समान वय, समान रूप-लावण्य, समान कद, अर्थात् सभी एक-दूसरे के बिल्कुल समान दीखने वाले थे। देवकी ने सोचा कि एक ही संघाड़ा तीन बार भिक्षार्थ आया है, जबकि ऐसा था नहीं।

तीसरे संघाड़े ने रानी देवकी के मुँह से जब यह बात सुनी तो बोले—“देवानुप्रिये! कृष्ण वासुदेव की द्वारिका के गृह-समुदायों में श्रमण-निर्ग्रन्थों को आहार-पानी प्राप्त नहीं होता, ऐसी बात नहीं है और न ही हम बार-बार भिक्षार्थ आये हैं, क्योंकि मुनि लोग आहार-पानी हेतु किसी एक ही घर में एक ही समय में एक बार से अधिक नहीं जाते। वस्तुतः हम छह सहोदर भ्राता भद्रिलपुर नगर के नाग गाथापति के पुत्र और सुलसा भार्या के आत्मज समान आकृति, समान वय, समान रूप-लावण्य वाले अर्हन्त अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो बेले-बेले का तप करते हुए प्रभु के साथ ही द्वारिका आये और पारणे के दिन आज दो-दो मुनियों के तीन संघाड़ों में भिक्षार्थ निकले हैं। संयोग से तीनों संघाड़ों ने आपके यहाँ से भिक्षा प्राप्त की, पर हम इस बात से अनभिज्ञ हैं कि हमारे अलावा

दूसरे दो संघाड़े भी यहाँ भिक्षार्थ आ चुके हैं। ऐसे ही दूसरे संघाड़े को पहले संघाड़े के आने की बात ज्ञात नहीं थी। पहले जो दो आये वे अन्य थे, दूसरे दो भी अन्य और हम दोनों उन चारों से अन्य हैं।” इस प्रकार मुनि-द्वय ने शंका का समाधान किया और वहाँ से चले गये।

रानी देवकी ने मुनियों के मुख से यह बात सुनी तो वह अचम्भित और चिन्तित हो गयी। उसे स्मरण हो आया कि पोलासपुर नगर में मुनि अतिमुक्तकुमार ने मेरे समक्ष मेरे बचपन में भविष्यवाणी की थी कि हे देवकी ! तुम परस्पर एक-दूसरे से पूर्णतः समान आठ पुत्रों को जन्म दोगी जो नल-कूबर के समान होंगे और इस भरत क्षेत्र में दूसरी कोई माता वैसे पुत्रों को जन्म नहीं देगी।

रानी देवकी ने सोचा—‘क्या उन महापुरुष की वाणी मिथ्या सिद्ध हुई ? यदि ये छह मुनि नाग गाथापति और सुलसा के पुत्र हैं तो निश्चित ही वह मुझसे अधिक सौभाग्यशाली माता हैं, पर मुनि की बात तो मिथ्या नहीं होनी चाहिए! समाधान कौन करेगा ? चलूँ, अरिहन्त अरिष्टनेमि प्रभु के चरणों में अपनी समस्या, अपनी कथा, अपनी व्यथा रखूँ।’

□ प्रभु द्वारा समाधान

रानी देवकी जाती है प्रभु-चरणों में, वन्दन-नमन करती है उन्हें। प्रभु उसे देखकर उसके मन की सारी बात उसके समक्ष प्रकट करते हुए पूछते हैं कि क्या तुम इसी समस्या का समाधान पाने आयी हो ? देवकी के स्वीकार करने पर प्रभु समाधान करते हुए बताते हैं कि सुलसा जब बाल्यावस्था में थी तो किसी निमित्तज्ञ ने कहा—“यह बालिका मृत पुत्रों को जन्म देने वाली होगी।” निमित्तज्ञ की यह बात सुन सुलसा ने बालपने से ही हरिणगमैषी देवता की आराधना प्रारम्भ कर दी। वह देव उसकी पूजा, अर्चना, आराधना से अत्यन्त हर्षित, प्रसन्न, मुदित हुआ।

वही देव सुलसा की शादी हो जाने के पश्चात् तुम्हें और सुलसा को एक ही समय ऋतुमति (रजस्वला) बनाता और तब तुम दोनों एक साथ गर्भ धारण करतीं, समकाल में बालक उत्पन्न करतीं। सुलसा के मृत पुत्र होते लेकिन उस पर अनुकम्पा कर हरिणगमैषी देव उसके मृत पुत्रों को तुम्हारे पास रख देता और तुम्हारे जीवित पुत्रों को सुलसा के पास।

अतः वास्तव में हे देवकी! जिन छह सहोदर मुनि-पुत्रों की बात तुम कर रही हो, वे तुम्हारे ही पुत्र हैं, सुलसा गाथापत्नी के नहीं। देवकी प्रभु मुख से यह रहस्योद्घाटन सुन अत्यन्त हर्षित-प्रफुल्लित हुई और वहाँ गई जहाँ वे छह सहोदर भ्राता-मुनि विराजमान थे। उन्हें अपने पुत्रों की दृष्टि से देखते हुए उसके हृदय में पुत्र-प्रेम का झरना बहने लगा। उन्हें वन्दन करते हुए उसके स्तनों से दुग्ध की धाराएँ प्रवाहित होने लगीं, अत्यन्त हर्ष के कारण शरीर फूल गया और कंचुकी के बन्धन टूट गये, उसका रोम-रोम पुलक उठा। वह एकटक बिना दृष्टि हटाये कितने ही काल तक उन मुनियों को निर्निमेष निरखती रही।

□ महारानी देवकी का विलाप

प्रभु के श्रीमुख से यह सब सुन महारानी देवकी कुछ समय हर्षित, प्रफुल्लित, मोहित-सी रहीं, पर प्रभु को तथा अन्य मुनि भगवन्तों को वन्दन-नमन कर वे जब पुनः अपने प्रासाद में आईं तो समय के अन्तराल के साथ हर्ष-भाव तिरोहित होता गया, उदासी का आवरण मन के परदे पर छाने लगा। विचार आया उसे कि सन्तानवती होकर भी मैं तो निःसन्तान ही रही। उसका मन विलाप करने लगा। उसके अन्तर् में पागल-मन का प्रलाप फैलने लगा। कवि-गीतकार मुनि श्री अमीरिख जी म. सा. ने उसके मन के उस प्रलाप को बहुत ही दर्दभरे शब्दों में सँजोया है—

इम झूरे देवकी राणी,

या तो पुत्र बिना विलखाणी रे, इम झूरे..... ॥

मैं तो सातों ही नन्दन जाया, पर एक न गोद खिलाया रे..... इम झूरे.....

(पूरा गीत परिशिष्ट भाग में देखें)

बन्धुओं! ऐसा करुणार्द्र करने वाला प्रलाप था उस महनीया मातृ-हृदय का। सोचती है वह कि मैं सात-सात महनीय पुरुषों की माता हूँ, पर कितनी अभागी, कितनी हीनपुण्या ! मेरे छह पुत्र सुलसा के घर में बड़े हुए, उसी ने उन्हें गोद में खिलाया। सातवें नन्दन कृष्ण को भी कंस के भय से मेरी गोद से उठाकर यशोदा की गोद में नन्दगाँव भेज दिया। मैं तो एक को भी अपनी गोद में लेकर लालन-पालन करने से वंचित रही। न पिला सकी, न ही खिला सकी। अब भी कृष्ण को मेरे लिए कहाँ समय? वह भी यहाँ

आता है तो छह-छह महीनों बाद और वह भी केवल नमन करने, प्रणाम करने, अभिवादन करने। वह आर्त्तध्यान करते हुए कहती है—

घर पालणो नहीं बंधायो, नहीं मधुर हालरियो गायो रे ॥

इम झूरे देवकी राणी..... ॥

माताएँ अपनी सन्तानों के लिए कितने काम करती हुई अपने वात्सल्य-भाव की पूर्ति करती हैं। बालक कुछ बड़ा होता है तो उसके लिए झूला तैयार कराती हैं, पालणा बनवाती या मँगवाती हैं। उसमें उन्हें सुलाकर झूला देती हैं और झुलाते हुए मधुर-मधुर स्वर में अनेक राग अलाप कर हालरिया गाकर उन्हें निद्रावस्था में पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं। बस, विश्व में मैं ही एक ऐसी भाग्य की मारी माता हूँ, जिसे अपनी ऐसी महान् सन्तानों को सुलाने, उनके लिए पालणा बँधाने और उन्हें गाकर मधुर हालरिया सुनाने का अवसर नहीं मिला। माता देवकी विचारों ही विचारों में सोचती जाती हैं—

घुंघरा चूखनी न बसाई, झूमर पिण नहीं बंधाई रे ॥

नहिं गहणा कपड़ा पहिनाया, नहिं झगल्या टोपी सिलाया रे ॥

नहिं काजल आंख लगायो, नहिं स्नान करीने जिमायो रे ॥

नहिं गले दामणा दीधा, बलि चांद-सूरज नहीं कीधा रे ॥

इम झूरे देवकी राणी..... ॥

‘न तो मैंने अपने पुत्रों के पैरों या कमर में घुँघरू बँधाए, यदि बँधाती तो उन छोटे-छोटे पैरों के इधर-उधर पड़ने से छुनछुनाछुन की ध्वनि सुनकर प्रसन्न होती। मैंने किसी को चूखनी मुँह में नहीं दी, झूमर नहीं बँधाई, झगला-टोपी नहीं सिलवाई, गहने-कपड़े भी नहीं पहनाए। काजल-टीकी लगाने का आनन्द, स्नान कराने और उन्हें खाना खिलाने का सुख भी मैंने प्राप्त नहीं किया। नजर न लगे बच्चों को, अतः माताएँ बच्चों के गले में कौड़ी, पैसा आदि मंत्रवाकर, डोरे में पिरोकर बाँधती हैं पर मैं कैसे और किसके बाँधती? मेरे पास तो कोई बाल-रूप में रहा ही नहीं।’

नहीं स्तन-पय-पान करायो, रुठा ने नहिं मनायो रे ॥

म्हें तो कडियां नहीं उठायो, नहिं अंगुलि पकड़ चलायो रे ॥

घू-घू कर नाहिं डरायो, नहीं गुदगुल्या पाड़ हंसायो रे ॥
 नहीं मुख पे चूम्बा दीधा, नहीं हरष वारणा लीधा रे ॥
 नहीं चक्री भंवरा मंगाया, नहीं गुलिया गेंद बसाया रे ॥
 इम झूरे देवकी राणी..... ॥

बाल-रूप में कोई मेरे पास रहता, मैं उनकी बाल-क्रीड़ा देखती तो कैसा सुख प्राप्त होता? मैं अपने स्तनों से उनको दुग्धपान कराती तो मेरा मातृत्व सफल बन जाता। कोई मुझसे रूठता तो मैं उसे अनेक तरह से मनाती, पर ऐसा नहीं हुआ। मैं किसी को उठाकर, कमर में उसे लेकर इधर-उधर नहीं फिरी। शुरू-शुरू में चलना सिखाती हूँ माताएँ। उनकी अँगुलि पकड़ती हूँ। बच्चे भी कुछ देर चलते हैं, गिरते हैं फिर अँगुलि पकड़ते हैं, फिर चलते हैं, पर मेरे भाग्य में यह सब था ही नहीं। स्पष्ट है मातृत्व के सुख की दृष्टि से मैं पूर्ण अभागी ही रही। मातृत्व का सुख मेरे कर्मों में होता तो बालक के शैतानी करने पर मैं उसे थोड़ा डराती। कभी मूड़ बनता तो उसके गुदगुदी करती ऐसी कि वह खिलखिलाकर हँस देता। मैंने तो प्यार से कभी उनको चूमा तक नहीं और न प्रसन्नतापूर्वक उनको बधाया कि शाबाश ! कितनी बहादुरी बताई है तुमने? उनकी प्रसन्नता के लिए मुझे कभी घनचक्कर की तरह थिरकने-फिरने-चक्कर लगाने वाली फिरकी ही मँगाकर उन्हें देने का अवसर नहीं आया और न गेंद-गुल्ली देकर रमाने-खिलाने का।

म्हे जन्म तणा दुःख देख्या, गया निफल जन्म अलेख्या रे ॥
 मैं अभागण पुण्य न कीधा, तिण थी सुत बिछाड़ा लीधा रे ॥
 गले बे हाथ नजर है धरती, आँखें आँसू भर झरती रे ॥
 इम झूरे देवकी राणी..... ॥

पग वन्दन किसन पधारे, मांजी ने उदास निहारे रे ॥
 कहे अमीरिख किम दुख पावो, माताजी मुझे फरमावो रे ॥

महारानी देवकी अपने जन्म को व्यर्थ, निष्फल मानती हुई सोच रही हैं कि जिस माता ने अपने पुत्रों के साथ बाल-क्रीड़ाएँ नहीं कीं, उसका मनुज जन्म किसी लेखे में, किसी गिनती में नहीं है। आज मुझे अनुभव हो रहा है कि मैं तो जन्म से ही दुःख पा रही हूँ, कष्ट भोग रही हूँ।

कारण तो निश्चित है, पूर्वभवों में मैंने पुण्यार्जन नहीं किया। संचित पुण्यकोष के अभाव में सुख कहाँ से मिले? पुण्य नहीं है मेरे बैलेंस में तभी तो मेरे उदर में गर्भस्थ शिशुओं से भी मेरा बिछोह हो गया।

इस तरह के आर्त्तध्यान में उलझी, अनेक तरह के संकल्प-विकल्प करती, मन ही मन असह्य दुःख अनुभव करती हुई महारानी देवकी गले पर दोनों हाथ टिकाए, उदासीन मुद्रा में, धरती की ओर आँखें गड़ाये बैठी हैं। उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहमान है।

बन्धुओं! ऐसे ही समय में संयोगवश कृष्ण महाराज मातृ-पद वन्दन हेतु महलों में आते हैं और देखते हैं माता को अश्रु बहाते हुए उदास मुद्रा में। होठों ही होठों में बुदबुदाते हुए सोचते हैं—‘आज तक कभी यह स्थिति नहीं आयी, आज मातृश्री को हुआ क्या है?’

पूछते हैं माता से—“मातृश्री! यह मैं क्या देख रहा हूँ? आपकी आँखों में आँसू? क्या कष्ट है आपको? किस पीड़ा ने आपके मन को वाष्पित कर दिया है? किसकी हिम्मत हुई है आपको पीड़ा पहुँचाने की? क्या किसी ने कोई कटु बात कही है? क्या कोई अन्तर्-मन को झकझोरने वाला सन्देश आया है? बताइये आप मुझे! मेरे होते हुए यदि इन आँखों में आँसू टपकते हैं तो मेरा जन्म क्या काम का?”

महारानी देवकी ने कहा—“वत्स! छह मुनियों के प्रसंग ने मुझे अत्यन्त व्यथित बना दिया है। ऐसे सुन्दर, सुदर्शनीय मेरे पुत्र और मैं उनको जन्म देने, मातृ-वात्सल्य प्रदान करने, उनकी बाल-क्रीड़ाओं का आनन्द लेने से वंचित रही ! हाय रे मेरे दुर्भाग्य ! एक तुम हो तो तुम भी कहीं और पले-पोसे, खेले-कूदे, बड़े हुए। अब भी कहाँ समय है तुम्हारे पास इस दुःखी हृदया की व्यथा-कथा सुनने का? छह माह में एक बार आते हो, नमन करते हो, चले जाते हो। क्या ऐसी अभागी माता और कोई हुई होगी?”

एक कवि ने माता देवकी के पुत्र-वात्सल्य की पूर्ति निमित्त जो कल्पना की है उसके अनुसार कृष्ण ने माता की व्यथा को पहचाना तो तुरन्त अपनी लब्धि की शक्ति से अपना बाल-रूप बना लिया और रोने लगे। देवकी एकबारगी तो अचम्भित हुई पर

बालक को जोर-जोर से क्रन्दन करते देखा तो झपटकर उठी, बच्चे को गोद में लिया, पुचकारने लगी। बच्चा कुछ देर रोता रहा, रोना बन्द किया तो बोला—“भूख लगी है, दूध पीऊँगा।”

माता देवकी ने दासी को बुलाकर दूध लाने को कहा। दूध आया। देवकी महारानी ने अपने हाथों से उसे दूध पिलाना आरम्भ किया। बाल-रूप बनाये कृष्ण ने एक घूँट लिया और मुँह में भरा वह दूध का घूँट देवकी के कपड़ों पर उड़ेलते हुए बोले—“फीका है, मैं नहीं पीता।”

बन्धुओं! दासियाँ दौड़ीं, शक्कर ले आर्यीं। देवकी ने शक्कर डाली। कृष्ण बोले—“और शक्कर!” देवकी ने फिर शक्कर डालकर दूध हिलाया और उसे कृष्ण को पिलाने लगी तो कृष्ण फिर बोले—“और शक्कर!” मिलाई गई और शक्कर! बालहठ जो ठहरा। दुनियाँ में तीन हठ प्रसिद्ध हैं—राजहठ, त्रियाहठ और बालहठ।

बालकृष्ण कहते रहे, देवकी शक्कर डालती रही। तब कृष्ण ने दूध पीना शुरू किया। एक घूँट भरा और बोले—“इतना मीठा।”

देवकी बोली—“तुम्हीं ने तो बार-बार शक्कर डलवाई है। अब जैसा है, पीओ।”

कृष्ण बोले—“ऊँ... हूँ...। मैं नहीं पीता। इसमें से शक्कर वापस बाहर निकालो।”

महारानी देवकी ने बहुत समझाया कि “शक्कर दूध में डालने के बाद उसे बाहर नहीं निकाली जा सकती, दूसरा दूध मँगवाती हूँ।”

कृष्ण ने मना कर दिया। अड़ गये कि इस दूध से शक्कर बाहर निकालो। देवकी ने बहुत मनाया पर वे रोने लगे। ज्यों-ज्यों देवकी मनाती, वे और जोर से रोते। चिल्लाने लगे कृष्ण। इस तरह रोए, इतने जोर से चीखे-चिल्लाये कि देवकी को कानों के आगे हाथ रखना पड़ा। इस पर भी कृष्ण माने नहीं। रोने-चीखने-चिल्लाने के साथ शैतानी पर उतर आए। चीजों को, जो भी उनके हाथों की पहुँच के भीतर थीं, उन्हें उठाकर फेंकना प्रारम्भ कर दिया। देवकी महारानी बहुत परेशान हुई। कृष्ण ने जब देखा कि वे पूरी तरह परेशान हो चुकी हैं तो अपनी लब्धि समेटकर पुनः अपने यथार्थ रूप में आ गये और बोले—“मातुश्री! आपके मन को कुछ सन्तुष्टि मिली?”

महारानी ने कहा—“वत्स! ओस चाटने से आज तक क्या किसी की प्यास बुझ सकी है? तुम्हारा यह प्रयत्न एक माता के हृदय की व्यथा को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होगा। कारण कि रह-रहकर फिर वे ही बातें मन को व्यथित करेंगी।”

इस पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने माता देवकी से कहा—“माता! आप चिन्ता छोड़ें। मैं कुछ ऐसा यत्न करूँगा कि मेरे एक सहोदर भाई उत्पन्न हो।” श्रीकृष्ण ने माता को यह कहकर आश्वस्त किया और स्वयं पौषधशाला में आकर अष्टम भक्त तप स्वीकार कर हरिणगमैषी देव की आराधना करने लगे। उनके तप से प्रसन्न देव आया तो उसके पूछने पर श्रीकृष्ण बोले—“मेरे एक सहोदर लघु भ्राता का जन्म हो, यह मेरी कामना है।”

□ हरिणगमैषी का आश्वासन

हरिणगमैषी देवता ने कृष्ण वासुदेव को आश्वस्त करते हुये बताया कि देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर एक देव का जीव माता देवकी के गर्भ में आयेगा, आपके सहोदर लघु भ्राता का जन्म होगा और इस तरह आपकी मनोकामना पूर्ण होगी। उस देव ने यह भी बताया कि आपका वह सहोदर भ्राता बाल्यकाल बीतने पर अरिहन्त अरिष्टनेमि के पास मुण्डित हो दीक्षा ग्रहण कर लेगा।

□ पुत्र-जन्म, नामकरण-गजसुकुमाल

कालान्तर में देवकी रानी ने सिंह का स्वप्न देखकर गर्भ धारण किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर देवकी ने महान् कान्तिवान तथा गजराज के तालु से भी कोमल एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रख गया—‘गजसुकुमाल’। बड़े हुए गजसुकुमाल तो एक दिन जब श्रीकृष्ण द्वारिका में विराजित अरिहन्त अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहे थे, सोमिल ब्राह्मण की रूपवती कन्या सोमा को राजपथ पर गेंद से क्रीड़ा करते देख मुग्ध हो उसे तरुण गजसुकुमाल की भावी पत्नी के रूप में पसन्द कर बैठे। राजपुरुषों को भेज सोमिल से पुछवाया। सोमिल ने प्रसन्न हो स्वीकृति दी। उस कन्या को राजमहलों में राजरानियों के योग्य शिक्षा हेतु कुमारिका अन्तःपुर में भेज दिया गया।

□ गजसुकुमाल को वैराग्य

तदनन्तर सहस्राश्रवण उद्यान में श्रीकृष्ण वासुदेव प्रभु-दर्शनार्थ गये। लघु सहोदर गजसुकुमाल भी साथ थे। दर्शन, वन्दन, नमन कर धर्मवाणी का प्रभु-मुख से श्रवण

किया। धर्मोपदेश समाप्ति पर श्रीकृष्ण तो वापस महलों में लौट गये, पर गजसुकुमाल वहीं समवसरण में प्रभु के पास खड़े रहे। धर्मवाणी सुनकर उनका मन-मानस वैराग्य रंग से ओत-प्रोत बन चुका था। वे प्रभु से बोले—“मैं अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर आपके पास श्रमण-धर्म ग्रहण करूँगा।” प्रभु ने कहा—“जैसा तुम्हें सुख उपजे वैसा करो, धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।”

□ माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा-ग्रहण

गजसुकुमाल अपने घर आये। माता-पिता से दीक्षा की अनुमति माँगी। माता देवकी, भ्राता श्रीकृष्ण व पिता वसुदेव ने बहुत समझाया, पर कुमार नहीं माने। श्रीकृष्ण ने उन्हें द्वारिका का राज्य देना चाहा, पर इस प्रलोभन के आगे भी वे नहीं झुके तब श्रीकृष्ण ने उनकी एक दिन की राज्य-ऋद्धि देखने की अभिलाषा प्रकट की। गजसुकुमाल श्रीकृष्ण की इस बात पर मौन रहे तो इसे उनकी स्वीकृति मानते हुए उन्हें सिंहासन पर आरूढ़ कर उनका राज्याभिषेक कर दिया गया। राज्याधिपति बन गये गजसुकुमाल तो श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—“कहिये महाराज, क्या आज्ञा है?”

अब गजसुकुमाल के अन्तर् में उमड़ता वैराग्य उचित अवसर देख बाहर छलक पड़ा। वे बोले—“मैं श्रमण-धर्म में दीक्षित होना चाहता हूँ, अतः मेरी दीक्षा की यथोचित तैयारियाँ करवाई जायें। दो लाख स्वर्ण-मुद्रा से ओघे-पातरे मँगाये जायें। एक लाख स्वर्ण-मुद्रा भेजकर नाई को सन्देश दिया जाये।”

महाराज गजसुकुमाल की यह आज्ञा सभी को माननी ही थी। निश्चित हो गया कि वे राजपाट के प्रलोभन में भी उलझेंगे नहीं, दीक्षा ही लेंगे। विवश माता, पिता और भ्राता सभी ने आज्ञा प्रदान कर दी।

राजकीय ठाट-बाट से, पूर्ण वैभव एवं महोत्सव आयोजन के साथ गजसुकुमाल ने प्रभु के श्रीमुख से श्रमण-धर्म में प्रव्रज्या अंगीकार की। श्री चौथमल जी म. सा. ने गजसुकुमाल की दीक्षा का बड़ा सुन्दर वर्णन अपने भजन में किया—

वरज्या नहीं रेवे, दीक्षा लेवे रे, गजसुकुमाल जी ॥ टेर ॥

(परिशिष्ट 'अ' में देखें)

□ दीक्षा के प्रथम दिन महाकाल श्मशान में भिक्षु-प्रतिमा

गजसुकुमाल श्रमण बन गये। दीक्षा के तुरन्त पश्चात् वे अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् के चरणों में उपस्थित हो, वन्दन-नमन कर बोले—“प्रभु! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में जाकर बारह भिक्षु-प्रतिमाओं की अन्तिम बारहवीं एक रात्रि की महाभिक्षु-प्रतिमा धारण करना चाहता हूँ।”

गजसुकुमाल मुनि ने प्रभु से जिस बात की आज्ञा चाही है, उसमें दो विशिष्ट बातों का उल्लेख है—एक तो महाकाल श्मशान का और दूसरी एक रात्रि की बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा का।

‘श्मशान’ शब्द आपने सुना है, कभी वहाँ जाने का अवसर भी मिला होगा, क्योंकि जाने वाले को पहुँचाने तो जाना ही पड़ता है। यहाँ ‘महाकाल श्मशान’ शब्द आया है। जानते हैं आप? किसे कहते हैं महाकाल श्मशान? बन्धुओं! महाकाल श्मशान, वह श्मशान भूमि कहलाती है, जहाँ कि चितास्थली की अग्नि कहीं-न-कहीं चौबीसों घंटे ज्वलित-प्रज्वलित रहती है। लगती बात बड़ी विचित्र-सी है, पर यह सही है और ऐसा होना असम्भव भी नहीं है। उस श्मशान के वातावरण के पुद्गल और वहाँ स्थित अधिष्ठाता वाणव्यंतर देवों के कारण ही यह सब होता है।

दूसरी बात है—“बारहवीं एक रात्रि की बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा।”

बन्धुओं! भिक्षुक की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख आगमों में मिलता है। अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं और अभिग्रह विशेष विशिष्ट तप की श्रेणी में आता है। यदि चिन्तन-मननपूर्वक देखें तो भिक्षुक की आठवीं प्रतिमा से बारहवीं प्रतिमा तक जो विशिष्ट अभिग्रह है, वह ध्यान, कायोत्सर्ग तथा व्युत्सर्ग से सम्बन्धित भी है।

शास्त्रों में तप के बारह भेद हैं, इनमें छह तप बाह्य और छह आभ्यन्तर हैं। आभ्यन्तर तपों में अन्तिम दो हैं—ध्यान और व्युत्सर्ग। तप सर्वदुःखों को नष्ट कर शाश्वत सुख प्राप्त करने की साधना है।

□ निष्काम तप ही करता है कर्मनिर्जरा

संसार का कौन ऐसा व्यक्ति है जो सुखी नहीं होना चाहता, सभी सुखी बनना चाहते हैं, फिर भी कोई सुखी नहीं है। कारण क्या है? कारण है अंतरंग में सुख की चाह अभी

प्रकट नहीं हुई। अन्तर् में वीतराग प्रभु के प्रति, उनकी वाणी के प्रति अटूट श्रद्धा जागृत नहीं हुई, अतः जीवात्मा मूर्च्छावस्था में है, आसक्ति में अचेतन-सा बना हुआ है, ममत्व में बेभान है। यही कारण है कि वह दुःखों को ही सुख मान रहा है।

जब-जब भी वह यथार्थ सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनता है, साधना के क्षेत्र में प्रारम्भिक कदम रखता है, तब-तब उसके प्रयत्नों के पीछे कामना की, ऐहिक और भौतिक सुखों के चाह की एक चिनगारी प्रज्वलित बनी रहती है, जो आते हुए यथार्थ सुखों को भस्मीभूत बना देती है। अमृत के कटोरे में विष की एक बूँद सारे अमृत का नाश कर देती है।

आज व्यक्ति अपने दुःखों को भूलने के लिए मूर्च्छित, बेभान बना रहना चाहता है। भविष्य के काल्पनिक सुखों के स्वप्नों को न मिटने देने के लिए वह मोह-माया-ममता में अचेतन-सा बना रहना चाहता है।

गुरु सचेत करते हैं—“यदि सच्चा सुख पाना है तो साधना करो। साधना करनी है तो मोह-माया-ममता का त्याग करो, विषय-कषाय-कामनाओं को क्षीण-क्षीणतर बनाओ।” दशवैकालिकसूत्र में आया है—

आयावयाही चय सोगुमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ।

छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥

वर्तमान जीवन में कषायों से संग्राम में विजयी बन सुखी होने के लिए काया को तपाना (आतापना या तपादि से), सुकुमारता का त्याग करना जिसमें आराम, सुख-सुविधा, अभिशयन, आलस्य आदि का त्याग आता है, कामभोगों का अतिक्रम करना तथा राग व द्वेष का छेदन करना आवश्यक है।

इन सबके लिए संयम अर्थात् इन्द्रिय और मनःनिग्रह तथा तपाचरण अर्थात् अनशन आदि से लेकर ध्यान, व्युत्सर्ग आदि को अपनाना चाहिए। यही कारण है कि गजसुकुमाल मुनि ने अरिहन्त अरिष्टनेमि प्रभु की देशना सुन संयम-पथ ग्रहण किया, श्रमण-धर्म अंगीकार किया और दीक्षा के तुरन्त पश्चात् महाकाल-श्मशान में भिक्षु की बारहवीं महाप्रतिमा के आराधन की आज्ञा माँगी।

यदि इस प्रतिमा का पालन जिनेश्वर की आज्ञा के अनुरूप सही ढंग से न हो सके, साधक उपसर्ग-परीषह से विचलित हो जाय तो उसे तीन अनर्थकारी दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं—

- (१) मानसिक उन्माद, पागलपन, विक्षिप्तता।
- (२) अति दीर्घकालीन रोग और आतंक।
- (३) केवली-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाना।

बन्धुओं! साधारण स्थिति में, सामान्य मानव को एकदम सीधे ही इस तरह के आराधन की आज्ञा नहीं दी जाती। गुरु को आज्ञा माँगने वाले का सामर्थ्य देखना पड़ता है। पात्र की पात्रता को परखे बिना न विशिष्ट ज्ञान दिया जाता है, न विशिष्ट क्रिया की अनुमति। वहाँ तो गजसुकुमाल मुनि को आज्ञा देने के अधिकारी स्वयं सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु थे, घट-घट के ज्ञाता थे, जानते थे साधक के सामर्थ्य को। उन्होंने आज्ञा देते हुए गजसुकुमाल मुनि को कहा—

“अहासुहं देवाणुप्पिया।”

अर्थात् जैसे तुम्हारी आत्मा को सुख उत्पन्न होवे, वैसा करो।

□ नहीं कियो पातरा में आहार

कुछ वर्षों और कुछ महीनों की बात छोड़िये, कुछ दिन भी तो नहीं लगे उस साधक को, अपनी साधना की पूर्ण सफलता में। दीक्षा से पूर्व माता के हाथ का आहार लिया था और दीक्षा के पश्चात्? न गोचरी गये, न काष्ठ-पात्रों (पातरों) में आहार ही किया था—

माता रे हाथे जीम्या, नहीं कियो पातरा में आहार।

भूमि नहीं पोढ़िया, नहीं कियो उग्र विहार॥

दीक्षा के तुरन्त बाद प्रभु आज्ञा से महाकाल श्मशान में ध्यानावस्थित हो भिक्षु-प्रतिमा की आराधना में लग गये। ध्यान भी ऐसा-वैसा नहीं। ऐसे गहरे उतरे ध्यान में कि अपने आपको खोकर 'स्व' को प्राप्त कर लिया, आत्मा के साथ युग-युगान्तरों, जन्म-जन्मान्तरों से चिपके कर्मवर्गणा के पुद्गल-दल उनके ध्यान की चढ़ती हुई उज्ज्वल शुभ भावनाओं के साथ अलग-विलग होते गये।

□ ध्यान : एक चिन्तन

आप भी करते हैं ध्यान। प्रतिक्रमण के पाँचवें आवश्यक में कायोत्सर्ग करके ध्यान में पहुँचने का विधान है, पर बिरले ही व्यक्ति होंगे जो ध्यान में पहुँचें। वस्तुतः तो आपमें से अधिकांश कायोत्सर्ग की स्थिति तक भी नहीं पहुँच पाते। कायोत्सर्ग कर पाना सहज नहीं है। काया, वचन एवं मन-इन तीनों योगों को स्थिर बनाना कायोत्सर्ग है और मन के भावों को अशुभ से शुभ की ओर ले जाकर निर्विचार अवस्था में पहुँचाने का नाम है ध्यान। काया से ममत्व घटाये बिना और आसक्ति हटाये बिना ध्यान की अवस्था में नहीं पहुँचा जा सकता।

□ दृढ़ संकल्प से सिद्धि, विकल्प से निष्फलता

महासाधक मुनि गजसुकुमाल ने काया का उत्सर्ग कर, ध्यान को केन्द्रित कर, अशुभ योगों को शुभ योगों में परिवर्तित कर अपने आपको निर्विकल्प स्थिति तक पहुँचा दिया। योग से अयोग में चले गये वे। समय कितना लगा मात्र एक प्रहर।

कहाँ उनका ध्यान और कहाँ आपका ध्यान? आकाश-पाताल का अन्तर। उन्हें एक प्रहर की ध्यान-साधना से मोक्ष-मंजिल प्राप्त हो गयी। आपको क्या प्राप्त हुआ या होगा आपकी डाँवाडोल ध्यान-साधना से? यह तो आप ही अच्छी तरह जानते हैं। एक छोटा-सा अतिलघुकाय मच्छर भी यदि कान के पास भिनभिनाये तो ध्यान में अवस्थित होते हुए भी आपका पूरा का पूरा ध्यान उस तरफ चला जायेगा। विचलित हो गया मन तो ध्यान कहाँ रहा? मुनि गजसुकुमाल के संकल्प में कोई विकल्प नहीं, अतः वे सफल रहे। विकल्प जहाँ जुड़ते हैं, वहाँ साधना व्यर्थ बन जाती है, निष्फल रह जाती है।

□ भीतर अशान्ति, सर्वत्र अशान्ति

आप बाहर से भी अशान्त हैं और भीतर से तो अशान्त हैं ही, अतः शान्त वातावरण को खोजते हैं। स्थानक में आने का कारण भी यही है। स्थानक का वातावरण शान्त होता है, कोई हलचल, झगड़ा-टंटा, रोना-धोना आदि कुछ भी नहीं। शीतल-मन्द हवा चलती है यहाँ। वीतराग की शान्त-प्रशान्तकारी वाणी का अमृत-झरना बहता है यहाँ। आप यहाँ आकर करते हैं साधना-आराधना, पर भीतर की अशान्ति को आप यहाँ भी लिए चले आते हैं। आपके भीतर की यह अशान्ति इस मधुर और शान्त स्थान में भी कभी-कभी

अनेक विघ्न खड़े कर देती है। आपका अहं भाव जग जाता है तो टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। टकराहट बढ़ गई, समाप्त नहीं हुई तो बाहर-बाहर संगठन और अन्दर ही अन्दर विघटन होने लगता है। सम्पूर्ण समाज के बुजुर्ग-युवा, नर-नारी मिलकर एक होकर, जो आध्यात्मिक यज्ञ कर रहे थे उसमें दरार पड़ जाती है। एकता का बिखराव अनेकता में हो जाता है। इस तरह आपके भीतर की अशान्ति ने सारे वातावरण को, समाज को, अध्यात्म-स्थल को और धार्मिक कार्यक्रमों को अशान्त बना दिया।

बन्धुओं! इसीलिए गुरुदेव फरमाते हैं कि भीतर में शान्ति चाहिए। गजसुकुमाल भीतर से पूर्ण शान्त थे, पर जहाँ गये वह स्थल पूर्णतः अशान्त था, पर वाह रे समता-सागर, अपनी समता के बल पर वहाँ भी अपने को सुस्थित, सुस्थिर बनाये रखा।

□ मुनि गजसुकुमाल कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्था में

पहुँचने के साथ ही गजसुकुमाल मुनि ने कायोत्सर्ग का उद्घोष किया—

**तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त करणेणं, विसोही करणेणं, विसल्ली करणेणं,
पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाये ठामि काउस्सगं।**

वे कहते हैं कि मैं अपने संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित करने के लिए और पापकर्मों का समूल नाश करने के लिए शारीरिक चेष्टाओं—व्यापारों का त्याग करता हूँ।

इतना कहकर मुनि गजसुकुमाल जिन-मुद्रा से एक स्थान पर निश्चल खड़े हो जाते हैं, इस तरह जैसे किसी पवनरहित स्थान पर कोई दीपशिखा स्थिर हो। वे अन्य समस्त संकल्प-विकल्पों से अपना ध्यान हटाकर, एक ही पुद्गल पर दृष्टि स्थिर रखते हुए केवल एक ही विषय के चिन्तन में डूब जाते हैं। ध्यानसूत्र में उद्घोषित—“**ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं**” का अक्षरशः पालन करते हुए काया को स्थिर बना, वचनों की प्रवृत्ति को रोककर, मौन-मूक बन ध्यानलीन हो वे महामुनि अशुभ योगों से शुभ योगों की ओर बढ़ते चले जाते हैं।

बोलते आप भी हैं कायोत्सर्ग से पूर्व ‘**तस्स उत्तरीकरणेणं**’ का पाठ और तब कहते हैं—‘**ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं**’ पर चिन्तन करिये कि क्या आप भी इन शब्दों

के अर्थ में निहित भावों का पालन कर पाते हैं? आप तो किसी तोते की तरह रटे हुए पाठ को औपचारिक रूप से उच्चारित कर इसी में इतिश्री मान लेते हैं, तब फिर क्या लाभ मिल सकेगा आपको आपके ध्यान का, कायोत्सर्ग का।

मुनि गजसुकुमाल ने सामान्य-सी इस बात को ग्रहण कर, जीवन में पूर्णतः उतारकर अपने आपको विशिष्टता से जोड़ लिया और 'अप्याणं वोसिरामि' कहने के साथ ही अपनी आत्मा को अलग कर लिया। भेदविज्ञान के अनुसार निश्चय कर लिया कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ और जो शरीर है वह 'मैं' नहीं हूँ। आत्मा की उज्ज्वलता के चिन्तन में शरीर के साथ कुछ भी हो, मैं विचलित नहीं बनूँगा, अपने को पूर्ण स्थिर रखूँगा।

□ ध्यान करें पर ध्यान रखें

आप भी चिन्तन करें इस पाठ का। कितना मोह, कितना लगाव, कितनी आसक्ति है आपकी अपने शरीर में? जब ध्यान करें, कायोत्सर्ग करें तब तो, इस आसक्ति को हटाएँ, कम करें। मान लीजिए आप उपवास के प्रत्याख्यान लेते हैं, लेकिन उसे तोड़ देते हैं। क्या कहेंगे लोग? क्या कहेगा आपका अन्तर्-मन? यही न कि बहुत बुरा किया। ध्यान, कायोत्सर्ग भी तो एक संकल्प है, जिसे आप सदैव, जब भी कायोत्सर्ग करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, तोड़ देते हैं। क्या यह उचित है?

कायोत्सर्ग में काया की स्थिरता में बारह आगार हैं, अर्थात् बारह प्रकार की छूट दी गई है—उच्छ्वास, निःश्वास, खाँसी, छींक, जँभाई, डकार आदि ऐसी शारीरिक क्रियाएँ हैं ये बारह, जिन पर व्यक्ति का वश नहीं चलता। इनमें तीन की मुख्यता है—सूक्ष्म अंग संचालन, सूक्ष्म कफादि का संचारण तथा सूक्ष्म दृष्टि का चलन। इनके अतिरिक्त किसी प्रकार का शारीरिक संचरण, हलन-चलन, संचालन न हो कायोत्सर्ग में, साधक इसका विशेष ध्यान रखता है।

साधक दृष्टि यदि किसी पुद्गल या अन्य किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करता है तो उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी अवस्था में आँखों की पलकों की तो बात ही क्या, पुतलियाँ तक पूर्ण स्थिर रहें। आचारांगसूत्र में महावीर प्रभु की ऐसी ही ध्यान-साधना का वर्णन आता है। वहाँ उल्लेख मिलता है कि तिरछी भित्ति पर पुतलियाँ लम्बे समय तक स्थिर रहने से कई बार उनकी पुतलियाँ ऊपर चढ़ जातीं या पलट जातीं तब बच्चों के

झुण्ड उनसे डरते और उन पर पत्थर आदि फेंकते। प्रभु इस पर भी शान्त भाव में सुस्थित रहते, समभावों में ही रमण करते। उन्हें तो अपनी ध्यान-साधना द्वारा निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था तक पहुँचना था।

□ किसे कहते हैं ध्यान ?

दृष्टि यदि किसी 'टारगेट' पर स्थिर की है तो पुतली भी नहीं हिलनी चाहिए। ध्यान और कायोत्सर्ग को समझने के लिए इनकी परिभाषा को समझ लीजिए—

ध्यान—अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसाय एवं मन की एकाग्रता ही ध्यान है। कहा भी है—

अंतोमुहुत्तमित्तं, चिं तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं ज्ञाणं, जोगणिरोहो जिणाणंति ॥

ध्यान के दो प्रकार हैं—प्रशस्त व अप्रशस्त। अप्रशस्त हेय है, जबकि प्रशस्त उपादेय है। हेय का अर्थ है—त्यागने योग्य और उपादेय का अर्थ है—आचरण में लाने योग्य।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान हेय हैं, जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान उपादेय हैं।

आवश्यकचूर्ण में आया है—

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अटूटं कामानुरंजितं।
धम्मनुरंजियं धम्मं, सुक्लज्झाणं निरंजणं ॥

आचार्य जिनदास महत्तर की इस गाथा का अर्थ है कि काम या कामना से अनुरंजित विचार आर्त्तध्यान कहलाते हैं। हिंसा से रँगा ध्यान रौद्रध्यान है। धर्म से अनुरंजित धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्णतः निरंजन है। मन को निश्चल करना छद्मस्थों का ध्यान है और काया को निश्चल करना केवलियों का ध्यान है। छद्मस्थ शुक्लध्यान के दूसरे पाये तक और केवली भगवंतों में तीसरा-चौथा पाये वाला शुक्लध्यान होता है। केवली भगवंतों के ध्यान में विचार (वितर्क) का अभाव है।

□ मुनि गजसुकुमाल और बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा

इसी स्थिति में पहुँचने का लक्ष्य है महामुनि गजसुकुमाल का और अपने लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयास में हैं वे बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा की साधना करके।

बन्धुओं! भिक्षु-प्रतिमाओं में बारहवीं प्रतिमा सबसे उत्कृष्ट और अति दुष्कर है। है तो यह केवल एक रात्रि की, पर इसकी आराधना की जाती है महाकाल श्मशान में, नगर-ग्राम से बाहर, निर्जन स्थान पर, स्थिर खड़ा रहना पड़ता है जिसमें पाँवों की स्थिति इस प्रकार हो कि एड़ियों व पंजों के बीच चार-चार अंगुल का अवकाश रहे। मस्तक को थोड़ा झुकाकर रखना पड़ता है। किसी एक पुद्गल पर स्थिर दृष्टि रखते हुए निर्निमेष नेत्रों से निश्चल बनकर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होना पड़ता है।

□ नियम से उपसर्ग आता ही है, बारहवीं भिक्षा-प्रतिमा में

इस प्रतिमा की यह नियमा है कि निश्चित रूप से देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी कोई न कोई भयानक, असह्य उपसर्ग आता है। साधक को चाहिए कि उपसर्ग चाहे कितना ही भयंकर हो, समभावी बनकर अविचलित रहे। इस प्रतिमा को धारण करने के पश्चात् साधक यदि चलित हो जाता है तो या तो वह पागल हो जाता है या दीर्घकालिक रोग उसके उत्पन्न हो जाता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है अथवा संयम-वेश त्यागकर गृहस्थ बन जाता है। यदि स्थिर रहकर प्रतिमा की साधना कर लेता है तो अतिशययुक्त अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान अथवा केवलज्ञान तक प्राप्त कर लेता है।

□ मुनि गजसुकुमाल को उपसर्ग

जैसा कि मैंने आपको बताया, इस प्रतिमाधारक को उपसर्ग नियम से आता ही है। मुनि गजसुकुमाल को भी आया अति भयंकर, महावेदनाकारी और असह्य पीड़ाकारी उपसर्ग। इधर तो गजसुकुमाल ध्यानावस्थित होते हैं, उधर सोमा कन्या का पिता सोमिल ब्राह्मण यज्ञादि के लिए लकड़ियाँ एकत्रित कर, उन्हें लेकर अपने घर को लौट रहा होता है। बीच में आता है महाकाल श्मशान। श्मशान के निकट जाते हुए वह श्मशान में ध्यानस्थ गजसुकुमाल मुनि को देखता है। पूर्वभव के वैर की स्मृति हो जाने से वह एकदम कुपित हो तमतमा उठता है—‘इसने मेरी निर्दोष युवा पुत्री को अकारण ही त्याग दिया और मुनि बन गया। यह महानिर्लज्ज, श्रीहीन, कांतिहीन, मरण प्राप्त करने योग्य है।’—यह सब सोचते हुए वह निकट स्थित तालाब से गीली मिट्टी लाकर ध्यानस्थ गजसुकुमाल मुनि के मुण्डित सिर पर मिट्टी की पाल बाँधता है। मिट्टी के किसी टूटे बर्तन का एक हिस्सा उठाकर उस ठीकरे में पास ही जल रही चिता से दहकते हुए अँगारे

लाता है और मुनि के सिर पर डाल देता है। पाल बँधी है, अँगारे नीचे नहीं गिरते। जलते हुए खैर की लकड़ी के वे अँगारे मुनिवर की खोपड़ी को जलाने लगे। सोमिल ब्राह्मण भयभीत बना वहाँ से भाग छूटा, उसे डर था कि कोई उसे देख न ले।

बन्धुओं! उल्लेख आया है कि पूर्वभव के वैर जाग्रत होने के कारण सोमिल का क्रोध और द्वेष एकदम उभरकर बाहर आ गया। केवल इस कारण से कि गजसुकुमाल ने सोमा को अनब्याहे छोड़कर दीक्षा ली, सोमिल शायद इतना उग्र नहीं बनता। विशेष कारण था निन्यानवेँ लाख भव के पूर्व के वैराणुबन्ध का उदय।

□ पूर्वभव कथा

कौन थे गजसुकुमाल अपने पूर्वभव में? कौन था सोमिल उस भव में? क्या कारण था, वैराणुबन्ध का?

कथा साहित्य में उल्लेख आता है कि पूर्वभव में इन दोनों में माता-पुत्र का सम्बन्ध था। माता तो थी वह, पर विमाता थी। पुत्र के सिर पर फोड़े-फुन्सियाँ हो गईं, अतः वह खूब रोता था। दर्द सहन नहीं होगा तो रोना आयेगा ही। वैद्य को दिखाया गया। वैद्य ने फोड़े-फुन्सी पर लगाने के लिए मरहम दिया और कहा—“दवा तेज है, बच्चा अभी कच्ची उम्र का है, अतः ज्यादा दवा मत लगाना। दवा लगाने के पश्चात् गर्म रोटी को सिर से थोड़ी दूरी रख उसकी गर्म भाप से सेक देवें।”

फोड़ों-फुन्सियों के कारण बच्चा इतना रोता-चिल्लाता था कि विमाता उस सौतेले बच्चे से परेशान और दुःखी बन चुकी थी। सोचती थी—‘यह भी कोई बच्चा है जो रात-दिन रोता ही रहता है। न खुद आराम की नींद सोता है, न मुझे चैन लेने देता है। ढंग से घरेलू कार्य भी तो नहीं कर पाती इसके कारण! इस काँटे को सदा के लिए दूर कर दूँ।’

विचारों में यह भी था कि ज्यों-ज्यों यह बड़ा होगा, इसके पिता की सहानुभूति और प्रेम-भाव इसके प्रति अधिक होगा। वह तो यही सोचेगा कि यह बिना माँ का बच्चा है, अतः अधिक स्नेह का अधिकारी है। बिना माँ के बच्चे के प्रति पड़ोसी भी अधिक स्नेह रखेंगे। तब शायद मेरे तथा मेरे बच्चों के प्रति इन सभी की दृष्टि में उपेक्षा व घृणा भाव बन सकता है।

उस समय यही सब सोचकर उसने दवा आवश्यकता से कम नहीं अपितु आवश्यकता से अधिक ही लगाई और रोटी का भी सेंक तो किया, पर रोटी कुछ ज्यादा ही गर्मागर्म ली। यह सब उसने जानबूझकर किया। तभी वैराणुबन्ध पुद्गल आत्मा को भारी बना गये।

माता ने रोटी नहीं रोट बनाया था, तवे से उतारते ही उसे बच्चे के सिर पर रख दिया था। असह्य पीड़ा, जलन, बेचैनी के कारण अबोध-मूक शिशु गला फाड़कर चीखा, चिल्लाया, रोया, तड़फा। उसका चीखना इतना करुणार्द्र था कि घर के अनेक सदस्य यह सोचकर कि 'जाने क्या हो गया?'—वहाँ एकत्रित होने लगे। घर के लोगों को इस तरह रसोईघर की तरफ आते देख माता ने मायाचरण किया और बच्चे को वक्ष से चिपका लिया। वह उसे प्यार करने लगी, दुलार करने लगी, पुचकारने व चुप करने का नाटक करने लगी। घरवालों ने सोचा—'बीमार बच्चे को चुप करा रही है, उसकी सेवा कर रही है, परिचर्या कर रही है।'

कुछ पड़ोसी भी आये थे, देखा उन्होंने भी यह दृश्य तो कह उठे—“धन्य है ऐसी माता! कितनी सेवा कर रही है पुत्र की?”

माँ ने सुना तो मन ही मन हँसी जैसे कह रही हो—“कैसा उल्लू बनाया मैंने सबको, साँप भी मारना है पर लाठी को भी सुरक्षित रखना है, अखण्डित रखना है। मेरा कार्य सिद्ध हो जाना चाहिए, पर किसी को सन्देह तक नहीं होना चाहिए कि मेरी ऐसी काली करतूत है।”

बच्चे के प्राण-पखेरू उड़ गये। किसी को भी माता पर सन्देह नहीं हुआ, बल्कि सभी ने उसके पुत्र-प्रेम, मातृ-वात्सल्य की सराहना की।

उसी माता के जीव ने इस भव में गजसुकुमाल के रूप में अपने किये पूर्व अशुभ कृत्यों को इस तरह भोगा। बच्चे का जीव बना सोमिल, जिसने अपने पर किये गये अत्याचार का बदला इस भव में इस तरह चुकाया।

□ क्षमामूर्ति मुनि गजसुकुमाल

मुनि गजसुकुमाल के सिर पर चिकनी गीली मिट्टी की पाल तीव्र गर्मी पाकर सूखने लगी। ज्यों-ज्यों मिट्टी सूखी, त्यों-त्यों उसमें कसाव पैदा हुआ। तरुण मुनि गजसुकुमाल

का सिर उस कसाव से ऐसा कसने लगा कि दर्द और बढ़ गया। पाल के भीतर रखे हुए खैर की लकड़ी के सुलगते जाज्वल्यमान अँगारे मुनि की खोपड़ी को जलाने लगे। चमड़ी, माँस, मज्जा, हड्डी सब जले। खोपड़ी खिचड़ी की तरह खदबद-खदबद सीझने लगी।

महाभयंकर वेदना, दारुण दाह, दुस्सह दुःख, पर गजसुकुमाल के मन में ऐसी असह्य वेदना देने वाले के लिए रंच मात्र भी द्वेष, प्रतिशोध-भाव, क्रोध आदि नहीं था। वे उस एकान्त वेदना को समभावपूर्वक सहज रूप में सहन करते हुए चिन्तन करने लगे—‘जिसने भी मेरे लिए ऐसी असह्य स्थिति उत्पन्न की है, वह मेरा परम उपकारी है। वह मेरे कर्म बन्धनों को काटने में और मोक्ष के शाश्वत सुख की प्राप्ति में सहायता ही दे रहा है। मैंने जिस लक्ष्य को लेकर यह संयम-पथ अंगीकार किया, इस दुस्साहसपूर्ण कृत्य करने वाले ने मेरे उस पथ को लघु और लघुतर बना दिया है।.....।’

कैसा उत्तम क्षमा-भाव! धन्य है उस समता-भाव के अद्वितीय शिखर को। एक गीतकार उनकी क्षमा को गुणगान करते हुए कहता है—

क्षमा का पुजारी, वीर गजसुकुमाल था।

देवकी का लाल था जो, देवकी का लाल था ॥

(परिशिष्ट ‘अ’ में देखें)

□ मोक्ष-प्राप्ति

उस महामुनि के अन्तर् में थी चिन्तन की शुभ्र-उज्ज्वल धारा, शुभ परिणाम! बढ़ते और चढ़ते शुभ व शुद्ध विचारों की धारा आत्मा के आवरणों को हटाने लगी, अष्ट-कर्म क्षय होने लगे, आत्म-गुण प्रकट होने लगे। मुनि ने अपने इन्हीं शुभ अध्यवसायों के कारण गुणश्रेणी निर्जरा करते हुए उत्तरोत्तर गुणस्थानों पर आरूढ़ होते हुए क्षीण मोहनीय गुणस्थान को प्राप्त किया। तदनंतर उन्होंने चार आत्मघाती कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) को तोड़ दिया, नष्ट कर दिया। उन्हें वहीं केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। अन्तर्मुहूर्त्त के भीतर आयुष्य पूर्ण हुआ तो आयु-क्षय के साथ शेष चार अघाती कर्म-वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र भी सदा-सदा के लिए नष्ट हुए। मुनिवर क्षमामूर्ति गजसुकुमाल ने मात्र एक प्रहर की साधना करके अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त

कर लिया और सिद्ध गति में जा विराजे। समीपवर्ती देवों ने उनकी जय-जयकार की। अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा उन्होंने दिव्य सुगन्धित अचित्त जल की व पाँच वर्ण के दिव्य अचित्त फूलों की वर्षा की। दिव्य मधुर गीत गाये। गन्धर्व वाद्य यन्त्रों की ध्वनि से सम्पूर्ण आकाश को गुँजा दिया।

□ महाजनो येन गतः सः पन्थाः

वह रात्रि समाप्त हुई। सूर्योदय हुआ। संसार के जीवों ने अँगड़ाई ली और शय्या त्यागकर कर्मक्षेत्र के लिए कदम बढ़ाए। श्रीकृष्ण वासुदेव अपने पारिवारिक जनों, परिजनों व इष्ट जनों से आवृत्त हो प्रभु के दर्शनार्थ, उपदेश-श्रवणार्थ गये। राह में उन्होंने एक अतिवृद्ध, अशक्त, दुबले-पतले व्यक्ति को देखा जो अति क्लान्त होने पर भी ईंटों के एक विशाल ढेर से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर की ओर ले जा रहा था। बार-बार जाने व आने में उसे अति कष्ट हो रहा था, पर वह भी क्या करे? दो ईंटें एक साथ उससे उठाई नहीं जा रही थीं।

उसके इस महाकष्टकर पुरुषार्थ को देखकर श्रीकृष्ण का हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो गया। दयालु श्रीकृष्ण ने उस पर अनुकम्पा करते हुए हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही ईंटों के उस विशाल ढेर से एक ईंट उठाई और उसे वृद्ध के घर में डाल दी।

‘यथा राजा तथा प्रजा’। वासुदेव त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण ने उस विशाल ढेर से ईंट उठाकर उस वृद्ध के घर में डाली तो कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा—इसी विचार के साथ कृष्ण के साथ जितने भी अमीर, उमराव, नौकर-चाकर, श्रेष्ठ जन व अन्य प्रतिष्ठित जन थे, सभी ने एक-एक ईंट उस ढेर से उठाई और उस वृद्ध के घर में लाकर रख दी। बड़े आदमी जब भी कोई आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो उनके सहयोगी साथी व अन्य लोग उनका अनुकरण अवश्य करते हैं। कहा भी है—“यद्यदा चरति श्रेष्ठो, लोकस्तदनुवर्तते।” या फिर “महाजनो येन गतः सः पन्थाः”। कुछ भी कहा जाये पर यह सत्य है कि महापुरुषों के आदर्शों का अनुकरण होता है। देखते ही देखते उस विशाल ईंटों के ढेर की सारी ईंटें वृद्ध के घर पहुँच गयीं। वृद्ध का पुरुषार्थ, श्रम, समय बच गया। उसका कष्ट टल गया। महनीय पुरुषों की कृपा से बड़े से बड़े कष्ट टल जाया करते हैं।

□ हे श्रीकृष्ण ! मुनि गजसुकुमाल ने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया

श्रीकृष्ण वासुदेव जहाँ अरिहन्त अरिष्टनेमि विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। प्रभु को वन्दन, नमन किया और अपने सहोदर लघु भ्राता नवदीक्षित मुनि गजसुकुमाल को वन्दन करने हेतु इधर-उधर देखा। जब मुनि गजसुकुमाल नजर नहीं आये तो श्रीकृष्ण वासुदेव ने अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान से मुनि गजसुकुमाल के विषय में पृच्छा की। इस पर प्रभु ने कहा—“हे कृष्ण! गजसुकुमाल मुनि ने जिस प्रयोजन से श्रमण-धर्म अंगीकार किया था, उन्होंने उस प्रयोजन को सिद्ध कर लिया है।”

श्रीकृष्ण वासुदेव ने प्रभु के शब्दों पर विचार किया तो चकित रह गये। कल दीक्षा ली और कल ही प्रयोजन सिद्ध कर लिया। यह कैसे सम्भव हुआ ? यह तो अनहोनी-सी बात है। पूछ प्रभु से—“प्रभु! यह कैसे सम्भव हुआ ?” अर्हन् अरिष्टनेमि प्रभु ने श्रीकृष्ण वासुदेव को कल घटित हुई घटना का सार-संक्षेप बताया। सुनकर श्रीकृष्ण रोष में भरकर बोले—“भगवन्! मृत्यु की आकांक्षा रखने वाला वह क्षुद्र पुरुष कौन है, जिसने मेरे सहोदर लघु भ्राता के सिर पर धधकते अँगारे रखकर उसे अकाल ही में काल के मुख में पहुँचाया ?” प्रभु बोले—“कृष्ण! तुम्हें उस पुरुष पर किसी तरह का रोष, आवेश, क्रोध नहीं लाना चाहिए। तुम्हें तो उसे अपने भ्राता का उपकारी मानना चाहिए कि उसने मुनि गजसुकुमाल के आत्म-कार्य को सिद्ध करने में सहयोग दिया।”

कितना दिव्य संदेश प्रस्तुत करती है यह घटना ! साधुता के दिव्य आदर्श की झलक है इसमें। अपकारी के अपकार की ओर ध्यान न देकर अपकार में भी उपकार के दर्शन करना, अपने ही कृत कर्मों का फल जानकर समभावपूर्वक सहन करना (भेदविज्ञान) शरीर और आत्मा की भिन्नता का सम्यग्दर्शन, कैसी होती है समभाव की साधना, कितनी आवश्यकता है जीवन में शांति की, कैसे होती है कर्मों की उदीरणा, कैसे होते हैं वीतराग भगवंतों के वचन, भगवान यह नहीं कहते कि एक ब्राह्मण ने मुनि को आग लगाकर मार डाला। वे कहते हैं उसने गजसुकुमाल मुनि के आत्म-कार्य सिद्ध करने में सहयोग दिया जैसे तुमने वृद्ध पुरुष की सहायता की।

हमारा लक्ष्य भी है मोक्ष, तो हमें भी अपने जीवन में कैसे परिवर्तन की कितनी आवश्यकता है, विचार कीजिये।

श्रीकृष्ण समझ नहीं पाये प्रभु की बात को। सांसारिक प्राणी राग-द्वेष और कषायों के वशीभूत बनकर सत्य-तथ्य, उचितानुचित, हिताहित का निर्णय नहीं ले पाते। श्रीकृष्ण सोचने लगे—‘जिसने मेरे भ्राता को असमय में ही मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया, उसे उपकारी कैसे माना जाये?’ श्रीकृष्ण के मन की गुत्थी को सुलझाते हुए प्रभु बोले—“कृष्ण! जैसे तुमने यहाँ आते समय एक वृद्ध पुरुष की सहायता की। तुमने तो उस पर करुणा करके मात्र एक ईंट उठाकर उसके मकान में रखी, पर तुम्हारा अनुकरण करते हुए तुम्हारे साथ के अधिकारियों, पारिवारिक जनों, परिचारकों आदि सभी ने एक-एक ईंट उस ढेर से उठाई और वृद्ध पुरुष के घर में रख दी। उस वृद्ध पुरुष का कार्य सिद्ध हो गया, उसका श्रम व समय बच गया, उसका सारा कष्ट तुमने मिटा दिया। वैसे ही हे कृष्ण! उस पुरुष ने भी गजसुकुमाल के अनेकानेक हजारों-लाखों भवों के संचित कर्मराशि की उदीरणा करने में, उसकी निर्जरा करने में सहायता प्रदान की।

“अणेग भवस्स सहस्स संचियं कम्मं उदीरमाणेणं बहुकम्मणिज्जरट्ठं साहिज्जे दिण्णे।”

□ एक प्रहर में मुक्ति

प्रभु के इस प्रकार के कहने पर भी वासुदेव को उस पुरुष के प्रति क्रोध पूर्णतः शान्त नहीं हुआ। उन्होंने पूछा—“प्रभु! मैं उस पुरुष को कैसे पहचानूँगा?”

प्रभु बोले—“कृष्ण! जो पुरुष तुम्हें द्वारिका नगरी में प्रवेश करते हुए देखकर खड़े-खड़े वहीं मृत्यु को प्राप्त हो जाये, समझ लेना वही है—वह पुरुष।” कवि कहता है—

प्रभु फरमावे रे, प्रभु फरमावे रे,
श्रीकृष्ण चंद्र का, भ्रम मिटावे रे॥टेर॥

(परिशिष्ट ‘अ’ में देखें)

प्रभु से समाधान पाकर हृदय में वेदना की तीस, क्रोध की अग्नि लिये श्रीकृष्ण अपने हस्तिरत्न पर आरूढ़ हो द्वारिका की ओर चले।

उधर सोमिल ने मुनि गजसुकुमाल के सिर पर अँगारे तो रख दिये, पर घर पहुँचने के पश्चात् उसका खाना-पीना, सोना-बैठना हराम हो गया। रह-रहकर एक ही विचार

उसके मन को बेचैन बना रहा था कि श्रीकृष्ण से भला कब तक यह बात छुपेगी? प्रातः हुआ, सूर्योदय के कोई एक घण्टे पश्चात् बिजली की तरह चमककर वह उठ खड़ा हुआ। उसके दिमाग में जो विचार कौंधा, उससे उसकी बेचैनी और बढ़ गई। वह विचार था—

‘प्रभु सर्वज्ञ हैं, श्रीकृष्ण प्रभु-दर्शन के लिए अवश्य गये होंगे। प्रभु से उन्होंने गजसुकुमाल की अकाल मृत्यु और मेरे कुकृत्य सम्बन्धी सारा वृत्तान्त जान लिया होगा, अतः मेरी मृत्यु कृष्ण के हाथों निश्चित है। जाने कैसे वीभत्स तरीके से वे मुझे मरवाएँगे।’—इस विचार से अत्यधिक भयभीत हो उसने द्वारिका से कहीं दूर भागने का निश्चय किया।

भागने के विचार से जब घर से बाहर आया तो सोचा—‘श्रीकृष्ण तो राजमार्ग से लौटेंगे। क्यों न मैं गलियों-गलियों भागता हुआ जाऊँ।’

वह गलियों से होता हुआ भागने लगा। संयोग की बात, शोकमग्न कृष्ण भी व्यथित हृदय थे, अतः राजमार्ग छोड़कर उसी गली में आ गये। उधर से सोमिल, इधर से कृष्ण! अचानक दोनों आमने-सामने हो गये। सहसा कृष्ण को यों अपने सम्मुख आता देख भयभीत सोमिल जहाँ का तहाँ स्तम्भित रह गया और सर्वांग शिथिल हो ‘धस्स’ का शब्द करते हुए धरती पर गिर पड़ा। उसका आयुष्य पूर्ण हो चुका था, अतः वह वहीं मर गया। श्रीकृष्ण ने उसे इस प्रकार गिरते देख समझ लिया कि यही वह पुरुष है, अतः बोले—“यह वह अप्रार्थनीय को चाहने वाला, मृत्यु की इच्छा करने वाला, लज्जा व शोभाहीन सोमिल ब्राह्मण है जिसने मेरे सहोदर लघु भ्राता गजसुकुमाल मुनि को असमय में ही काल का ग्रास बना डाला।”

बन्धुओं! वासुदेव कृष्ण के कहने पर चाण्डाल उस शव को घसीटते हुए नगर के बाहर फेंक आये। शव से स्पर्शित भूमि को पानी से धुलवाया गया।

आत्मार्थी जनों! गजसुकुमाल मुनि की कैसी लघुवय पर कैसा उत्कृष्ट वैराग्य, उत्कृष्ट साधना, उत्कृष्ट क्षमा, उत्कृष्ट चिन्तन! शुभ अध्यवसायों की कैसी निराली उज्वलता! मन में उस क्षमा के सागर और असाधारण सहनशीलता का चिन्तन करिए। तरुणावस्था में जिस दिन दीक्षा उसी दिन, दिन के अन्तिम भाग व रात्रि के प्रथम भाग में केवल्य एवं मोक्ष!

सम्पूर्ण जैनागमों में अपनी तरह का यही अकेला उदाहरण है। पढ़ें तो रोम-रोम रोमाञ्चित हो जाये, सुनें तो कुछ समय के लिए हृदय वैराग्य और क्षमा-भाव से भर जाये पर शीघ्र ही आपका हृदय फिर संसार की ओर, मोह-माया के जाल-जंजाल में चला जाता है। क्यों होता है ऐसा ? क्योंकि मन कच्चा है, आत्म-बल में कमी है, संकल्प में शिथिलता है। मन को दृढ़ संकल्पित बनाना सीखिए फिर सफलता, सिद्धि अवश्य मिलेगी।

□ आत्म-शक्ति को जाग्रत करिये

बन्धुओं! ज्ञान-ध्यान, जप-तप, व्रत-प्रत्याख्यान आदि की साधना-आराधना द्वारा आप भी भव-भव के संचित कर्मों की उदीरणा कर उनकी निर्जरा कर सकते हैं। प्रत्येक प्राणी में इस तरह की शक्ति, ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है। बस, आवश्यकता है उस शक्ति को पहचानने की, आत्म-शक्ति को जागृत बनाने की। इसी के लिए ये पावन पर्व-दिन सन्देश देते हुए कह रहे हैं—दृढ़ संकल्पित बनिये अपने आत्म-धर्म के प्रति और उसमें अडिग आस्था रखते हुए अपने पुरुषार्थ को अहिंसा, संयम तथा तप रूप श्रेष्ठ धर्म से जोड़ दीजिए। ऐसा करेंगे तो अनन्त सुख, शाश्वत आनन्द की प्राप्ति निश्चित है।

आनंद ही आनंद !

□□

जिनवर वचन आराध

(जालि, मयालि, उवयालि आदि दस राजकुमार)

रागो य दोसो वि य कम्मं वीयं, कम्मं च मोहण्य भवं वयन्ति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति॥

आत्म-बन्धुओं!

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति भेदविज्ञान का ज्ञाता बन जाता है। वह अपने ज्ञान-दर्शन की प्रयोगशाला में सत्य-असत्य का, नीर-क्षीर का, सीप-चाँदी का, सोने-पीतल का, हंस-बगुले का, रस्सी-सर्प का भेद सरलता से पता लगा लेता है। उसके विवेक की कसौटी पर असली और मिलावट सहित व्यवहार का निर्णय सरलता से निकल आता है। यही कारण है कि भेदविज्ञानी, सम्यग्दर्शनी योद्धा पुरुषार्थ एवं प्रयत्न द्वारा आत्मा को कर्म-रिपुदल से मुक्त करा लेता है। इस प्रकार अनादिकाल से चार गति चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकता हुआ जीवात्मा जब सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है तो वह सर्व दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर परमात्म तत्त्व की प्राप्ति में समर्थ बन जाता है।

□ सर्व दुःखों का मूल कारण—राग और द्वेष

आप कहेंगे—दुःख क्या है? भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में शिष्य की ऐसी ही जिज्ञासा का समाधान करते हुए बताया कि सर्व दुःखों में सबसे बड़ा दुःख है—‘जन्म और मरण’! “दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति।” शेष जितने भी दुःख हैं, वे जन्म-मरण के कारण ही हैं।

जन्म-मरण का चक्र क्यों निरन्तर चलता है? क्यों बार-बार जन्म लेना तथा मरना पड़ता है? जन्म-मरण का मूल कारण है—कर्मबंध।

कर्मों का बन्धन क्यों होता है? यह होता है—मोह के कारण। इसीलिए कहा है—
“रागो य दोसो वि य कम्मं वीयं।”—राग और द्वेषमय जो भाव हैं वे ही कर्म-उत्पत्ति के लिए बीज रूप हैं।

□ राग-द्वेष का मूल अनंत तृष्णा

बंधुओं! मिटाना चाहते हैं यदि जन्म-मरण के चक्र को, छूटना चाहते हैं यदि अनादिकाल के भव-भ्रमण से, तोड़ना चाहते हैं यदि समस्त दुःखों के घेरे को तो मिटा दीजिए राग व द्वेष की भावना, नष्ट कर दीजिए मोह व ममत्व को। सरल नहीं है इन्हें नष्ट करना, क्योंकि इनकी जड़ें अन्तहीन गहरी हैं, उन जड़ों का नाम है तृष्णा। मानव की, जीवात्मा की तृष्णाओं, कामनाओं, इच्छाओं का कोई पार नहीं है। तृष्णारूपी विष बेलड़ी को वही साधक नष्ट कर सकता है जिसने अपनी लोभ की एक-एक परत को संतोष, अपरिग्रह, निःस्पृहता एवं अकिंचनता आदि सद्गुणों से समाप्त कर दिया हो।

□ राग (मोह) नष्ट तो आठों कर्म नष्ट

वही साधक सच्चा आराधक कहलाता है जो तृष्णा को जीत ले, मोह को मार दे। ऐसा सच्चा आराधक राग-विजय करते ही वीतरागी बन जाता है। मोह का कर्मबंध टूटा कि शेष घाती कर्म क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं और साधक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। कहा भी गया है—

स वीय रागो काय सव्व किच्चो, स वेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणभावेइ, जं चउन्तरायं पकरेइ कम्मं ॥

भाव यह है कि राग-द्वेषजयी वीतरागी आत्मा क्षणभर में ज्ञानावरण कर्म का क्षय कर लेता है तथा उसके साथ ही दर्शनावरण कर्म भी क्षय हो जाता है। अन्तराय कर्म को भी वह एक ही क्षण में दूर कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है।

□ चौथे चावल सीझे ! कब सीझेगा चावल ?

महापर्व के ये पावन दिन उन्हीं वीतरागी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्माओं के गुणगान करने के लिए आये हैं। हमारा लक्ष्य है उनका गुणगान करते हुए हम भी उन्हीं के दर्शाए पथ-चिह्नों (पद-चिह्नों) पर चलकर अपनी आत्मा को जागृत बनाएँ।

आत्माराधन के आठ आत्म-कल्याणी पावन-दिवसों का यह पर्युषण महापर्व समय के पंख पसारकर उड़ता चला जा रहा है। कल महापर्व का तीसरा दिन था और आज है चौथा दिन। आज जब व्यतीत हो जायेगा तो पर्व का अर्द्धांश हमारे हाथों से खिसक जायेगा।

मारवाड़ी में एक कहावत है—“चौथे चावल सीझे।” आज चौथा है तो चावल सीझने चाहिए अर्थात् धर्मध्यान की झड़ी लग जानी चाहिए। चावल कब सीझते हैं, जब उनके नीचे आग हो, आँच हो तथा जिस बर्तन में चावल हैं उसमें यथोचित पानी हो। चावलों की तरह आपके धर्मानुष्ठानों में भी परिपक्वता आनी चाहिए। कब आयेगी यह परिपक्वता? जब उसके नीचे तप की यथोचित ऊर्जा होगी और आपका हृदय जिनवाणी के मधुर जल में आप्लावित होगा।

□ धर्मकरणी की गति को बढ़ाइए

बंधुओं! जैसे-जैसे ये धर्मांधन के पर्व-दिन कम हो रहे हैं, वैसे-वैसे आप सभी को धर्मकरणी बढ़ानी है। गाड़ी स्टेशन से चलती है तब उसकी चाल धीमी होती है, पर कुछ समय व्यतीत होते ही वह गति पकड़ लेती है। कर रहे हैं आप भी धर्मकरणी, पर गति बढ़ानी है।

□ आध्यामिक 'सीजन'

एक व्यापारी जिन वस्तुओं का व्यापार करता है, वर्ष में एक बार उन वस्तुओं की खरीद-बिक्री का जोरदार सीजन आता है। उस सीजन में व्यापारी यदि आलस्य में रहे, सुस्त रहे, व्यापार पर पूरा ध्यान न दे तो उसे बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है कि मैंने व्यर्थ में दिन गँवा दिये। सीजन के दिवसों में यदि लगन से हाथ-पैर चलाता, व्यापार में पूरा ध्यान रखता, पूरी शक्ति से व्यापार करता तो खूब लाभ कमाता पर हाय! मैंने वह अमूल्य समय व्यर्थ में, प्रमाद में, आलस्य में व्यतीत कर दिया।

चतुर व्यापारी सीजन के समय को व्यर्थ नहीं खोते। वे तो समय से पूर्व ही सजग, चेतन, सावधान हो जाते हैं। जब तक सीजन चलता है वे अपने व्यापार-व्यवसाय में ऐसे डूबते हैं कि न उन्हें उन दिनों खाने-पीने का ध्यान रहता है, न आमोद-प्रमोद का। उन्हें तो नींद लेने की भी फुर्सत नहीं मिलती, सोने की चिन्ता भी वे छोड़ देते हैं उन दिनों।

घर से प्रातः जल्दी निकल जायेंगे और संध्या में बहुत देर से आयेंगे—ऐसे फँसे रहेंगे व्यापार में कि दम मारने के लिए भी उन्हें समय नहीं मिल सकेगा। उन दिनों कहीं से सगाई-ब्याह का, पुत्र-जन्म के अवसर का, भोजनादि का न्यौता भी आ जाये तो जाना उन्हें अच्छ नहीं लगेगा। जहाँ बहुत ही जरूरी है जाना, ऐसी जगह है जहाँ जाये बिना काम नहीं चलने वाला है तो फिर वहाँ वे भागते-दौड़ते जायेंगे और मुँह दिखाकर, लौकिक रीति निभाकर शीघ्र वापस चले आयेंगे। उनका पूरा ध्यान, सम्पूर्ण लगाव व्यापार में रहेगा इस समय।

बंधुओं! जैसे सांसारिक-भौतिक पदार्थों के व्यापार में लगाव है, वैसा लगाव आत्मा के उन्नयन की तरफ भी होना चाहिए। आत्मा के लिए व्यवसाय की अर्थात् धर्मारामन की सीजन है इन दिनों। एक अन्य मत के कवि ने कहा भी है—

जैसी प्रीति हराम से, वैसी हरि से होय।
चला जाय बैकुंठ में, पल्ला न पकड़े कोय ॥

□ आप ही अपने मित्र, आप ही अपने शत्रु

मन जिस प्रकार सांसारिक कार्यों, व्यापारिक प्रपञ्चों और पारिवारिक जंजालों में दौड़ता—भागता है, वैसा ही आत्मोत्थान में भी दौड़ना चाहिए। यदि नहीं दौड़ता है, नहीं है मन आपके नियंत्रण में, भटकता है सत्य पथ से विपरीत तो उसे अपना शत्रु ही समझिए। आपके शत्रु आप स्वयं हैं, है न विडम्बना। पर्व के नाम पर, धर्म के नाम पर व्यवसाय जिनके बंद हैं, पर्युषण के आठ दिवस व्यापार-व्यवसाय का अवकाश है, वे लोग भी अपना समय धर्मकरणी में, धर्म-स्थानक में नहीं व्यतीत करते। गप्पों में बैठ जायेंगे, हथार्थ कर लेंगे, ताश खेल लेंगे पर संत-समागम नहीं करेंगे, सत्संगत में नहीं आयेंगे, धर्मध्यान नहीं करेंगे। उनको टाइम-पास करना है, अतः खेल-तमाशे, मनोरंजन के साधन आदि में व्यर्थ समय बिता देंगे या फिर खरीदी के लिये दूसरे गाँव चले जायेंगे।

□ 'टाइम-पास'

टाइम-पास करना भी एक बीमारी है। किसी पुस्तक में टाइम-पास का एक प्रसंग पढ़ा था। ट्रेन में दो यात्री पास-पास बैठे यात्रा कर रहे थे। एक ने दूसरे से पूछा—“कहाँ जायेंगे?” दूसरे ने उत्तर दिया—“मैं मुम्बई जा रहा हूँ। आप कहाँ जाएँगे?” पहले वाले ने

कहा—“मैं भी वहीं जा रहा हूँ। चलो, अच्छा हुआ। साथ-साथ रहकर सफर अच्छा कटेगा।” इतना कहने के बाद पूछ लिया—“मुम्बई में कहाँ जायेंगे आप?” दूसरे व्यक्ति ने उत्तर दिया—“बालकेश्वर में।” खुशी-खुशी प्रथम व्यक्ति बोला—“अरे वाह! मुझे भी वहीं चलना है। बालकेश्वर में कौन से रोड पर जायेंगे?” दूसरे व्यक्ति ने कहा—“नेपेनियन रोड में।” फिर प्रश्न किये गये—“वहाँ कौन-सी बिल्डिंग में, कौन-से माले में, कौन-से नम्बर का फ्लेट?” आश्चर्य यह कि दूसरे व्यक्ति के बताने पर प्रथम व्यक्ति भी कहता गया—“अरे वाह! मुझे भी वहीं जाना है, मैं भी वहीं जा रहा हूँ।” जब फ्लेट नम्बर बताने पर भी प्रथम व्यक्ति ने कहा कि “अरे वाह साहब ! मुझे भी तो उसी फ्लेट में जाना है। वहीं तो रहता हूँ मैं।”

सुनने वाले यात्रियों में से किसी ने तब प्रश्न कर दिया—“क्यों भाई साहब, जब आप दोनों एक ही बिल्डिंग की एक ही मंजिल के एक ही फ्लेट में रहते हैं तब भी क्या एक-दूसरे को पहचानते तक नहीं?”

दोनों ने साथ-साथ कहा—“यह आपसे किसने कह दिया कि हम दोनों एक-दूसरे को नहीं जानते? हम तो एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह जानते हैं। जानते हैं हम कौन हैं? भाई साहब हम पिता-पुत्र हैं।”

साथ के यात्री ने प्रश्न किया—“फिर आप लोग इस तरह प्रश्न-उत्तर क्यों कर रहे थे?”

उत्तर मिला—“टाइम-पास।”

□ अभ्यास से सफलता निश्चित

बंधुओं! कहीं आप भी टाइम-पास जैसी भावना रखते हुए अमूल्य इस अवसर को व्यर्थ में गँवा तो नहीं रहे हैं। यदि गँवा रहे हैं तो सजग बनिए, समय के मूल्य को पहचानिए। आप समय की कद्र करेंगे तो समय भी आपकी कद्र करेगा। आज हम संत-सती आपको सामायिक, माला, व्रत-प्रत्याख्यान के लिए कहते हैं तो आप लोग हमारी बातों पर कितना ध्यान देते हैं? अधिकतर व्यक्ति कह देते हैं—“महाराज ! कैसे माला फेरें, कैसे सामायिक करें। मन ही वश में नहीं रहता। मैं माला में मन लगाना चाहता हूँ और मन दोस्तों में, टी. वी. में, होटलों में घूमना चाहता है।”

मन को वश करना सीखिए। अभ्यास से सब कुछ हो सकता है—

**करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात के, सिल पर परत निशान॥**

कुएँ पर पानी भरने के लिए बर्तन को रस्सी से बाँधकर उसमें उतारा जाता है। बार-बार रस्सी के नीचे उतारने और फिर ऊपर खींचने से जिस पत्थर की शिला से टकराती हुई वह नीचे-ऊपर होती है, वहाँ गड्ढे बन जाते हैं। इसी तरह अभ्यास करें तो अज्ञानी भी सज्ञान बन सकता है। आप भी करिए अभ्यास मन को वश में करने का। जीत गये यदि अभ्यास में, सफलता मिल गयी यदि मन को नियंत्रित करने में तो जीवन सफल बन जायेगा।

प्रसंग : अभ्यास दिलाता है विजय

अभ्यास से सफलता पर एक प्रसंग याद हो आया। किसी नगर के राजा-रानी एक दिन अपने महल के झरोखे में बैठकर अपनी नगरी को निहार रहे थे। दृष्टि घुमाते-घुमाते, नजारे निहारते-निहारते नजर एक जगह अटक गई। जहाँ नजर अटकी वह स्थान था—राजा जी के घोड़ों का अस्तबल। अस्तबल में एक घोड़ी ब्याही हुई थी। उसके छोटे बछेरे उछल-कूद करते हुए इधर-उधर थिरक रहे थे। उनके थिरकते हुए पैरों की उछल-कूद राजा-रानी को भा गई। तभी राजा ने कहा—“रानी जी! शक्ति आप में अधिक या मेरे में।” रानी ने विचार किया—‘पुरुषों को बड़ा अभिमान होता है अपनी शारीरिक शक्ति पर, लेकिन वे औरतों की शक्ति को जानते-समझते नहीं। इन्हें कौन समझाए नारी की असीम शक्ति को। वैसे भी शक्ति का प्रश्न पुरुष व स्त्री के मध्य उठना नहीं चाहिए पर ये तो ठहरे राज्य के मालिक! इनको कुछ कहना या समझाना बहुत कठिन है, अतः बात को तूल नहीं देने में ही बुद्धिमानी है।’

यही विचार कर रानी बोली—“मैं अपने मुँह से तो कैसे कहूँ कि शक्ति मेरे में अधिक है। शक्ति तो आप में ही ज्यादा माननी चाहिए।”

राजा ने कहा—“नहीं! ऐसे नहीं। चलो, चलकर परीक्षा करते हैं।”

राजा के कहने पर रानी गई राजा के साथ अस्तबल में। राजा ने एक बछेरे को ऊँचा उठाया, अपनी भुजाओं के बल पर। उसे नीचे-ऊपर किया पाँच-सात बार। रानी को भी

कहा, वैसा ही करने के लिए। रानी ने हिम्मत की, उठा लिया बछड़े को, नीचे-ऊपर भी किया। राजा बोला—“अरे वाह! ताकत तो तुममें भी है। ठीक है, आज के शक्ति-परीक्षण में तुम और हम बराबर।”

दोनों चले आये महल में। राजा भूल गया उस घटना को, पर रानी नहीं भूल सकी। रानी नियमित रूप से चुपचाप घोड़ों के अस्तबल में चली जाती, बछेरे को उठाती, ऊपर-नीचे करती और महलों में वापस आ जाती। बछेरा धीरे-धीरे बड़ा होता जा रहा था। रानी का अभ्यास निरंतर चलता जा रहा था। अंग्रेजी में कहावत है—“Practice makes a man perfect.”

इस बात को तीन-चार मास का समय बीत गया। बछेरा भी अब चार-पाँच माह की आयु का हो गया। रानी ने राजा से कहा—“आज से चार मास पूर्व आपके कहने पर हम दोनों ने शक्ति-परीक्षण किया था। चलिए, आज फिर वैसा ही शक्ति-परीक्षण करते हैं।”

रानी के साथ राजा गया अश्वों की अश्वशाला में। वही घोड़ी का बछेरा पर अब वह डील-डौल में सुडौल और पहले से भारी था। राजा ने उसे उठाने का प्रयत्न किया, भुजाओं से ऊपर लेने का प्रयत्न किया, ऊँचा करने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। अब आया रानी का नम्बर। रानी ने सहज में उसे उठा लिया और सात बार ऊपर-नीचे भी कर दिया। राजा चकित हुआ।

□ आत्म-शक्ति को प्रकट करना है तो अभ्यास आवश्यक है

बंधुओं! यह सब अभ्यास की करामात थी। शक्ति थी राजा में भी पर उसे जगाने की आवश्यकता थी। अभ्यास द्वारा रानी ने उस छिपी शक्ति को प्रकट कर लिया। शक्ति आप में भी है पर वह जागृत नहीं है। आवश्यकता है उसे जगाने की। एक बार अभ्यास द्वारा आत्म-शक्ति को जागृत कर लिया तो धर्मरुचि स्वतः जागृत हो जायेगी, मन धर्मकरणी में दौड़ा चला जायेगा। मोह की गहन निद्रा से जगिए। जागृति के लिए अभ्यास करिए। जप और तप से यह अभ्यास संभव है।

□ जालि, मयालि, उवयालि आदि दस कुमार

जिन महापुरुषों ने अभ्यास द्वारा धर्मरुचि को जागृत किया और जागृत धर्मरुचि को गति देकर प्रगति का पथ अपनाया, उन्हीं वन्दनीय पुरुषों को बड़ी साधु वन्दना

में पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अत्यंत भावपूर्वक स्मरण करते हुए उन्हें नमन किया है—

धन जालि, मयालि, उवयालि आदि साध ।

सांब ने प्रद्युम्न, अनिरुद्ध साधु अगाध ॥६६॥

बलि सतनेमि, दृढ़नेमि, करणी कीधी निर्बाध ।

दशे मुक्ति पहुंच्या, जिनवर वचन अगाध ॥६७॥

इन दो गाथाओं में दस राजकुमारों के जीवन-प्रसंग व मुक्ति-प्राप्ति का वर्णन है। ये दस जीवन-प्रसंग अंतगडसूत्र के चौथे वर्ग में वर्णित हैं। इस चौथे वर्ग के दस अध्ययनों के नाम हैं—जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिसेन, प्रद्युम्नकुमार, शाम्बकुमार, अनिरुद्धकुमार, सत्यनेमिकुमार और दृढ़नेमिकुमार।

इनमें जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन तथा वारिसेनकुमार—ये पाँच द्वारिका नगरी के महाराज वसुदेव तथा महारानी धारिणी के पुत्र थे। छठे प्रद्युम्नकुमार के पिता वासुदेव श्रीकृष्ण थे और माता थीं महारानी रुक्मिणी। सातवें शाम्बकुमार के पिता तो श्रीकृष्ण ही थे, पर मातुश्री का नाम था जाम्बवती। आठवें अनिरुद्धकुमार के पिता प्रद्युम्नकुमार थे और माता वैदर्भी थीं, अर्थात् ये श्रीकृष्ण महाराज के सुपौत्र थे। नवमें सत्यनेमिकुमार तथा दसवें दृढ़नेमिकुमार दोनों के पिता थे समुद्रविजय जी और माता थीं शिवादेवी।

□ शुभ स्वप्न, जन्म, शिक्षा, पाणिग्रहण

भाग्यशालिनी और बहुपुण्यवान थीं इनकी माताएँ। गर्भ-धारण के समय इन्हें सिंह का शुभ स्वप्न ब्रह्म मुहूर्त में दिखाई दिया। राज-ज्योतिषी ने जो फलादेश समय-समय पर इन्हें बताया, उसके अनुसार सभी के गर्भ में शूरवीर, तेजस्वी, अपने पुरुषाकार-पराक्रम से मनवांछित कार्य सिद्ध करने वाली सन्तान का जन्म होना निश्चित था।

गर्भ का समय पूर्ण होने पर इनके गर्भ से पूर्ण स्वस्थ, सुन्दर तथा तेजस्वी पुत्रों ने जन्म लिया। आप सभी को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि यहाँ जो सभी का एक साथ वर्णन है उसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि ये सभी साथ जन्मे, बड़े हुए, दीक्षित हुए। वस्तुतः इन सभी के घटना-चक्र लगभग एक समान हैं, अतः काल, व्यवधान होते हुए भी सभी का वर्णन साथ ही किया जा रहा है।

बड़े होने पर विद्याश्रमों में गुरुजनों के पास रहकर पुरुषोचित सभी कलाओं में ये पारंगत बने। जब युवक हुए और विवाह योग्य हुए तो इन सभी का पचास-पचास सुशीला, सुकुमारी, सुन्दरी राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। प्रीतिदान में प्रत्येक कन्या को उसके माता-पिता ने पचास- पचास करोड़ सुवर्ण, हिरण्य आदि प्रीतिदान दिया।

□ भोग से योग की ओर

शास्त्रों में जिन-जिन भव्यात्माओं के वर्णन हैं, उनमें से अधिकांश राजा, महाराजा, राजकुमार, राजरानियाँ, राजकुमारियाँ थीं। इनको भोग-सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध थी पर धन्य हैं वे महनीय आत्माएँ जिन्होंने अतिभोग से अपने जीवन को योग के, संयम के, चारित्र के दुष्कर पथ पर उतारा।

बंधुओं! वीतराग वाणी की महत्ता अकथनीय है, जिसे इन सभी ने अलग-अलग समय में सुना और संसार को त्यागकर आत्म-कल्याण का पथ ग्रहण करने का विचार किया। वस्तुतः तो वीतराग वाणी सर्वहितकारिणी होती है, अब कोई उससे कुछ ग्रहण न करे तो उसमें उस पावन वाणी का क्या दोष? उस वाणी में भेदविज्ञान की मुख्यता और आत्म-कल्याण को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। आगमों में गुम्फित यह वाणी जो-जो ज्ञान देती है, उस सबका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्म-कल्याण के पथ से सम्बन्ध है। अन्य पथ और धर्म जहाँ स्वर्ग के सुखों के लिए मानव को धर्म-पालन की शिक्षा देते हैं, वहीं तीर्थंकर सर्वज्ञ ऐसे सुखों की प्राप्ति के लिए शिक्षा देते हैं, जिन्हें एक बार प्राप्त कर दुबारा खोना नहीं पड़ता और फिर कभी किसी प्रकार का कोई दुःख देखना नहीं पड़ता।

इन राजकुमारों की हृदयरूपी धरा भी आध्यात्मिक पक्ष से कैसी उर्वरायुक्त थी संभवतः पूर्व में ही संस्कारों का बीजारोपण हो चुका होगा, यही कारण है मात्र एक देशना, प्रथम उद्बोधन सुनकर ही अन्तर्-मन, आत्म-तत्त्व जागृत बन गया।

□ तन और कहीं, मन और कहीं

बंधुओं! उन भव्यात्माओं ने एक वचन, एक उद्बोधन, एक प्रवचन सुन बोधिरत्न की प्राप्ति कर जीवन सफल कर लिया। आप कब करेंगे जीवन सफल? अनादिकाल से जन्म-जन्मांतरों में जाने कितनी बार सर्वज्ञों की वाणी सुनने का लाभ आपने प्राप्त किया पर आत्म-बोध नहीं हुआ, आत्मा जागृत नहीं बनी। कारण क्या? इस भव में भी,

पूर्वभव में भी और उससे पहले के भवों में भी ध्यान आपका शरीर और बाह्य पदार्थों में ही रहा। एक बार भी यह चिन्तन नहीं बना कि शरीर अलग और आत्मा अलग है। शरीर में जब तक लिप्त रहेंगे, आत्मा कर्मों से आवृत्त रहेगी। चैतन्य आत्मा से जड़ कर्म पुद्गलों को अलग करना है तो एक मंत्र अन्तर् में उतार लीजिए—“आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही उसे भोगता है।” अतः जो कुछ भी करें आत्मा की दृष्टि से, आत्म-हित के लिए, आत्म-कल्याणार्थ करेंगे तो आपका जीवन भी सफलता की ओर बढ़ सकेगा। तन और कहीं, मन और कहीं वाली स्थिति ही बनी रही तो अनंतकाल तक भवभ्रमण चलता रहेगा। जिस चरम व परम लक्ष्य की प्राप्ति से जीवन सफल बनता है, वह पथ भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

□ आत्मा ही कर्ता है, उसका भोक्ता भी आत्मा ही है

जैनधर्म का, सर्वज्ञों का, तीर्थंकर भगवंतों का स्पष्ट उद्घोष है—“अप्या कत्ता विकत्ता य।” अर्थात् जीवात्मा स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है और किए हुए उन शुभाशुभ कर्मों का फल सुख या दुःख, उसे ही भोगना पड़ता है। अनेक आचार्यों ने सर्वज्ञों के उसी कथन का और स्पष्ट विवेचन किया है। आचार्य अमितगति लिखते हैं—

स्वयंकृत कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचार यन्नेवमनन्यमानसो, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥

अतीतकाल में आत्मा ने स्वयं जो शुभ या अशुभ कर्म किए हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल आत्मा प्राप्त करता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया फल मिलता हो तो स्पष्ट है कि अपने किये कर्म निष्फल हो जायें।

अपने उपार्जित कर्मों का फल भोगने के अतिरिक्त न कोई किसी को कुछ देता है, न कोई किसी से कुछ लेता है। कुछ देने या लेने की बात कर्म में है तो जिससे ले रहे हैं या जिसको दे रहे हैं, दोनों निमित्त मात्र हैं।

इस तरह का विचार कर अन्यमनस्क बनना छोड़ें, केवल अपनी ओर देखें, अपने में झाँकें, अपने को जानें। दूसरा कुछ देता है, इस बुद्धि का परित्याग कर दें।

□ उत्कृष्ट वैराग्य भाव

कैसा सच्चा आत्मवाद है और कितना वैज्ञानिक जीवन-विश्लेषण है। यह कथन बताता है कि अपनी ही आत्मा अनंत, असीम शक्ति-साहस वाली है। आवश्यकता है इसे जानकर पुरुषार्थ जगाने की। एक-एक कर ये सभी राजकुमार प्रभुदेशना सुन आत्म-पुरुषार्थ के लिए चिन्तन करने लगे। उन सभी के चिन्तन का सार एक ही था—“संसार नश्वर है, धन-माया-परिवार-रिश्ते-नाते सभी जीते-जी के हैं। एक मृत्यु ही अटल सत्य है। मरने पर साथ केवल पाप-पुण्य चलेंगे या धर्म चलेगा। फँसे रहे सांसारिक मोह-माया बंधनों में तो फिर जन्म, फिर मरण, फिर रोग-शोक-दुःख भोगने होंगे। प्रभु का उपदेश कितना सत्य है। यही मेरे जीवन का उत्थान—कल्याण करेगा। इन्हीं के बताए पथ पर चलकर जन्म-मरण से, सर्वदुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। कर्मबंधन से बचने और कर्ममुक्त होने का एक मात्र यही मार्ग है—दीक्षा, श्रमण-धर्म, संयम-पालन, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तपाराधन।”

□ माता-पिता से आज्ञा-प्राप्ति

प्रभु की देशना से वैराग्याभिभूत बन माता-पिता से दीक्षार्थ आज्ञा माँगते हैं, पर आज्ञा इतनी आसान कहाँ? मोह, आसक्ति, रागबंधन जो है! आत्म-कल्याण के पथ पर जाने से रोकने और कर्मभोगों के पथ पर बने रहने के लिए सभी के माता-पिता प्रयत्न करते हैं, समझाते हैं, श्रमण-धर्म-पालन में आने वाली कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं ताकि वे डर जाएँ पर वैराग्य रंग में परिपक्व बने वे साहसी-शूरवीर भला कहाँ विचलित होने वाले थे? विवश माता-पिता को आज्ञा देनी पड़ी।

□ सदशिक्षा ले जा सकती है दीक्षा के पथ पर

सही शिक्षा हो तो आज भी दीक्षा की भावनाएँ जगती हैं, पर माता-पिता, सम्बन्धी नहीं चाहते कि सन्तान हमें छोड़कर मुनि बने। कभी यहाँ बात चलती है तो कहेंगे—“अरे महाराज! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? पुण्यवानी का खेल है यह।” बंधुओं! भाग्य आपके अच्छे हैं, पुण्यवानी भी है, पर भावों में संवेग नहीं, उद्वेग है। आप गुरु के सामने कुछ और हैं, पर पीठ पीछे आपका मोह आपको बाँध लेता है। यह ठीक है कि सभी ऐसे नहीं हैं। सभी ऐसे हो जायें तो जिनशासन की प्रभावना कैसे होगी?

□ आध्यात्मिक शिविर : एक प्रश्न-एक समाधान

एक बार पूज्य गुरुदेव स्व. आचार्य श्री लालचंद जी म. सा. के समक्ष एक भाई ने प्रश्न किया था—“गुरुदेव! ये जो धार्मिक शिविर लगाए जाते हैं, इनमें हजारों रुपए प्रत्येक शिविर में खर्च किए जाते हैं, पर उनकी उपयोगिता कुछ दिखाई नहीं देती।” आचार्य भगवंत ने तब उन श्रावक जी से कहा था—“श्रावक जी! अपने भीतर के पूर्वाग्रह को हटाकर देखिए, आपको इनमें होने वाले व्यय से अधिक लाभ नजर आयेगा। एक भी बालक सुसंस्कारित बनता है, नीतिवान बनता है, आध्यात्मिक आलोक पा लेता है तो हजारों रुपयों से कई गुना अधिक पुण्य प्राप्त हो जाता है। आचार्य भगवंत ने प्रभु महावीर के समय एक लकड़हारे की दीक्षा, लोगों द्वारा उन मुनि की उपेक्षा, अभयकुमार द्वारा पाँच स्वर्ण ढेरिया लगाकर जनता का आह्वान किया कि एक-एक व्रत का पालन करें और एक-एक ढेरी लें—वाला कथानक सुनाकर उस श्रावक को पूर्णतः संतुष्ट किया। उसे मानना पड़ा कि यह खर्च, जो कुछ बच्चों के जीवन-व्यवहार में बदलाव आयेगा, उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है।” गुरुदेव ने उस श्रावक से प्रति-प्रश्न किया कि अपने पुत्रों की सांसारिक शिक्षा के लिये विदेशों में भेजकर लाखों रुपये व्यय करते हैं, डॉक्टर-इन्जीनियर बनाते हैं, पर वे ही पुत्र आगे जाकर संस्कारहीन बन जाते हैं तो फिर उस व्यय की उपयोगिता क्या होगी ?

□ आपको भय है कि !

अच्छी शिक्षा और पूर्व संस्कारित उर्वर हृदय इन दोनों के मिलन से वैराग्य की उत्पत्ति पूर्ण संभव है। आज के माता-पिता प्रथम तो बच्चों को ऐसे शिविरों में भेजने से हिचकिचाते हैं। अन्तर् में उनके एक भय तो यह कि कहीं शिक्षा आत्म-जागृति के बिन्दु तक न पहुँच जाये। यदि ऐसा हो गया तो हम सन्तान से हाथ धो बैठेंगे। पुत्र है तो दूसरा भय कि हमारे बुढ़ापे की लाठी चली जायेगी तब क्या होगा हमारे बुढ़ापे का ? बिगड़ जायेगा बुढ़ापा।

□ क्यों बिगड़ता है बुढ़ापा ?

बंधुओं! ध्यान धरिए, बुढ़ापा तो वैसे ही बिगड़ा हुआ है। शादी करेंगे पुत्र की, और वह अलग होना चाहेगा, दूसरा घर बसाना चाहेगा। उसे बंधन प्रिय नहीं है और उसकी पत्नी को तो बंधन-प्रिय होने का प्रश्न ही नहीं है। थोड़ा-सा झुकाव आपके पुत्र का पत्नी की तरफ

बना कि सर्वप्रथम वह यही माँग करती है। उसके मायके के चतुर लोग भी जँवाईराज को माता-पिता से अलग होने के लिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उकसाते हैं, सहारा देने और सहायता करने का आश्वासन देते हैं। दोनों अलग हो जाते हैं तो आप उनकी सेवा पाने के लिए तरस जाते हैं। हम संतों के पास आकर अपने हृदय की वेदना, व्यथा प्रकट करते हैं। पर ऐसी स्थिति में हम संत भी क्या करेंगे? आपने नींव ही कमजोर रखी। संस्कारों को सुन्दर बनाया ही नहीं। बस, विद्यालयीन शिक्षा पर, डॉक्टर-इन्जीनियर-सी. ए. आदि की शिक्षा पर जोर देते रहे, पैसा खर्च करते रहे। सेवा के, विनय के, अनुकम्पा के संस्कार दिए होते यदि, भेजा होता उन्हें किसी आध्यात्मिक, नैतिक संस्कार-शिविर में तो शायद यह दुर्दशा आपको नहीं देखनी पड़ती।

□ राजकुमारों की दीक्षा

दीक्षा की महाभिनिष्क्रमण-यात्रा और दीक्षा-महोत्सव का आयोजन राजसी था, अतः निराला, दर्शनीय और वर्णनीय ठाट-बाट रहा। एक के बाद एक, कुछ ही वर्षों के अन्तराल में सभी दसों ही राजकुमार अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु के पास मुंडित बन, मुनि-वेश धारण कर दीक्षित बन गये।

□ अध्ययन व शुद्ध संयम-पालन

मुनि मौन-साधक होते हैं, श्रमण कर्मबंधन को क्षीण बनाने की साधना में प्रतिपल श्रमशील रहते हैं, निर्ग्रन्थ मोह-माया की ग्रन्थि का त्याग करने के साथ ही राग-द्वेष की ग्रन्थि को क्षीण बनाकर नष्ट करने की साधना करते हैं। ग्रन्थि का अर्थ बाह्य एवं आभ्यंतर परिग्रह से है, जिसे निर्ग्रन्थ त्याग देते हैं, पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं ग्रन्थि से। सूत्रकृतांग में बताया है—

- जो राग-द्वेष रहित है,
- जो एकाकी है (क्योंकि राग-द्वेष नहीं, अतः सबके साथ हैं, पर भीतर से एकाकी हैं।),
- जो बोध प्राप्त कर चुके हैं,
- जो संयत हैं,

- जो समितियों से युक्त व गुप्तियों से गुप्त हैं,
- जो सुसमाहित हैं,
- जो आत्मज्ञाता हैं,
- जो धर्मविद् व धर्मार्थी हैं,
- जो समभावी हैं,
- जो समयज्ञ हैं, विज्ञ हैं, प्राज्ञ हैं,
- जो यश-कीर्ति-लाभ के इच्छुक नहीं हैं,
- जो कर्म-ग्रन्थि के विजय में प्रयासरत हैं, और
- जो मोक्षमार्ग के पथिक हैं, वे सच्चे निर्ग्रन्थ हैं।

सभी राजकुमार मुनियों ने भी निर्ग्रन्थ बन ग्रन्थिरहित होने की साधना प्रारंभ कर दी, जिससे अपने लक्ष्य को वे पा सकें, मोक्ष मंजिल तक पहुँच सकें, शाश्वत सुखों का वरण कर सर्वदुःखों से मुक्त बन सकें। उनके मन-मानस में एक ही बात बस गई थी—

जम्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणिय ।

अहो दुक्खो हुसंसारो, जत्थ की सन्ति जन्तवो ॥

(उत्तरा. १९/१६)

— जन्म-दुःख है, वृद्धता-दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। यह सम्पूर्ण संसार ही दुःखमय है, जहाँ जीव क्लेश ही पाते हैं।

जिनके मन में यह बात बस जाती है, वे निश्चित रूप से अपने आचार-विचार को शरीर-साधना से आत्म-साधना की ओर मोड़ लेते हैं, क्योंकि सर्वज्ञों द्वारा कही हुई यह बात उनके अन्तर् में कहीं गहरे बैठ जाती है कि—

.....धम्मं पि काऊणं जो, गच्छाइ परं भवं ।

गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

जो व्यक्ति धर्माचरण करके परभव में जाता है वह अल्पकर्मा, वेदनारहित व सुखी बन जाता है। इन दस राजकुमारों ने पूर्वभव में धर्माचरण किया जिसके फलस्वरूप यहाँ चरमशरीरी रूप में जन्मे।

चढ़ती हुई शुभ विचारणाओं के साथ ये सभी राजकुमार दीक्षा पश्चात् स्थविरों मुनिराजों की सेवा में रहकर उनकी वैयावृत्य करते हुए बारह अंगों का अध्ययन करते हैं, गहन मनन-चिन्तन करते हैं और गूढार्थ के ज्ञाता बनते हैं।

□ संलेखना-संधारा

इन सभी की संयम-पर्याय सोलह-सोलह वर्ष की है। शुद्ध निरतिचार दीक्षा-पर्याय का पालन करते हुए अनेक प्रकार की तपस्याओं का आराधन करते हैं। आयुष्य के अन्तिम भाग में ये राजकुमार मुनि विचार करते हैं—संयम और तपाराधन से अब हमारा शरीर अत्यंत कृश बन चुका है। इसमें अब वह शक्ति-सामर्थ्य नहीं कि आने वाले समय में उसके द्वारा हम धर्म की, संयम की, चारित्र की अप्रमत्त साधना कर सकें। अतः हमें चाहिए कि इस शरीर में जब तक उत्थान-कर्म-बल-वीर्य पुरुषाकार-पराक्रम है उसका पूर्ण सदुपयोग कर जीवन के अंतिम भाग को सफल बना लें।

वे अपने स्वामी अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु के पास संलेखना-संधारा की आज्ञा के लिए आते हैं। प्रभु भी उनके मनोभावों, उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति, उनकी शरीरावस्था आदि को देख आज्ञा दे देते हैं।

कथानक—मृत्यु का भय

□ क्या है संधारा ?

बंधुओं! मृत्यु को महोत्सव बनाने की कला का नाम है—‘संधारा’। संसार के सभी जीव जीना चाहते हैं, जीवन सर्वप्रिय है, सभी प्राणी जीवित रहने का प्रयास करते हैं और चाहते हैं कि हम दीर्घकाल तक जीएँ। वे जानते हैं कि जीवन के साथ मृत्यु निश्चित है, अवश्यंभावी है, पर प्रत्येक प्राणी में उत्कट जिजीविषा विद्यमान है। मानव और पशु तो क्या देव-देवेन्द्र भी मृत्यु के भय से प्रकम्पित हो जाते हैं। “सात भय संसार में, मरण तणो भय भारी।”

एक था बादशाह। खाने-पीने का अति शौकीन। अपने इसी शौक के कारण वह गोल-मटोल हो गया, उसकी तोंद का घेरा बहुत बढ़ गया। अपने मोटे-ताजेपन से स्वयं उसे तकलीफ अनुभव होने लगी थी। उसने अपना कष्ट मिटाने के लिए उस युग के महान्

हकीम जिनका नाम था लुकमान, उसे बुलाया और कहा—“हकीम जी ! मुझे दुबला होना है। ऐसी दवा दो और ऐसे उपाय बताओ कि मेरा मोटापन कम हो जाये।”

लुकमान ने बादशाह को देखा, कुछ देर मंत्री से बात की, मालूम हो गया कि बादशाह खाने के बड़े शौकीन हैं और इसी कारण उनकी यह दशा है। उसने बादशाह से कहा—“आप सूर्योदय से पहले उठकर दो मील का पैदल भ्रमण करें, अमुक-अमुक व्यायाम करें तथा अपने भोजन पर नियंत्रण कर कम खाना प्रारभ करें।”

बादशाह बोले—“यह तो बड़ा मुश्किल है। पैदल चलने का मेरा अभ्यास नहीं है, अपने मोटेपन के कारण व्यायाम मेरे से हो नहीं सकता और भोजन तो मैं छोड़ ही नहीं सकता। क्या और कोई दूसरा उपाय नहीं है? मैं तो तुम्हारे बताए तीनों उपाय करने में असमर्थ हूँ।”

बादशाह की बात सुन हकीम लुकमान विचार में पड़ गये। कुछ देर तो वे चिन्तन में डूबे रहे फिर बोले—“हुजूरे आला! मुझे कहना तो नहीं चाहिए पर माफी दें, कहे बिना भी रहा नहीं जाता। मेरे चिन्तन के अनुसार अब आप इस संसार में केवल एक माह के मेहमान हैं।”

सुनते ही बादशाह को तो जैसे साँप सूँघ गया। बोले—“क्या कहते हो तुम? क्या यह सत्य है?”

लुकमान ने कहा—“आलमपनाह! असत्य होने का तो कोई कारण ही नहीं है। निश्चय ही ऐसा ही है।”

बादशाह चिन्तित हो गये। हकीम तो चले गये पर बादशाह के लिए परेशानी छोड़ गये। मौत का भय मन में बैठ गया तो किसी बात में मन कैसे लगे? खाना-पीना भी हराम हो गया। चिन्ता और भय के मारे बादशाह अनमने, उदासीन रहने लगे। भूख-प्यास सब गायब। पहले बिना कहे कई बार खा लेते थे, पर अब कई बार कहने पर भी कुछ नहीं खाते थे।

समय तो उड़ता पंछी है। एक माह व्यतीत हो गया तो हकीम लुकमान बादशाह के पास गये। बादशाह का शरीर बहुत ही कृश बन चुका था। देखा हकीम को तो पूछ बैठे—“आज महीना पूरा हो चुका है। अब मैं कितने घण्टों का मेहमान हूँ?”

हकीम बोले—“अब आप नहीं मरेंगे?”

बादशाह आश्चर्यचकित बन गये। क्या कह रहा है ये हकीम? पहले तो कहा था—“एक मास ही जीवन है।” आज कह रहा है—“मैं नहीं मरूँगा?”

बादशाह को इस तरह आश्चर्य में पड़ते और विचार करते देख हकीम लुकमान ने कहा—“आपने दुबला बनने की इच्छा प्रकट की थी और मैंने तीन बातें आपसे कहीं, मोटापा कम करने की। आपने बताया कि वे तीनों बातें आपसे नहीं हो सकतीं तब मैंने आपको मृत्यु का भय दिखा दिया। मौत का भय अच्छे-अच्छों को दुबला बना देता है। देख लीजिए अपना शरीर ! आप भी दुबले बन चुके हैं।”

□ जीवन की तरह मरण को भी खेल मानो

बंधुओं! सबसे अधिक भय मृत्यु का है। पर धर्माचार्य, दार्शनिक, मनीषी एवं चिन्तकों का कहना है कि मौत से डरो मत। जीवन और मरण को खेल मानो और खिलाड़ी बनकर चतुरता से दोनों खेल खेलो। चालक वाहन को यदि चलाना ही जानता है, पर रोकना नहीं जानता तो दुर्घटना निश्चित है, ऐसे चालक को कोई अपने पास नहीं रखेगा, उस पर विश्वास कर अपना जीवन खतरे में नहीं डालेगा। उसे हम कुशल चालक नहीं कहेंगे। प्राणी भी यदि जीवन के साथ मरण के खेल का खिलाड़ी नहीं तो न उसका जीवन सफल है, न मरण।

□ बालमरण और पंडितमरण

‘संलेखना-संधारा’ समाधिमरण की कला है। विश्व के जितने जीव हैं, उनके मरण को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) बालमरण, और (२) पंडितमरण। उत्तराध्ययनसूत्र में इनको अकाममरण और सकाममरण नाम दिया गया है।

बालमरण का अर्थ है विश्व के पदार्थों व सम्बन्धों में आसक्ति रखते हुए मरना। अज्ञानमरण भी कहते हैं इसे। अकाममरण भी इसी का पर्याय है। अकाम या बाल या अज्ञानमरण में प्राणी मृत्यु को अत्यंत भयंकर मानकर मृत्यु के आने पर घबराता है, रोता है, चिल्लाता है, विलाप करता है, आर्त्तध्यान करता है। शोक, चिन्ता, उद्विग्नता, दुर्ध्यान आदि के वशीभूत बन वह अनिच्छा से मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत मृत्यु के स्वरूप एवं रहस्य को जानकर—समझकर मृत्यु को परम मित्र की तरह गले लगाना **पंडितमरण** है। ऐसा व्यक्ति पूर्ण जीवन को तप, त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, नियम, धर्माचरण आदि से सार्थक बना लेता है और जब मृत्यु निकट आती है तो पहले से तैयार किसी योद्धा की तरह संलेखना, आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना एवं प्रायश्चित्तरूपी आत्म-शुद्धि के अहिंसक शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध बन हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करता है। मृत्यु को एक महोत्सव की तरह बना लेता है। ऐसे साधक की जन्म-मरण की संख्या कम हो जाती है या वह जन्म-मरण के चक्र को सदा के लिए अवरुद्ध कर देता है। इस रहस्य को एकभवावतारी आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने समझ लिया था। तब ही तो उन्होंने मृत्यु को महोत्सव मनाने के लिए संथारा ग्रहण किया, जो ३१ दिन चला। उन्हीं के पट्टधर आचार्य श्री रायचंद जी म. सा. को ३० दिनों का तथा तीसरे पट्टधर आचार्य आशकरण जी म. सा. को ३० दिनों का एवं चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री सबलदास म. सा. को २६ दिनों का संथारा आया। अग्रे भी पट्टधरों को दीर्घकालीन संथारे आये।

□ क्या है मृत्यु? जान ले तो मृत्यु-भय मिट जाये

साधक जो भेदविज्ञान का ज्ञाता होता है वह जानता है कि आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है, अतः उसका मरण कभी नहीं होता। वह शुद्ध आत्मा तो देह से भिन्न अनंत ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न है।

लेकिन वही आत्मा देह के ममत्व के निमित्त से शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प के द्वारा आठ कर्मयुक्त होती है, जिससे नामकर्म के उदय के कारण शरीर का एवं आयुष्य कर्म के कारण जीव का शरीर के साथ रहने की स्थिति का निर्धारण होता है। यह चक्र संसारी आत्माओं के अनादिकाल से चल रहा है।

मरण का सम्बन्ध शरीर से है। वर्तमान आयु से भिन्न अन्य आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का विनाश होना मरण है। अर्थात् अन्य आयु का उदय आने पर नूतन शरीर-पर्याय धारण करने के लिए पूर्व (वर्तमान) शरीर-पर्याय का नष्ट होना मरण है।

शरीर संयोगज है। शरीर पौद्गलिक है, जड़ है और शीर्ण होने वाला है, मरणधर्मा है, नाशवान है, इसलिए कहा है—“शीर्यते इती शरीराणि” शरीर यह इसका सार्थक नाम है और जीवात्मा तो चैतन्य धन, सद्चिद् आनन्दस्वरूप है, शाश्वत है। लेकिन यह जीवात्मा अज्ञान के वशीभूत होकर शरीर में आत्म-वृद्धि करता है और शरीर में आत्म-वृद्धि होना संसार के दुःखों का मूल कारण है।

यद्यपि शरीर जीव के लिए अपकारी है लेकिन मुमुक्षु जन इसे मोक्षमार्ग में लगाकर उपकारी बना लेते हैं। जैसे अग्नि जलाती भी है और पकाती भी है। जलाने के लिए किसी सावधानी की आवश्यकता नहीं परन्तु पकाने के लिए अत्यंत सावधानी-जागरूकता की आवश्यकता होती है। कहा भी है—

यज्जीवस्योपकाराय तद् देहस्यापकारकं ।

यद् देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥

अर्थात्—जो संयम, वैयावच्च, अनशनादि तप जीव के उपकारक हैं, वही शरीर के लिए अपकारक हैं और जो धन, वस्त्र, भोजनादि शरीर के उपकारक हैं, वही जीव के अपकारक हैं।

जो हम मृत्यु के भय को मिटाना चाहते हैं तो हमें जीवन में पूर्ण जागरूक (अप्रमत्त) रहना होगा और सदैव वर्धमान परिणामों में शुभ अध्यवसायों में प्रवृत्त होना होगा। वर्धमान परिणामों में एवं अप्रमत्त अवस्था में नवीन आयु का बंध ही नहीं होता और वर्तमान आयुष्य कर्म प्रतिक्षण क्षीण होते-होते जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब आत्मा शरीर को त्यागकर स्वभावस्थ अशरीरी बन जाता है।

इस रहस्य को जानने के बाद साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता। वह तो सदैव अप्रमत्त रहकर पापकर्मों से बचने की साधना करता है, त्रियोग की प्रवृत्तियों में सावधान बन जाता है, ‘शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्’ मानकर उसी दृष्टि से शरीर का पोषण तो करता है लेकिन पूर्ण जागरूकता के साथ। इस बात का पूर्ण लक्ष्य रखता है कि भोजन, शयनादि में प्रवृत्ति ऐसी और उतनी ही हो जिससे इन्द्रियाँ अपने अधीन रहें। ऐसा न हो कि अनादिकालीन वासना के वश में होकर वह कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो। ऐसा मुमुक्षु साधक

आयुष्य के अंतिम भाग में निश्चित ही संलेखना-संधारा कर आत्म-कल्याण के पथ को प्रशस्त बनाता हुआ मोक्ष-मंजिल को निकटतर बना लेता है या मोक्ष पा लेता है।

□ मोक्ष-प्राप्ति

इन सभी चरमशरीरी राजकुमार मुनियों ने आयुष्य के अंतिम भाग में शत्रुञ्जय पर्वत पर जाकर संलेखना कर संधारा किया। तीस दिन का इन सभी का संधारा हुआ। मरण-धर्म प्राप्त कर ये सभी सर्वकर्मों से मुक्त हुए।

इनके पावन आदर्श जीवन से आप भी कुछ सीखें, आत्मज्ञानी बनें, जीवन को धर्ममय बनाकर मरण को महोत्सव का रूप दें। यही शाश्वत आनंद का राजमार्ग है।

आनंद ही आनंद !



जादव कुल की सतियाँ

(श्रीकृष्ण महाराज की आठ पटरानियाँ व दो पुत्र-वधुएँ)

न काम-भोगा समयं उर्वेति, न या वि भोगा विगइं उर्वेति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसि मोहा विगइं उवेइ ॥

(उत्तरा. ३२/१०१)

आत्म-बन्धुओं!

जो स्वयं वीतराग हैं, वे ही राग-द्वेष रूप विकारों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बता सकते हैं। वस्तुतः कामभोग और शब्दादि विषय न तो स्वयं में समता के कारण हैं और न विकृति के कारण किन्तु कामभोग में और शब्दादि विषयों में प्राणी की जो राग-द्वेषमय वृत्ति है, उसी वृत्ति के कारण, वह उनमें विकारभाव प्राप्त करता है। जो जीवात्मा इन शब्दादि विषयों के प्रति अनासक्त भाव रखता है वह संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह तो ऐसा रहता है इस संसार में, जैसे किसी पुष्करिणी के जल में रहा हुआ पलाश-कमल जल से निर्लिप्त रहता है। कहा भी है—

न लिप्पई भव मज्झे वि सन्तो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।

(उत्तरा. ३२/४७)

□ शुद्ध आचरण ही प्रथम धर्म है

संसार में रचे-पचे, मोह-माया के पंक में धँसे, अहं और लोभ के विष को अमृत मानने वाले जीव इस स्थिति तक कैसे पहुँच पायेंगे? इसके लिए उन्हें श्रुतवाणी का श्रवण करना होगा, मनन-चिन्तनपूर्वक उसे जीवन-व्यवहार में स्थान देना होगा, स्वाचरण को धर्मानुरंजित करना होगा। प्रभु महावीर के उद्घोष—“आयारो पढमो धम्मो” तथा “एगे चरेज्ज धम्मं” के अनुसार उत्तम आचरण ही प्रथम धर्म है और ऐसे धर्म के लिए भले ही कोई साथ दे या न दे, अकेले ही उसके पालन में सन्नद्ध बन जाना चाहिए।

□ आत्म-ज्ञान हो तो आचरण शुद्ध बने

आचरण की श्रेष्ठता के लिए चाहिए—‘आत्म-ज्ञान’। चिन्तन करें कि ‘मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है?’

इन तीन प्रश्नों के चिन्तन से आप आत्मा की अपने आप की पहचान कर लेंगे। होता यह है कि व्यक्ति जीवादि नौ तत्त्वों का सार्थ ज्ञाता बन जाता है, कर्म-प्रकृति रट लेता है, सम्यक्त्व के सड़सठ बोल भी कंठस्थ कर लेता है, पर वह स्वयं अपने को जानने का प्रयत्न नहीं करता और जब तक कोई अपने को नहीं जान लेता, शेष ज्ञान का होना वैसे ही है जैसे अनेक शून्य हैं, पर उनके पूर्व कोई अंक नहीं हो।

□ शब्दों की चुस्ती छोड़, आचरण में चुस्ती लाइए

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति का एक सूत्र है—“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।” कितनी बार आप सुन चुके हैं इस सूत्र को, पर अभी तक सूत्र की भावना तक आपकी पहुँच बनी नहीं है, बन गयी होती तो आपका स्थान वहाँ श्रोताओं में न होकर, यहाँ हमारे साथ आत्म-साधकों की तल्लीनता में होता। आज प्रवक्ता बहुत मिलेंगे पर चारित्राचार के शुद्ध पालक मिलने में थोड़ी कठिनाई सामने आ सकती है। जो व्यक्ति शब्दों में भले ही सुस्त, पर चारित्र में चुस्त है, वही पूज्य है, श्रद्धेय है, उत्तम साधक है। इसके विपरीत शब्दों में यदि चुस्त और चारित्र में सुस्त है तो कहना होगा—

जहा खरो चंदणभारवाही, भरस्स भागी न हु चंदणस्स।

एवं खु णाणी चरणेण हीणो, णाणस्स भागो न हु सुग्गइए॥

ज्ञानी है पर चारित्रहीन है तो चंदन का भारा वहन करने वाले गर्दभ की तरह है, जिसे चन्दन की सौरभ से कुछ लेना-देना नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं उस महक से। व्यवहार में जो ज्ञान उतरने योग्य है, उत्तम जीवन-निर्माण के लिए उसे व्यवहार में यदि नहीं अपनाया तो वह ज्ञान भी भार रूप है। सर्वज्ञों का कथन है—“ज्ञानस्य फलं विरति।”

आप श्रुतवाणी श्रवण कर रहे हैं और ज्ञान की प्राप्ति कर रहे हैं। ज्ञान का फल होना चाहिए विरति, विरक्ति, वैराग्य। क्या वह फल आपको प्राप्त हो रहा है। कैसे होगा? व्याख्यान समाप्त हुआ कि बैठकर-आसन झटक दिया यहीं। जो कुछ सुना छोड़ दिया यहीं।

□ आत्मा को जागृत बनाइए

बंधुओं! दिन हैं पर्युषण के, आत्मा के निकट पहुँचने के, पर स्थिति विकट है क्योंकि आपकी आत्मा तो दूर होती जा रही है। आप प्रयत्न ही नहीं करते निकट उसके पहुँचने का। यह प्रेरणा-पर्व श्रुतवाणी के माध्यम से नित्य सचेत बनाता है कि आत्मा को जागृत करो, उसकी अनंत शक्तियों को उद्घाटित करो, प्रभु-वाणी का सार जीवन-व्यवहार में उतारो और अपने आप में ऐसा परिवर्तन लाओ कि आपका पल-पल आध्यात्मिकता के रंग में रंग जाये।

□ परिवर्तन कहाँ हो ?

मैं कई बार जब इस तरह आध्यात्मिक चेतना लाकर जीवन-व्यवहार में परिवर्तन की बात करता हूँ तो आज का युवा वर्ग हमें ही अपने में परिवर्तन लाने की बात उठाता है। उनका कहना है—“महाराज! क्यों आप इस तरह से अपनी पुरानी परम्पराओं पर अड़े हुए हैं? क्यों नहीं इन परम्पराओं में कुछ परिवर्तन करते? सारा जमाना बदल रहा है, युग-परिवर्तन हो चुका है फिर आप उसी पुरानी लीक पर क्यों चल रहे हैं?”

□ धर्म शाश्वत है ! उसमें नहीं अपने में परिवर्तन करें

मेरा युवा-वर्ग से कहना है कि धर्म के पथ पर चलने वालों को कभी धर्म को बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। धर्म तो जैसा है वैसा शाश्वत है, सार्वकालिक है, सार्वभौमिक है। मूलतः धर्म अनंत काल पूर्व जैसा था, आज भी वैसा ही है और भविष्य में अनंत-अनंत काल तक उसके मूल सिद्धान्त वैसे ही रहेंगे। इस तरह हमें उन आगम सिद्धान्तों को मोड़ने की या उनमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। जमाना बदल गया है, अतः बदलना आप लोगों को ही है। जिस दिशा में आप बेतहाशा भाग रहे हैं, जरा उस दिशा को थोड़ा-सा बदलिए। अपने में थोड़ा-सा परिवर्तन लाइए। यदि हम साधक-वर्ग ही बदल गये, साधना-पथ को यदि हमने कुछ और रंग में रंग दिया तो फिर शेष रहेगा ही क्या? फिर तो बदलने की कोई बात रहेगी ही नहीं। परिवर्तित युवा-वर्ग को होना है और उस परिवर्तन की पहली सीढ़ी है—‘व्यसन-मुक्ति’।

□ युवा-वर्ग और व्यसन

आज युवा-वर्ग नित्य नये व्यसनों का शिकार होता जा रहा है। उन व्यसनों की कृपा से उनमें अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही हैं। युवक चाहें तो आसानी से व्यसनों को छोड़

सकते हैं। वस्तुतः व्यसन है क्या? जिन पदार्थों के उपयोग या सेवन की आवश्यकता नहीं, उन्हें टाइम-पास करने के लिए, मित्रों के संग उन्हीं की तरह अपने को प्रकट करने के लिए, आडम्बर और प्रदर्शन के लिए सेवन प्रारंभ करना, फिर धीरे-धीरे उसे आदत बना लेना। आदत भी ऐसी कि यदि वह व्यसन की वस्तु न मिले तो मन भटके, तन शिथिल बन जाये, किसी काम में मन ही न लगे। आज का युवक-वर्ग विशेष रूप से जर्दायुक्त गुटके का, ताश-जुआ का, चाय का व्यसनी अधिक बन रहा है। धनी-वर्ग में शराब के व्यसन का प्रचलन भी बढ़ गया है। कोई धन के नशे में पी रहा है तो कोई धन न होने के गम में। “दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।” ये दोनों दुःखी हैं और अपने दुःख को भुलाने के लिए अनुचित रास्ते पर बढ़ जाते हैं।

□ व्यसन अत्यंत हानिकारक

व्यसन की वस्तुएँ बढ़ रही हैं—जर्दा, गुटका, पान मसाला, भांग, गांजा, सिगरेट, हुक्का, शराब, धूम्रपान आदि। अनेक तरह के, अलग-अलग प्रकार के व्यसन। जानते हैं सभी कि ये व्यसन हानिकारक हैं। तन, धन, समय त्रिविध तापकारी हैं। विचार-शक्ति को भी निर्बल बनाने वाले हैं। अनेक रोग इन व्यसनों से संभाव्य हैं, हो सकता है कैंसर भी हो जाये और असमय मृत्यु का आलिंंगन करना पड़े।

व्यसन से इन्सान परवश बन जाते हैं। जिस वस्तु का व्यसन, उस वस्तु के प्रति गुलामी स्वीकार कर लेते हैं। कहने को भारत स्वतंत्र हो गया, भारतीय स्वतंत्र हो गये पर भारतीयों में से अधिकांश व्यक्ति आज भी आचार-विचार, संस्कृति, वेश, रहन-सहन, भाषा आदि से गुलाम ही हैं। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक दर्शन की झलक स्पष्ट नजर आयेगी पर भारत के लोगों ने अपनी संस्कृति का त्याग कर विदेशी संस्कृति को अपना लिया है। आवश्यक हो गया है कि अब इसमें परिवर्तन लाया जाये। रहन-सहन, शिक्षा, भाषा, आचार-विचार में परिवर्तन लाकर इस देश की जनता को, विशेषकर युवा-वर्ग को एक आध्यात्मिक लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ना है।

□ आज का व्यसन-त्याग, पीढ़ियों तक सुफलदायी

आज यदि युवा-वर्ग दुर्व्यसनों से अपने को मुक्त बनाता है, संकल्प लेता है कि वह भविष्य में कभी किसी व्यसन का सेवन नहीं करेगा तो आने वाली पीढ़ी का भविष्य

उज्ज्वल बन सकेगा। आपका तो जीवन-हित होगा ही उनका जीवन भी सँवर जायेगा। दुर्व्यसन से जीवन नारकीय बन जाता है और निर्व्यसनी का जीवन स्वर्ग-तुल्य हो जाता है। दुर्व्यसनी व्यसनों का आदि बनकर कितना अहित कर लेता है अपना? जो युवा जर्दा-गुटखा खाते हैं, उनके माता-पिता अक्सर यहाँ आकर कहते हैं—“गुरुदेव! बाबू गुटखो खावणी सीखग्यो, अबे उणरो मुंडो पूरो नहीं खुले।”

—“गुरुदेव! छोरा रे मुंडा में हर टेम छाला रेवे। मिर्ची तो वो मुंडा में नाख ही नहीं सके।”

—“गुरुदेव! टाबर गुटखो खावणी सीख गियो। अबे हालत आ है के कोई गर्म चीज नहीं खाय सके।”

जो गुटखा खाते हैं, वे भी जानते हैं इसके दुष्प्रभाव को। समझते हैं वे भी अपने मन में कि यह विष है, धीमा-जहर है पर गुलाम बन गये हैं उसके, अतः छूटता नहीं वह व्यसन। बंधुओं! व्यसन सेवन करने का अर्थ है जानबूझकर तनावों को आमन्त्रण देना, रोगों को निमन्त्रित करना, विनाश को गले लगाना और दिन-प्रतिदिन मृत्यु के अधिक निकटतर बनते जाना।

व्यसनी व्यक्ति को भिखारी भी बनना पड़ता है। आदत ही ऐसी पड़ जाती है कि जिस वस्तु का व्यसन है वह नहीं मिले तो किसी व्यक्ति से उस वस्तु की भीख माँगते शर्म नहीं आयेगी। बीड़ी-सिगरेट पीने वाले अधिकतर माचिस या लाइटर माँगते देखे जा सकते हैं। बीड़ी-सिगरेट पास में न हो तो किसी अन्य से वह भी माँगने में संकोच वे नहीं करते। नशेबाज, नशेबाज को पहचान लेता है तभी अपने व्यसन की वस्तु माँग लेता है। व्यर्थ की पहचान करना तो वह सीख लेता है, पर स्व-चिन्तन में नहीं जाता। स्व में जो जाये, स्व को यदि पहचाने तभी इस जीव का कल्याण संभव है, यह जन्म सार्थक है। बाह्य पदार्थों से जोड़, सम्बन्ध, रिश्ते-नाते आदि तो अनंत-अनंत काल से चल रहे हैं पर अंतरात्मा से पहचान नहीं की तो अनंत काल तक यही रंग-ढंग, यही जोड़-तोड़ चलता रहेगा।

□ जुड़ना किससे? अलग होना किससे?

व्यसन सेवन करते समय व्यसन सम्बन्धी कोई बात बहुत धीरे से कोई कहे तो भी सुन लेगा व्यसनी व्यक्ति, पर आश्चर्य कि वह अपने ही अन्तर् की आवाज को नहीं सुनता। ये

पर्व अन्तरात्मा से पहचान करने का सन्देश देते हैं, आत्मा से जुड़ने का सन्देश देते हैं, आत्म-गुणों को जीवन में ग्रहण करने का सन्देश देते हैं। आत्मा से जुड़ने के लिए कर्मों को तोड़ना होगा। जोड़ने के लिए तोड़ना पड़ेगा, अलग होना पड़ेगा। स्थिति इससे विपरीत है—जिससे अलग होना है उससे जुड़ा जा रहा है और जिससे जुड़ना है उससे अलग हुआ जा रहा है।

आत्मा व कर्म की बात ही नहीं, सांसारिक सम्बन्धों में भी आज यही चल रहा है। एक युवक आया दर्शनार्थ तो मैंने उससे पूछा—“क्या बात है? बहुत दिन हो गये, दिखाई नहीं दिये। यहाँ आये नहीं। घर गोचरी भी गया तब भी दिखाई नहीं दिये।”

युवक ने कहा—“गुरुदेव! अलग रहता हूँ।”

मैंने कहा—“क्यों भाई! तुम तो अपने पिता की एकाएक सन्तान हो फिर उनसे अलग क्यों हो गये?”

वह युवक इसका कुछ भी समाधान नहीं दे सका। कैसी विषम स्थिति है? जिनके ‘नेड़ा (पास) रहना है, उनसे ‘नेरा’ (अलग) रहा जा रहा है। यह है कुबुद्धि। कुबुद्धि सिखाती है उल्टे काम। कैसे? इसे जानने के लिए एक कथा-प्रसंग सुनिए—

प्रसंग—‘नेरा’ नहीं, ‘नेड़ा’ रहूँगा

एक गाँव में एक जाट और एक जाटनी रहते थे। दोनों का काम खेती-बाड़ी से चलता था। जाट प्रकृति से सरल था, पर जाटनी चतुर थी। वह घर का सारा काम-काज चतुरता से, सफाई से और समय पर कर लेती थी। जाट कुछ आलसी भी था, अतः वह गप्पों में बैठ जाता, सो जाता, आलस्य में खो जाता।

अनेक बार जाटनी जाट को टोकती कि तुम समय पर काम नहीं करते। कई बार देर से उठने पर भी जाटनी जाट को झिड़क देती कि “इतनी देर से उठे हो, जल्दी क्यों नहीं उठते। मैं कितनी जल्दी उठती हूँ। सारे मर्द उठकर काम पर चले जाते हैं तब तुम्हारी नींद खुलती है। कभी भगवान की माला तक नहीं फेरते। उठकर सीधा खाना माँगते हो। सारे दिन खाने की ही पड़ी रहती है तुम्हें। मैं रोटियाँ पो-पोकर, खाना बना-बनाकर परेशान हो जाती हूँ। कितना काम करना पड़ता है मुझे!”

जाट आखिर जाट था। सुनी पत्नी की बातें तो खोपड़ी उलट गई। भड़क गया वह। यह कैसी जाटनी? 'मेरा खाती है और मुझे ही भला-बुरा सुनाती है। मैं क्यों सुनूँ इसकी? मैं मर्द हूँ। औरत आखिर औरत होती है।' वह तैश में आ गया और बोला—“सुन! तू औरत जात होकर हद से बाहर जा रही है। अब तेरी-मेरी बनने वाली नहीं। बस, आज से तू अलग, मैं अलग।”

जाटनी ने सोचा—‘यह तो बुरी बात होगी। लोग क्या सोचेंगे और क्या कहेंगे?’ बोली वह—“अरे! ऐसी बात क्यों करते हो? अलग तो बेटे होते हैं अपने माता-पिता से। व्यापार-व्यवसाय हो या खेती-बाड़ी हो तो साझेदार (Partner) अलग होता है। भला कभी पति-पत्नी भी अलग हुए हैं?”

इतना कहने पर भी जाट नहीं माना। वह अपनी हठ पर अड़ा रहा। आखिर विवश होकर पत्नी को भी मानना पड़ा। घर-बिखरी का जितना सामान था उसका बँटवारा हुआ। गहने तो थे नहीं। चाँदी के कुछ गहने जाटनी ने पहने हुए थे पर वे भी उसके पीहर के थे। अब रहा मकान। मकान था भी क्या? एक कच्चा झोंपड़ा-सा मकान था। पड़ोसी उसे पड़वा कहते थे। उस कच्चे पड़वे के बीच एक टाटी लगायी गई। एक तरफ जाट, दूसरी तरफ जाटनी।

एक भैंस भी थी। अब उसे कैसे बाँटा जाये? दो टुकड़े तो उसके किये नहीं जा सकते थे। दो होतीं तो दोनों को एक-एक मिल जाती पर दो थीं नहीं। अब क्या किया जाये?

जाटनी बोली—“दिन में यह भैंस मेरे पास रह लेगी और रात में इसे अपने पास रख लेना।”

जाट ने सोचा—‘दिन में ही तो भैंस की सार-सँभाल करनी पड़ती है, चारा डालना पड़ता है, रखवाली करनी पड़ती है। रखने दो इसे दिन में।’

जाट ने हाँ भर ली। जाटनी उसे स्नान कराती, चारा खिलाती, सार-सँभाल करती और शाम को दूध निकालकर उसे भैंस सौंप देती। जाट उसे रात खूँटे से बाँध देता। सो जाता। देर से उठता। इतने में तो जाटनी उसे खूँटे से खोलकर ले जाती।

अब जाटनी टाटी के उस पार से कहती—“आज तो खूब दूध दिया भैंस ने।”

कभी कहती—“अहा! कितना मीठा दूध है भैंस का।”

कभी कहती—“आज तो दूध पर कितनी अच्छी मलाई आयी है।”

कभी कहती—“आज तो खीर बनाई है। मन तो होता है टाटी के उस पार वाला भी खाये पर क्या करूँ? वह तो ‘नेरा’ (अलग) हो गया, अलग रहता है। ‘नेरा घर रा नेरा बारणां।’ प्रीत ही टूट गयी तो खिलाना कैसा?”

कभी जाटनी कड़ाव में दूध धर देती और जानबूझकर जोर-जोर से खुरपा हिलाती।

जाट परेशान, हैरान, उदास। वह तनावग्रस्त हो गया। एक दिन सोचा—‘सब इस टाटी का कबाड़ा है। यह टाटी ही सारे स्वांग करा रही है। टाटी है तब इतनी बातें सुना रही है—ये जाटनी! क्यों न इस टाटी को ही मिटा दूँ।’ उसने उठाया एक मोटा डंडा और टूट पड़ा टाटी पर। जाटनी बोली—“अरे रे! यह क्या करते हो? ‘नेरा’ नहीं रहना क्या?”

जाट बोला—“यह टाटी बहुत दुःख देने वाली है। आज तो इसे मिटाकर ही दम लूँगा। ‘नेरा’ रहने की बात गलत, अब तो ‘नेड़ा’ रहूँगा।”

□ आत्मा के निकट रहना है

पर्युषण का भी यही सन्देश है—‘नेड़ा’ रहना है, पास-पास रहना है, निकट रहना है। किसके? उत्तर मिलता है—‘आत्मा के।’ आप हैं कि जिसके ‘नेड़ा’ रहना चाहिए, उससे ‘नेरा’ होते जा रहे हैं, अलग होते जा रहे हैं। क्यों? कारण है अज्ञान, मिथ्यात्व। अज्ञान और मिथ्यात्व की यह टाटी ही चेतनात्मा को रुला रही है, दुःख दे रही है। यह अज्ञान ही है जो व्यक्ति को व्यसन के नजदीक ले जाता है और व्यक्ति व्यसन का दास बन जाता है, गुलाम बन जाता है और तब उसकी आत्मा जड़-पदार्थों की गुलाम बन जाती है।

□ दुर्व्यसनों से दासता

एक बहन को उपवास करने की बात कही। बहन ने कहा—“महाराज! चाय को नशो है, ओ छूटे कोनी। आप चाय की छूट दे दिरावो पछे मैं सेंठी, आप केवो तो अठाई, मासखामण भी कर लूँ।”

आप ही बताइए, क्या यह गुलामी नहीं है? चाय की तरह अनेक वस्तुओं की गुलामी भी व्यसन के कारण होती है। इसे कहते हैं भौतिक वस्तुओं की गुलामी। आध्यात्मिक पर्व

का सन्देश है—अध्यात्म से जुड़ें, आत्मा से जुड़ें। इसके लिए भौतिक वस्तुओं की गुलामी को, जड़ वस्तुओं के आकर्षण को त्यागना होगा। प्रारम्भ में मैंने आपसे परिवर्तन की बात कही थी। बदलिए अपने आपको। आइए इस आध्यात्मिक क्षेत्र में। छोड़िए पर-पदार्थों के प्रपञ्च को। करेंगे ऐसा तो एक प्रकाश मिलेगा। अद्भुत प्रकाश! निराला अनुभव! अलौकिक शांति, सुख, चैन!

समय रहते चेतन बन जाइए। भाग रहा है समय। जो गया वह वापस नहीं आने वाला। करेंगे परिवर्तन तो समय बदलेगा, भाग्य बदलेगा। ऐसे ही रहे तो समय आपको, आपके भाग्य को बदल देगा। यह समय भी आयेगा एक दिन कि यहाँ से चला-चली की बेला हो जायेगी। यहाँ अमर कौन है? ठाकुर, जमींदार, राजा, महाराजा, सम्राट् सभी को उस रास्ते पर जाना है। कहा भी है—

रही घणा दिन राज में, बेअद इण बरतीह।
आ जाती करे जवारड़ा, धणियांसू धरतीह॥

□ द्वारिका के विनाश की आधार-भूमि : मद्यपान

धरती यहीं रह जाती है, पर इस धरती पर राज करने वाले धरती पर उपलब्ध भोग-पदार्थों को भोगने वाले, जीवनभर धन, माया और कुटुम्ब की मोहासक्ति में बँधे रहने वाले एक दिन धरती से उठकर चले जाते हैं। वासुदेव श्रीकृष्ण जैसे त्रिखंडाधिपति, शक्ति और सत्ता-सम्पन्न भी चले गये। उनके लिए कहा है गीतकार ने—

नगरी द्वारिका देखण लायक
छप्पन कोड जादव को नायक
कृष्ण महाबली सुर थे पायक
भस्म हुई क्षण मांय देखतां सब कमट्टाणा रे।
मती कर गर्व दिवाना, सुण सतगुरु की सीख सयाणा
धर्या रहे धनमाल, होत तन राख मसाणा रे ॥ मती... ॥

नोट : द्वारिका-नाश का प्रसंग बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन भाग-१ के २०वें प्रवचन में आया हुआ है लेकिन यहाँ प्रसंगोचित होने से पुनः दिया जा रहा है।

अंतगडसूत्र में वर्णन आता है श्रीकृष्ण की मृत्यु और उससे पूर्व सम्पूर्ण स्वर्ण नगरी द्वारिका के विनाश का, यादव जाति के पूर्णतः नष्ट होने का। छप्पन कोटि यादव थे, पर भस्म होते छप्पन क्षण भी नहीं लगे।

□ द्वारिका का विनाश—यादव कुल का नाश

महाराज समुद्रविजय एवं महारानी शिवादेवी के अंगजात तीर्थंकर अर्हत् अरिष्टनेमि केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् अनेक ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते द्वारिका नगरी में पधारे और सहस्राभ्रवन में विराजमान हुए। प्रभु के दर्शन एवं वन्दन के लिए बलराम, श्रीकृष्ण एवं समस्त राज-परिवार वहाँ गया। देवरचित समवसरण में प्रभु की अमोघ अमृतमय धर्मदेशना चल रही थी। सभी यथास्थान बैठकर देशना श्रवण करने लगे।

कृष्ण के मन में विचार उत्पन्न हुआ—‘ये जालि, मयालि, उवयालि आदि यादव कुमार धन्य हैं जिन्होंने युवावस्था में संयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण का पथ ग्रहण किया है। मैं तो राजसुखों में मगन हूँ, कामभोगों में उलझा हुआ हूँ, संसार से विरक्त नहीं हो पा रहा हूँ। कहने को मैं अर्द्ध-चक्री हूँ पर कितनी असमर्थता, अशक्यता कि मैं प्रव्रज्या ग्रहण नहीं कर सकता। प्रभु सर्वज्ञ हैं, पूछूँ इनसे कि क्या मैं दीक्षा अंगीकार कर सकता हूँ?’

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त अरिष्टनेमि ने वासुदेव कृष्ण के मन में उत्पन्न भावों को जानकर कहा—“कृष्ण! सभी वासुदेव कृत-निदान होते हैं, अतः वे दीक्षा ले नहीं सकते।”

इन पर कृष्ण ने पूछा—“भगवन्! यदि ऐसा है तो मेरा मरण किस प्रकार होगा?”

प्रभु ने कहा—“तुम्हारे भ्राता जराकुमार के बाण द्वारा।”

कृष्ण ने फिर पूछा—“क्या द्वारिका में ही?”

प्रभु बोले—“नहीं, द्वारिका तो पहले ही नष्ट हो जायेगी।”

कृष्ण सुनते ही सकते में आ गये। सँभलकर पूछा—“द्वारिका के नाश का कारण क्या बनेगा?”

इस पर प्रभु ने बताया कि “द्वैपायन ऋषि, मदिरा और अग्नि—ये तीन तत्त्व द्वारिका-विनाश के हेतु बनेंगे।”

चिन्तित कृष्ण ने तब पूछ लिया—“प्रभु! द्वैपायन ऋषि का द्वारिका पर ऐसा अनिष्टभाव क्यों?”

भगवान ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—“कृष्ण! किसी समय शाम्ब आदि यादव-कुमार मदिरापान कर नशे की अधिकता में बेभान हो घोर तपस्वी द्वैपायन ऋषि को निर्दयता से पीटेंगे। क्रुद्ध ऋषि तब सम्पूर्ण यादवों के साथ पूरी द्वारिका नगरी को जलाकर राख बना देने का शाप देगा। ऋषि वहाँ से निदानपूर्वक काल कर अग्निकुमार जाति का देव बनेगा, वही द्वारिका जलायेगा। केवल तुम और बलराम बचकर निकल सकोगे। तब पाण्डु मथुरा जाते हुए तुम्हारी मृत्यु कौशाम्बी वन में तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से होगी। मरकर तुम तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होओगे।”

सुनकर कृष्ण के चेहरे पर खेद के भाव उभर आये तब तीर्थकर भगवन्त ने कहा—“खेद क्यों करते हो कृष्ण? वहाँ से निकलकर तुम जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अमम नाम के बारहवें तीर्थकर बनोगे।”

महामहिमामय तीर्थकर जैसे पद-प्राप्ति की बात सुनते ही कृष्ण का खेदभाव विलुप्त हो गया, चेहरे पर हर्ष की रेखाएँ खिंच आयीं। हर्षानुभूतिपूर्वक उठकर अपने आसन से सात-आठ कदम पीछे सरक, सिंहनाद करके, भुजा स्पोट किया।

समवसरण में जराकुमार भी था। प्रभु के मुँह से यह सारा विवरण सुन जराकुमार ने विचार किया—‘मेरे हाथों से भ्राता की मौत, यह तो महापाप है।’ वे केवल अपना धनुष-बाण अपने साथ ले द्वारिका को छोड़कर चले गये। मन में उनके संकल्प था कि इतनी दूर चला जाऊँगा कि पुनः यहाँ आ ही न सकूँ।

द्वैपायन तापस ने कई दिन पश्चात् लोगों के मुँह से यह सारी बात सुनी तो वह भी द्वारिका से दूर, बहुत दूर जंगलों में चला गया, जिससे उसके द्वारा द्वारिका का अहित न हो सके।

व्यक्ति अहित का कारण ज्ञात हो जाने पर उन कारणों के निवारण के लिए अवश्य प्रयत्नशील बनता है। यदि नहीं बनता तो यह उसकी मूर्खता है। सर्वज्ञों ने बताया है कि कार्य चाहे हित का हो या अहित का, सृजन का या विनाश का, जब तक काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ आदि का संयोग नहीं मिलता तब तक किसी भी कार्य की पूर्ति या पूर्णता संभव नहीं है। कार्य की सम्पन्नता में एक मुख्य रहता है, शेष गौण रहते हैं। मानव को चाहिए कि कारण या निमित्त को जानकर यथावश्यक, यथाशक्ति पुरुषार्थ के

लिए सदैव तत्पर रहे। वासुदेव श्रीकृष्ण ने भी यही किया। द्वारिका और यादवों की रक्षार्थ पूरी नगरी में कठोर मद्य-निषेधाज्ञा करवा दी। नगरी में विद्यमान समस्त मद्य-पात्रों एवं मद्य-भंडारों को अनर्थ मूलक घोषित कर उन्हें राज्यादेश से द्वारिका से दूर कदम्ब वन में फिंकवा दिया। मदिरा फेंकने के पश्चात् अकाल में तेज वृष्टि हुई।

वैशाख मास की तन-बदन में अग्नि-सी दहकाती गर्मी पड़ रही थी। यादव-कुमार तपन से व्यथित हो कदम्ब वन की ओर घूमने चल पड़े। चलते-चलते प्यास लगी। कदम्ब वन में जो शराब फिंकवाई गयी थी, वह फेंकी गई मदिरा वन के पके फलों, पत्रों-पुष्पों के साथ में पानी के प्रवाह में बहती हुई, शिलाखण्डों से होती हुई कादम्बरी गुफा के किसी शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गयी। पड़े-पड़े कितने ही दिन बीत गये, अतः वह मदिरा अधिक नशीली, अधिक स्वादिष्ट हो गयी। प्यासे यादव-कुमारों ने प्यास बुझाने के लिए उसे पीया। स्वादिष्ट लगी तो और पीया। अधिक पीने से नशा चढ़ आया। नशे में वे सभी झूमते हुए फिरे। घूमते-घूमते उनकी नजर द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। पूछा—“तुम कौन हो?” शान्त स्वर में द्वैपायन ने अपना नाम परिचय दिया और कहा—“यादवों का हितैषी हूँ। श्रीकृष्ण का अनुरागी हूँ।” नशे में धुत् साम्ब ने कहा—“नहीं, नहीं! तेरे कारण यह द्वारिका नष्ट होगी पर नहीं हम पहले ही तुम्हें नष्ट कर देंगे।” द्वैपायन ने उन्हें समझाने का प्रयास किया पर वे परवश थे। पहले तापस की अवहेलना की, मजाक उड़ाई, एक-दो हाथ लगाये फिर पीटने लगे। खूब मारा द्वैपायन तापस को। पहले तो तापस ने सहन किया फिर अधिक पीड़ा होने लगी। असह्य हो उठी पीड़ा तो निदान कर लिया कि मैं इन कुमारों और सम्पूर्ण द्वारिका को भस्मीभूत करूँ।

कृष्ण को ज्ञात हुआ तो गये बलदेव के साथ द्वैपायन ऋषि से क्षमा माँगने।

बंधुओं! वासुदेव श्रीकृष्ण, त्रिखंडाधिपति थे, अतीव वैभव बल के स्वामी थे पर महानता हृदय की कैसी? क्षमा माँगी ऋषि से। क्षमा भी कैसी? आपकी तरह जबानी जमा-खर्च नहीं, वाचिक क्षमा याचना नहीं अपितु अंतःकरण से। आप प्रतिवर्ष क्षमापना-पर्व पर क्षमा याचना करते हैं, पर उसमें भावों का सद्भाव कहाँ? आप तो औपचारिकता का निर्वहन मात्र करते हैं। जो कुछ भी करते हैं बहिर्मन से करते हैं, बहिर्करण से करते हैं। इस प्रकार की क्षमा याचना कोई अर्थ नहीं रखती, कोई शुभ फल नहीं देती।

द्वैपायन ऋषि ने कहा—“मैंने निदान किया है, अतः अब तो द्वारिका का बचना संभव नहीं है, पर तुम्हें और बलदेव को मैं बचाने का वचन देता हूँ।” पूर्व में द्वैपायन ऋषि ने अनेक प्रकार की तपस्या की थी। अन्त में अनशन किया। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार जाति का देव बना।

□ द्रव्य-मदिरा और भाव-मदिरा

वासुदेव श्रीकृष्ण जानते थे कि द्रव्य-मदिरा से होने वाले विनाश की अपेक्षा भाव-मदिरा से होने वाला विनाश कहीं अधिक हानिप्रद है। द्रव्य-मदिरा का नशा तो जूते पड़ने पर उतर भी जाता है, पर भाव-मदिरा का नशा जन्म-जन्मांतर तक साथ लगा रह जाता है। ऐसे व्यक्तियों की आत्मा पतन के गहन गर्त में गिरती चली जाती है। क्या है यह भाव-मदिरा? मनीषी आचार्यों ने मोह को भाव-नशा बताया है। यह मोह आत्मा को बेभान बनाये रखता है। इसी मोह के कारण व्यक्ति अज्ञान के गहन अंधकार में भटकता हुआ, मिथ्यात्व में जीवन व्यतीत करता हुआ हिताहित का विवेक भी खो बैठता है।

भाव-मदिरा अर्थात् मोह का नशा जब तक लगा है, नहीं उतरता है तब तक व्यक्ति धर्माचरण नहीं कर पाता, व्रत-प्रत्याख्यान की बात भी नहीं सोच पाता। आप यहाँ बैठे हैं, प्रवचन सुन रहे हैं, समझ भी रहे हैं, पर चिन्तन आपका संसार में, व्यापार में, रिश्ते-नातों में चालू रहता है। कुछ भाई तो अढ़ाई घण्टे तक प्रवचन सुनने के लिए बैठते हैं यहाँ लेकिन सामायिक वेश धारण कर विधिपूर्वक सामायिक व्रत स्वीकार नहीं करते। क्यों नहीं करते? कारण है मोह की प्रबलता, मोहनीय कर्म का जोर। वे यहाँ स्वाध्याय कर लेंगे, आगमसूत्रों व पाठों का पठन-वाचन कर लेंगे, प्रवचन सुन लेंगे या लिख लेंगे, पर अमर्यादित होकर, बिना व्रत लिए, बिना सामायिक लिए बैठेंगे। यह है भाव-मदिरा का नशा। जानते भी हैं कि सामायिक लेकर बैठ जायें तो आस्रव-द्वार बंद हो जायेंगे और निर्जरा प्रारंभ हो जायेगी पर मोह उन्हें रोकता है।

कुछ बंधु तो ऐसे हैं जिन्हें आसन बिछाकर, दुपट्टा लगाकर, मुँहपत्ति बाँधकर बैठने में भी शर्म लगती है, पर आश्चर्य कि उन्हें चोरी-जारी में शर्म नहीं आती, जुआ-सट्टे में संकोच नहीं होता, अनेकानेक बुरे कार्य करते हुए वे कभी नहीं शर्माए पर धर्मकार्य में उन्हें झिझक आती है, शर्म महसूस होती है। मैं पूछता हूँ उनसे कि धर्मसभा है यह तो यहाँ पूर्ण धर्मी की तरह बैठने में शर्म, हिचकिचाहट, झिझक क्यों?

जो संघ के पदाधिकारी हैं, धर्म-स्थानक के व्यवस्थापक हैं, धर्मध्यान में गाढ़ी आस्था रखने वाले बुजुर्गवार हैं, उनका दोष यह है कि वे उन सामायिक नहीं करने वालों को, जाजम पर पीछे बैठने वालों को प्रेरित नहीं करते। आप लोगों का कर्तव्य है कि आप उन्हें प्रेरणा दें, आसन दें, दुपट्टा दें, मुँहपत्ति दें। आप आगेवान हैं, नवागन्तुकों को अपने साथ यदि नहीं मिलाने, उन्हें यदि प्रेरणा नहीं देते, धर्म में उनकी रुचि जागृत करने का पुरुषार्थ नहीं करते तो दोषी आप भी हैं।

□ धर्मो रक्षति रक्षितः

बंधुओं! भाव-मदिरा का नशा जब तक नहीं उतरता तब तक व्यक्ति मोहान्ध बने रहने के कारण धर्माचरण नहीं कर पाता। कथा साहित्य में वर्णन आता है कि वासुदेव कृष्ण ने विचार किया कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' अतः द्वारिका में धर्मानुष्ठान यदि निरन्तर होते रहे तो द्वारिका की रक्षा होती रहेगी। ऐसा विचार कर सम्पूर्ण द्वारिका में प्रतिदिन आयम्बिल की परम्परा प्रारंभ कर दी। एक परिवार में जब आयम्बिल हो जाता तो आयम्बिल के लिए सूचना देने वाला आगे वाले घर में संदेश पहुँचा देता। जिसके यहाँ तप-संदेश पहुँचता, उस घर-परिवार का कोई एक सदस्य उस दिन आयम्बिल करता।

बंधुओं! आयम्बिल जब तक चलता रहा, धर्मानुष्ठान जब तक होता रहा तब तक द्वैपायन जो अब देव था, द्वारिका का बाल भी बाँका न कर सका।

□ वासुदेव कृष्ण की उत्कृष्ट धर्मदलाली

श्रीकृष्ण वासुदेव थे। वासुदेव कभी दीक्षा नहीं लेते। सभी वासुदेव पूर्वभव में निदान (नियाणा) करते हैं, अतः उन्हें कभी प्रव्रज्या आती नहीं। श्रीकृष्ण के विचार उच्च थे। उनका मानस-चिन्तन उन्हें कितनी ही बार आंदोलित करता रहता था कि मेरे पुत्र, पौत्र जालि, मयालि, उवयालि, पुरिससेन, वारिसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, दृढनेमि, सत्यनेमि आदि कुमारों ने दीक्षा धारण की, संसार-पथ का त्याग किया, संयम-पथ को ग्रहण किया, अतः वे धन्य हैं। मैं अधन्य हूँ, अकृत-पुण्य हूँ तभी तो मैं राज्य में, अन्तःपुर में, कामभोगों में लिप्त हूँ। मैं इन्हें त्यागकर दीक्षा लेने में, आत्मा के कल्याण-कार्य में असमर्थ हूँ।

बंधुओं! कैसी उच्च, शुभ भावना! आप भी भावना तो भाते होंगे, चिन्तन तो करते होंगे। कहते भी हैं प्रतिक्रमण करते समय आप लोग—“अढ़ाई-द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में

श्रावक-श्राविका दान देवें, शील पालें, तपस्या करें, शुद्ध भावना भावें, संवर करें, सामायिक करें, पौषध करें, प्रतिक्रमण करें, श्रावक के तीन मनोरथ चिन्तवें, चौदह नियत चितारें।” प्रतिक्रमण के इस पाठ में श्रावक के जिन तीन मनोरथों का उल्लेख आता है, वे तीन मनोरथ क्या हैं? आप श्रावक हैं, क्या कभी आपने यह जानने का प्रयत्न किया है। पहले ही मनोरथ में आता है कि श्रावक प्रतिदिन यह चिन्तन करे कि ‘मेरा वह दिन धन्य होगा जब मैं अपनी समस्त संचित धन-सम्पत्ति रूप परिग्रह आरम्भ का त्याग करूँगा।’ दूसरे मनोरथ में वह यह चिन्तन करे कि ‘मेरा वह दिन धन्य होगा जब मैं संसार की मोह-माया और विषय-वासना का त्याग करके साधु-जीवन अंगीकार करूँगा। अहिंसादि पाँच महाव्रतों को धारण करूँगा। परीषह व उपसर्गों का समभावपूर्वक सहन करते हुए संयम-पथ पर विचरण करूँगा।’

बंधुओं! वासुदेव श्रीकृष्ण सच्चे मन से इन दोनों मनोरथों का चिन्तन करते हैं। तीसरा मनोरथ आपका अंतिम समय में संथारा ग्रहण करने सम्बन्धी है।

श्रीकृष्ण ने जब जाना कि वे निदानकृत हैं, अतः दीक्षा नहीं ले सकते तो विचार किया—‘मैं दीक्षा नहीं ले सकता, पर मैं प्रेरणा तो दे सकता हूँ, सहयोगी तो बन सकता हूँ।’

बस, यही चिन्तन कर उन्होंने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी स्वर्ण-निर्मित द्वारिका में अपने सेवकों से यह उद्घोषणा करवाई कि “देवानुप्रिय प्रजाजनों ! यह साक्षात् देवलोक के सदृश द्वारिका नगरी निश्चय से विनाश को प्राप्त होगी। इसमें रहने वाले अग्नि में जलकर नष्ट हो जायेंगे, अतः जो भी राजा, रानियाँ, कुमारियाँ—कोई भी जन दीक्षा लेना चाहें, संयम-पथ ग्रहण करना चाहें तो उन्हें श्रीकृष्ण वासुदेव की आज्ञा है। यदि इस कार्य में उन्हें कोई अड़चन आती हो, किसी दायित्व के कारण हिचकिचाहट हो तो श्रीकृष्ण वासुदेव उनकी तमाम जिम्मेदारियाँ निभायेंगे।”

यह घोषणा सुनकर सभी सांसारिक दायित्वों की तरफ से निश्चिन्त बन अनेक सेठ-सेठानियों, राजा-रानियों-महारानियों, राजकुमार-राजकुमारियों व अनेक सामान्य नर-नारियों ने प्रभु अरिष्टनेमि के निकट दीक्षा अंगीकार की। इनमें से अनेक भव्यात्माओं ने अपनी समस्त कर्मवर्गणा का समूल नाश कर सिद्धगति को प्राप्त किया और अनेक ने आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ते हुए संसार परिभ्रमण को अति लघु बना लिया, परीत बना लिया।

ऐसे ही समय में वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज ने अपनी उन अनेक महारानियों को भी, जिन्हें प्राप्त करने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े संग्राम किये, आत्म-जागृति का दौर आते ही उन प्राण-प्रियाओं के मोह को भी छोड़ दिया और उन्हें संयम के लिए प्रेरणादायी, अनुमति भी दी।

□ प्रव्रज्या की ओर प्रेरणा

मोहवश रोकने वालों की कोई कमी नहीं है परन्तु कल्याण की भावना से संयम धारण करना, प्रेरणा देना महान् उत्तम कार्य है। श्रीकृष्ण उत्तम विचारों के धनी महापुरुष थे। वे इस संसार की अवदशा को ध्यान में रखते हुए सभी को संयम मार्ग की ओर बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करते थे। जब उनकी सुकुमार राजकुमारियाँ विवाह योग्य होतीं तब उनकी माताएँ (रानियाँ) अपनी कन्याओं को वस्त्राभूषण पहनाकर श्रीकृष्ण के पास भेजती ताकि उनके पिता श्रीकृष्ण यह समझ सकें कि कन्या विवाह योग्य हो गयी है।

श्रीकृष्ण उन कन्याओं से प्रश्न पूछते—“पुत्रियों! बताओ तुम रानी बनना चाहती हो या सेविका?”

“हम क्यों बनेंगी सेविका? हमारे पिता महाराजाधिराज हैं। हम तो रानियाँ बनेंगी।”

तब श्रीकृष्ण कहते—“सुनो! तीन खण्ड के जितने भी राजा हैं, वे सभी मेरे सेवक हैं। तुम उनमें से किसी के साथ मैं विवाह करोगी तो सेविका ही कहलाओगी।” राजकुमारियों को विचारों में खोई देखकर मुस्कराकर श्रीकृष्ण कहते—“अगर तुम अरिहन्त अरिष्टनेमि प्रभु के चरणों में दीक्षा अंगीकार कर लोगी तो हम सभी के लिए तुम वंदनीय, पूजनीय, आदरणीय बन जाओगी। जिसमें यह द्वारिका नगरी नष्ट होने वाली है। आग में जल जायेगी।”

वे कन्याएँ श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर संयम मार्ग पर अग्रसर हो जातीं। यह अनुक्रम चलता रहता। राजकुमारियों के झुण्ड के झुण्ड आते और सभी के समक्ष यही प्रश्न रखा जाता। वे सुनकर अपनी श्रेष्ठता की बात कहतीं। कौन अभागा होगा जो स्वयं को हीन बनाना चाहे? इसी तरह श्रीकृष्ण अपनी राजकुमारियों के हृदय में वैराग्य भाव जागृत करते थे। वे जानते थे कि संयम पथ ही श्रेष्ठ पथ है। उसे स्वीकार किये बिना जीव कभी भी, कहीं भी सुखी नहीं बन सकता है।

श्रीकृष्ण की यह दलाली राजकुमारियों के लिये और स्वयं को कितनी लाभदायक सिद्ध हुई। इस द्वारिका नगरी के दाह-पीड़ा और भव-पीड़ा दाह दोनों से मुक्त हो गयी। ऐसी दलाली हर व्यक्ति नहीं कर सकता है। उन्होंने अपनी लाड़ली पुत्रियों को दीक्षा मार्ग पर आरूढ़ करने के लिये कि सयुक्ति से कार्य किया जिसका वर्णन कथा साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध है।

□ प्रव्रज्या की ओर मोड़ने का प्रयास

भगवान के उपदेश और श्रीकृष्ण की प्रेरणा-प्रोत्साहन से सभी पटरानियाँ, अनेक रानियाँ, बहुरानियाँ और राजकुमारियाँ दीक्षित हुईं, फिर भी पापोदय भाव की प्रबलता से कई रानियाँ और राजकुमारियाँ संयम से वंचित रही थीं। एक रानी को अपनी पुत्री केतुमंजरी को दीक्षा दिलाना स्वीकार नहीं था। पुत्री युवावस्था प्राप्त कर चुकी थी। माता ने पुत्री को सिखाया—“तुझे तेरे पिताजी पूछेंगे कि स्वामिनी बनना है या सेविका? तो तू कहना कि मुझे सेविका बनना है, स्वामिनी नहीं।” केतुमंजरी पिता के चरण-वन्दन करने गई। श्रीकृष्ण ने उससे उपरोक्त प्रश्न पूछा तो उसने माता का बताया हुआ उत्तर दिया—“मुझे सेविका बनना है।” पुत्री के उत्तर से श्रीकृष्ण विचार-मग्न हो गए। उन्होंने सोचा—‘ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे पुत्रियों को शिक्षा मिले और वे विवाह करने के विचार को त्याग दें।’

□ वीरक को राह दिखायी

वीरक नाम का एक बुनकर, श्रीकृष्ण पर अत्यन्त भक्ति रखता था। उसे बुलाकर पूछा—“तूने जीवन में कोई साहस का काम किया है कभी?”

—“नहीं महाराज! कभी कुछ भी साहस का काम नहीं किया।”

—“याद कर, तूने कुछ न कुछ साहस का कार्य अवश्य किया होगा।”

—“मैंने एक बार बेर के वृक्ष पर बैठे हुए एक गिरगिट को लक्ष्य कर पत्थर फेंका था, उससे वह मर गया था। एक बार गाड़ी के चिले में बहते हुए पानी को बायाँ पाँव अड़ाकर रोक दिया था और एक बार एक घड़े में बहुत-सी मक्खियाँ एकत्रित हो गई थीं, तो मैंने अपने बायें हाथ से घड़े का मुँह बन्द करके उन्हें भीतर ही बन्द कर दिया था। वे घड़े में ही

गुनगुनाती-भिनभिनाती रहीं। मुझे तो ये ही तीन काम अपने साहस के याद आते हैं महाराज।”

□ वीरक प्रशंसा—मेरा जामाता होने योग्य है

श्रीकृष्ण ने वीरक को घर भेज दिया और दूसरे दिन राजसभा में अनेक राजाओं के सामने कहा—“वीरक बुनकर क्षत्रिय तो नहीं है, किन्तु उसका पराक्रम क्षत्रियोचित है। उसने बदरीफल पर बैठे हुए लाल फण वाले नाग को भू-शस्त्र से मार डाला, चक्र-विदारित भूमि पर कलुषित जलयुक्त गंगा-प्रवाह को इस वीर ने अपने बायें पाँव से रोक दिया और घट-सागर में घोष करती हुई बड़ी सेना को इसने अपने बायें हाथ से रोके रखा। इस प्रकार के उत्कट पराक्रम वाला यह वीर कुर्विद वास्तव में योद्धा है। क्षत्रियोचित पराक्रमी होने के कारण यह वीरक मेरा जामाता होने के योग्य है। मैं इसे अपनी पुत्री दूँगा।”

□ मेरी कन्या के साथ तेरी शादी होगी

श्रीकृष्ण ने वीरक को बुलाकर कहा—“मैं अपनी पुत्री केतुमंजरी के साथ तेरा ब्याह करना चाहता हूँ।” वीरक अचंभित हो गया और अपने को सर्वथा अयोग्य बताकर कहा—“स्वामिन्! मैं राजकुमारी के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ। नहीं, नहीं, मैं राजकुमारी को ग्रहण करने का विचार ही नहीं कर सकता। स्वामिन्! क्षमा करें मुझ दरिद्र को।”

□ वीरक के साथ विवाह

श्रीकृष्ण ने भ्रुकुटी चढ़ाकर आदेश दिया। उसे मानना ही पड़ा। उसी समय उसके साथ राजकुमारी का लग्न करके विदा कर दिया। राजकुमारी, उसकी माता और समस्त स्वजन-परिजन अचंभित थे। उनके हृदय इस लग्न को स्वीकार नहीं कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण के सामने बोलकर विरोध करने का साहस किसी में नहीं था।

वीरक राजकुमारी को अपने झोंपड़े में लाया और खटिया बिछाकर बिठा दिया। राजकुमारी का हृदय दुःख एवं क्लेश से परिपूर्ण था। वह वीरक पर भी कुपित थी। वीरक उसका आज्ञाकारी सेवक बना हुआ था। दो दिन बाद श्रीकृष्ण ने वीरक को बुलाकर पूछा—“केतुमंजरी तेरे घर का सभी कार्य करती है या नहीं?”

वीरक ने उत्तर दिया—“नहीं महाराज! मैं उसका आज्ञाकारी सेवक हूँ। फिर भी वह मुझ पर रुष्ट ही रहती है। मैंने तो आपकी आज्ञा का पालन किया है। इसमें मेरा क्या दोष

है? और मेरे पास उस छप्पर, टूटी खाट, फटी गुदड़ी और टूटे-फूटे बर्तनों के अतिरिक्त है ही क्या, जिससे मैं उसे सुखी रख सकूँ? मैं उसके योग्य सुविधा.....।”

□ श्रीकृष्ण द्वारा वीरक को सीख

श्रीकृष्ण ने कहा—“चुप! तू उससे अपने घर का सभी काम कराया कर। यदि तूने उससे काम नहीं लिया तो तुझे कारागृह में बन्द कर दूँगा। उसके साथ पति की तरह कठोरता रख। नहीं माने तो पति के अधिकार का उपयोग कर।”

वीरक घर आया और राजकुमारी से बोला—“अब उठ और घर का काम कर। झट जाकर पानी ले आ और धान पीसकर रोटी बना। खा-पीकर फिर कपड़ा बुनना है।”

“हे दरिद्री, हीन, दुष्ट! तू मुझे काम करने के लिये कहता है? मैं कौन हूँ? श्रीकृष्ण जी की पुत्री हूँ। तुझे लज्जा नहीं आती। चल हट मेरे सामने से।”—आँखें चढ़ाकर लाल नेत्रों से देखती हुई केतुमंजरी ने कहा।

वीरक ने राजकुमारी के दो-चार हाथ जमा दिये और बोला—“मैं यह जानता हूँ कि तू मेरी पत्नी है। मैं तेरा पति हूँ। इतना घमण्ड क्यों करती है? मेरे यहाँ तो तुझे वे सभी काम करने पड़ेंगे जो मेरी जाति की दूसरी स्त्रियाँ करती हैं।” वीरक ने पतिपन के गर्व के साथ कहा।

□ पिटकर पिता के पास गयी

राजकुमारी एक दरिद्र के हाथ से, जिससे वह घृणा करती थी, पिट गई। जीवन में ऐसी घड़ी कभी नहीं आई थी। वह वहाँ से निकलकर राजभवन में आई और पिता के चरणों में गिरकर रोने लगी। श्रीकृष्ण ने कहा—“सेविकापन का जो कर्तव्य है, वह तो निभाना ही पड़ेगा। तेरी इच्छा ही सेविका बनने की थी। अब मैं क्या करूँ?”

□ दीक्षा स्वीकार

“नहीं, नहीं, अब एक पल के लिए भी मुझे सेविका नहीं रहना है। मेरी भूल हुई। मुझे क्षमा करें और इस दुःखद स्थिति से उबारकर मेरी अन्य बहनों के समान मुझे भी प्रव्रज्या दिलवा दें।”

श्रीकृष्ण ने वीरक को अनुमत करके राजकुमारी केतुमंजरी को प्रव्रज्या दिलाई। उसके साथ अन्य राजकुमारियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। केतुमंजरी का उदाहरण अन्य राजकुमारियों के लिए शिक्षा का कारण बना।

आप श्रोताओं को श्रीकृष्ण का यह आचरण अपनी पुत्री के प्रति अन्याय और अयोग्य अवश्य प्रतीत होता होगा। किन्तु इस कार्य के पीछे श्रीकृष्ण की भावना आत्मोत्थान की, आत्म-हित की थी। जिसके फलस्वरूप वह अपने कर्तव्य के प्रति सजग हो गयी। अन्यथा वह भी द्वारिका दहन की शिकार बनकर आर्त्तध्यानपूर्वक दुर्गति में जाकर विकट दुःख भोगने के लिए बाध्य होती। इसके पीछे पुत्री के हित के भाव थे। जिस भाँति अपनी सन्तान को सुशिक्षित करने के लिये रोग निवारण में कड़वी औषधि देनी पड़ती है। इस भाँति अपनी संतान को सन्मार्ग पर लाने के लिये किये गये उपाय को अन्याय नहीं कहा जा सकता है। अन्यथा संतान पथ-भ्रष्ट हो जायेगी।

□ वासुदेव श्रीकृष्ण की आठ पटमहीषियों का दीक्षित बनना

बंधुओं! वर्तमान में ऐसे माई के लाल बिरले ही मिलेंगे जो दीक्षा के लिए स्व-परिजनों व अन्यान्यों को प्रेरणा देकर धर्म की उत्कृष्ट दलाली का लाभार्जन करें, जो दीक्षा लेने वालों को आश्वस्त करें कि उनके बाद उनके कुटुम्ब की परिचर्या, देखभाल करने का उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ। श्रीकृष्ण ने की थी ऐसी उत्कृष्ट धर्म-दलाली, उत्कृष्ट मनोभावों के साथ और परिणामस्वरूप उपार्जन कर लिया था—‘तीर्थकर-गोत्र’ का।

अंतगडसूत्र के पाँचवें वर्ग में संयम-साधना के पथ पर चलकर उत्कृष्ट तपाराधन कर मोक्ष प्राप्त करने वाली जिन दस भव्यात्माओं का वर्णन है, वे इन्हीं वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज के राजपरिवार से सम्बन्धित है। कितने अहोभाग्य की बात है कि जिनके पास सारे सुख-साधन हैं, किसी बात की कमी नहीं है, वे राजरानियाँ अपने कामभोग, ऐश-आराम, सत्ता-सुविधा आदि के सुख छोड़कर सांसारिक सम्बन्धों से मुख मोड़ लेती हैं। उनकी तुलना में क्या है आप लोगों के पास? पर आपका हृदय कभी चिन्तन नहीं करता संसार की असारता का, शरीर की नश्वरता का, आत्मा के कल्याण का।

श्रीकृष्ण महाराज की महारानी पद्मावती ने प्रभु अरिष्टनेमि के दर्शन किए, उन्हें वन्दन-नमन किया, उनकी धर्मदेशना सुनी और उस देशना को अन्तर् में उतार लिया। उनके

मन में वैराग्य-सागर हिलोरें लेने लगा। संसार, राज्य, वैभव आदि बाह्य जगत् से पूर्ण विरक्त बन पद्मावती रानी ने प्रसन्नतापूर्वक प्रभु से कहा—“हे पूज्य ! जैसा आप कहते हैं, वही सत्य-तथ्य यथार्थ है। मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा हो गयी है। मैं श्रीकृष्ण वासुदेव से आज्ञा प्राप्त कर मुंडित हो दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ।”

प्रभु ने कहा—“जैसा तुम्हारी आत्मा को सुख हो वैसा करो। धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।”

वहाँ से अपने राजमहलों में लौटकर महारानी पद्मावती देवी श्रीकृष्ण महाराज से दीक्षा की अनुमति माँगती हैं।

श्रीकृष्ण अनुमति देते हैं, दीक्षा महोत्सव की विशाल तैयारियाँ करवाते हैं और लोक में सर्वत्र प्रशंसनीय बने ऐसी महाभिनिष्क्रमण यात्रा के साथ रैवतक पर्वत के नीचे सहस्राम्र उद्यान में आते हैं, जहाँ अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु विराजमान हैं।

जिन्होंने आत्म-कल्याण का चिन्तन कर संयम-पथ ग्रहण किया, दृढ़ता से शुद्ध संयम का पालन किया, तपादि का आराधन किया, श्रीकृष्ण महाराज की ऐसी आठ अग्रमहिषियों तथा दो पुत्र-वधुओं ने अपने चरम और परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया। अंतगडसूत्र के पाँचवें वर्ग में वर्णित इन्हीं दस भव्यात्माओं को अपना समर्पित भाव-वन्दन किया है, पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने बड़ी साधु वन्दना की अगली कड़ियों में—

बलि कृष्णाराय नी, अग्रमहिषी आठ।

पुत्र-बहू दोय, संच्या पुण्य ना ठाठ॥७२॥

जादव कुल सतियां, टाल्यो दुःख ऊचाट।

पहुंची शिवपुर मां, ए छे सूत्र नो पाठ॥७३॥

श्रीकृष्ण महाराज की आठ अग्रमहिषी महारानियों में सर्वप्रथम वर्णन आया है—महारानी पद्मावती देवी का। इसके बाद महारानी गौरी, महारानी गंधारी, महारानी लक्ष्मणा, महारानी सुसीमा, महारानी जाम्बवती, महारानी सत्यभामा तथा महारानी रुक्मिणी का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की दो पुत्र-वधुओं का वर्णन है—एक हैं मूलश्री और दूसरी हैं मूलदत्ता। वे दोनों श्रीकृष्ण महाराज एवं महारानी जाम्बवती के आत्मज शाम्बकुमार की पत्नियाँ थीं।

□ आत्म-शुद्धि का अपूर्व-पथ है—दीक्षा

बंधुओं! दीक्षा इस जीवन का वह पावन संस्कार है जो आत्मा के समस्त अशुभ कर्म रूप रज-मैल को धो डालने में समर्थ है। आपने सुना होगा—पूर्णिमा श्रावक की सामायिक एक तरफ और समस्त धरती की सम्पदा एक तरफ फिर भी सामायिक का पलड़ा ही भारी रहता है। जब दो करण, तीन योग से मुहूर्त्तभर के लिए पाले जाने वाले शुद्ध सामायिक व्रत का ऐसा फल तो सोचिए यावज्जीवन तीन करण, तीन योग से जो सामायिक व्रत पालन किया जाता है उसका फल कितना महान् होगा? दीक्षा के महात्म्य पर भगवान महावीर के समय का एक प्रसंग है—

प्रसंग : दीक्षा महात्म्य और अभयकुमार

राजगृही नगरी में एक लकड़हारा रहता था। सुबह जंगल में लकड़ियाँ काटने जाता, दोपहर तक लकड़ियाँ काटकर उनका भारा बनाता, सिर पर उस भारे को रखकर पुनः नगरी में आकर उसे बेचता तब कहीं वह अपना पेट भर पाता था।

एक बार लकड़हारा लकड़ी का भारा लिए किसी हवेली के सामने खड़ा था। वह उस हवेली के मालिक से लकड़ी खरीदने का अनुनय कर रहा था। उस समय उधर से कोई श्रमण-निर्ग्रन्थ निकल रहे थे। हवेली के मालिक ने उन्हें अत्यंत विनयपूर्वक निवेदन किया और हवेली में ले गया, वहाँ अत्यंत भावपूर्वक आहार-पानी बहराने का लाभ देने का आग्रह करने लगा। मुनि ने कई बार मना किया फिर भी गृहस्वामी और गृहस्वामिनी अत्याग्रहपूर्वक अधिक से अधिक आहार देना चाहते थे, पर मुनि थे कि निरन्तर इन्कार कर रहे थे। गोचरी के नियमानुसार भोजन वहाँ से लेकर मुनि बाहर आये।

लकड़हारे ने सोचा कि मुनि के पात्रों में खूब सारा आहार आ गया है, अतः मैं इनके साथ जाऊँ तो मैं अधिक भोजन प्राप्त कर लूँगा। मेरा पेट भर जायेगा और मुनि जी की समस्या का भी समाधान हो जायेगा।

वह चला मुनिराज के पीछे-पीछे। मुनि उपाश्रय में आये तो वह भी अंदर आ गया। महाराज ने उसे देखा तो वह बोला—“उस सेठ ने भोजन ज्यादा दे दिया। आप तो सारा खा सकेंगे नहीं, अतः मैं चला आया आपका सहयोग करने।”

मुनि बोले—“गृहस्थ को आहार देने के हमारे नियम नहीं हैं, कोई मुनि हो तो उसे हम आहार दे सकते हैं।”

लकड़हारा—“मैं बन जाता हूँ मुनि।”

मुनि—“क्या आहार के लिए?”

लकड़हारा कुछ समय सोचता रहा फिर बोला—“नहीं! मैं सचमुच आपकी तरह बनकर धर्म-पथ पर चलना चाहता हूँ।”

मुनि ने देखा कि सचमुच इसका मन संसार-विरक्त बन गया है। भोजन पड़ा रहा। मुनि ने उसे दीक्षा दी। लकड़हारा मुनि बन गया।

बंधुओं! भौतिक साधनों के अभाव में भी संसार के प्रति आसक्ति का त्याग सरल कार्य नहीं है, पर उसने अत्यंत साहस का परिचय देकर संयम का कठोर मार्ग स्वीकार किया। वह उस पथ पर निष्ठा के साथ चलने लगा, शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने लगा।

राजगृही के अनेक व्यक्ति उसे लकड़हारे के रूप में देख चुके थे, अतः जानते—पहचानते थे। ये लोग जब भी मुनि-दर्शन के लिए जाते तो अन्यान्य शिष्यों को तो नमन-वन्दन करते पर लकड़हारे से मुनिपद धारण करने वाले संत को वन्दन नहीं करते। इन लोगों में वापस आकर चर्चा भी होती कि “उसे क्या वन्दना करना? पेट भरकर भोजन नहीं मिलता था, दरिद्री था, दुःखी था अतः साधु बन गया।”

इस तरह से हो रही चर्चा का ज्ञान जब राजगृही के महामंत्री बुद्धिनिधान और धर्मप्रधान अभयकुमार को हुआ तो उन्हें लोगों की इस भावना और उन लोगों द्वारा मुनि का इस प्रकार तिरस्कार करने पर खेद हुआ। सोचा—‘ऐसा कुछ करना चाहिए जिनसे ऐसे लोगों के अशुभ विचारों में परिवर्तन आ सके, धर्म की हीलना न हो तथा दीक्षा के महत्त्व का पता उन्हें लग सके।’

एक दिन मन ही मन निर्णय कर अभयकुमार ने राजगृही के चौराहे पर स्वर्ण-मुद्राओं की पाँच ढेरियाँ लगवा दीं। ऊँची-ऊँची उन ढेरियों को देख आने-जाने वाले ललचाने लगे। उनकी आँखों में उन्हें प्राप्त करने की लालसा जाग उठी, साथ ही यह जिज्ञासा भी हुई कि आखिर चौराहे पर स्वर्ण-मुद्राओं के ये अम्बार किसलिए?

तभी महामंत्री के कहने पर उद्घोषक ने उद्घोषणा की। उसके कहने का तात्पर्य यह था कि जो व्यक्ति तीन करण, तीन योग से पूर्ण हिंसा का त्याग कर अहिंसाव्रती बनने की प्रतिज्ञा लेगा, उसे स्वर्ण-मुद्राओं की एक ढेरी राज्य की तरफ से भेंट की जायेगी। कई बार इस घोषणा को दोहराने के पश्चात् उसने इसी भाँति सत्यव्रती बनने पर दूसरी ढेरी, अस्तेयव्रती बनने पर तीसरी ढेरी, ब्रह्मचर्यव्रती बनने पर चौथी ढेरी व अपरिग्रह व्रत धारण करने पर पाँचवीं ढेरी प्रदान करने का ऐलान करवाया।

लोगों की भीड़ एकत्रित हो गयी। जब राजगृही के आधे से अधिक लोग वहाँ पहुँच गये तो अभयकुमार भी आये। उद्घोषक ने घोषणा बन्द की। अभयकुमार ने एकत्रित राजगृही-निवासियों को संकेत करके पूछा—“है कोई व्यक्ति आपमें से जो व्रत धारण करे, व्रती बने।”

सभी चुप, शान्त। कोई भी तैयार नहीं। इतना सोना पर व्रत कौन धारण करे? सोना सभी लेना चाहते थे, पर मर्यादा में बँधने के लिए तैयार कोई नहीं था। इस पर महामंत्री ने सभी को सम्बोधित करते हुए कहा—“जो इन पाँच महाव्रतों को धारण करे, वह इस धन का मालिक हुआ या नहीं?” सभी ने कहा—“हाँ हुआ।” तब महामन्त्री सभी को समझाते हुए कहता है—

“आप इतने अधिक स्वर्ण के बदले भी व्रती बनने को तैयार नहीं तो जिन्होंने व्रत धारण किए हैं, वे तो इन पाँच ढेरियों में यहाँ रखे स्वर्ण से भी अधिक अमीर हैं। महत्त्व इस धन में नहीं है, महत्त्व और महानता तो धन के त्याग में है। त्याग से ही व्यक्ति वंदनीय और पूजनीय होता है। जिस महाभागी लकड़हारे ने दीक्षा ली वे इन पाँच स्वर्ण-मुद्रा की ढेरियों से तो अधिक के स्वामी ही माने जाने चाहिए। नहीं है उनके पास स्वर्ण पर वे आत्मिक धन की अपेक्षा से हम और आपसे कहीं अधिक अमीर हैं, उच्च हैं, श्रेष्ठ हैं।”

□ कौन धनी ? कौन निर्धन ?

बंधुओं! सच्चा धनी कौन? कोई तलवार का धनी, कोई बात का धनी, कोई मन से धनी, कोई तन से धनी पर वस्तुतः सच्चा धनी वह जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रयी का धारक है। संयम के अभाव में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के अभाव में समस्त संसार की सम्पदा प्राप्त हो जाये तब भी वह निर्धन ही रहेगा।

श्रीकृष्ण ने भी घोषणा करवाई थी कि “द्वारिका जलेगी, सभी को मरना होगा, बचने का रास्ता है—संयम, अतः जो भी संयम लेना चाहें उनकी दीक्षा का व्यय मैं करूँगा, उनके बाद उनके पारिवारिक जनों के पालन, भरण-पोषण का उत्तरदायित्व मैं उठाऊँगा।” उनकी इस घोषणा के पश्चात् भी क्या सभी दीक्षित बन सके? मौत सामने थी फिर भी मोहकर्म की प्रबलता ने कई लोगों को संयम के पथ पर कदम नहीं रखने दिये। जिनका मोहनीय कर्म हल्का बन चुका था, ऐसे कुछेक नर-नारी ही दीक्षा ले सके।

□ महारानी पद्मावती का दीक्षा-महोत्सव

दीक्षा ग्रहण करने वालों में श्रीकृष्ण की अग्रमहिषी पद्मावती देवी का वर्णन चल रहा था। श्रीकृष्ण महाराज राजकीय वैभव के साथ दीक्षा-यात्रा निकालकर महारानी पद्मावती देवी के साथ अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु के समक्ष आते हैं, वन्दना करते हैं और कहते हैं—“प्रभु! यह पद्मावती देवी मेरी पटरानी है। यह मुझे अत्यंत इष्ट, कान्त, प्रिय एवं मनोज्ञ है। मेरे श्वासोच्छ्वास के समान है। दुर्लभ स्त्रीरत्न है। हे देव! मैं अपनी इस प्राणप्रिया पत्नी की भिक्षा शिष्यणी के रूप में आपको देता हूँ। आप इसे स्वीकार करें।”

प्रभु की आज्ञा-स्वीकृति पाकर महारानी पद्मावती देवी ईशानकोण में जाती हैं, स्वयं अपने हाथों से अपने शरीर पर धारण किए समस्त आभूषणादि उतारती हैं, स्वयमेव पंचमुष्टि केश-लुञ्चन करती हैं और प्रभु के पास आकर दीक्षा प्रदान करने का निवेदन करती हैं।

भगवान अरिष्टनेमि स्वयं अपने श्रीमुख से उसे दीक्षा प्रदान करके यक्षिणी आर्या को उसे शिष्या रूप में सौंप देते हैं।

□ संयम व तपाराधन

आर्या यक्षिणी के पास रहकर साध्वी पद्मावती देवी सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करती हुई उपवास-बेले-तेले-पचोले-पन्द्रह दिन और मासक्षमण आदि तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित बनाती हुई विचरण करने लगती हैं।

□ संथारा व मुक्ति

वे पूरे बीस वर्ष तक शुद्ध संयम-पर्याय का पालन करती हैं। आयुष्य के अंतिम भाग में एक मास की संलेखना अर्थात् साठ भक्त के अनशन की पूर्ति के साथ आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाती हैं।

□ शेष सात पटरानियों द्वारा दीक्षा ग्रहण व मुक्ति

बंधुओं! श्रीकृष्ण महाराज की दूसरी महारानी गौरी ने भी नन्दनवन में प्रभु अरिष्टनेमि की देशना सुनी और श्रीकृष्ण महाराज की आज्ञा लेकर पद्मावती रानी की ही तरह दीक्षित हुई, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, तपाराधन किया, एक मास का संलेखना-संथारा किया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन गयीं।

श्रीकृष्ण महाराज की अन्य छः पटरानियों का वर्णन भी ऐसा ही है। ये सभी अरिहंत अरिष्टनेमि प्रभु के पास प्रव्रजित हो, संयम-पालन कर, तपपूर्वक समाधिमरण से आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष प्राप्त करती हैं।

□ वासुदेव श्रीकृष्ण की दो पुत्र-वधुओं की दीक्षा, संयम व तप-साधना, मुक्ति

कृष्ण की पुत्र-वधू और शाम्बकुमार की पत्नी मूलश्री व मूलदत्ता ने भी प्रभु की देशना सुनी, वैराग्य-भाव आया। शाम्बकुमार पहले ही दीक्षा ले चुके थे, इन दोनों ने अपने श्वसुर श्रीकृष्ण वासुदेव से दीक्षा की अनुमति ली और महारानी पद्मावती की तरह दीक्षित बन, तप-संयम से आत्मा को भावित कर सिद्ध-पद को प्राप्त किया।

□ नारद ऋषि अनादर

एक दिन देवर्षि नारद हस्तिनापुर आए और पाण्डु राजा के महल में पहुँचे। यहाँ अन्य सभी ने उनका आदर-सत्कार किया, उन्हें वंदन-नमन किया, उनकी सेवा-पर्युपासना की पर द्रौपदी ने उन्हें असंयमी, अविरत, अप्रत्याख्यानी जानकर उनका आदर नहीं किया। नारद इसे सहन न कर सके। वे उससे बदला लेने की भावना से धातकीखंड की अपरकंका के राजा पद्मनाभ के पास पहुँचे। नारद का कार्य है आग लगाना और दूर खड़े हो तमाशा देखना। नारद ने पद्मनाभ को द्रौपदी की सुन्दरता के विषय में बताते हुए कहा—“तुम्हारा सारा अंतःपुर (सात सौ रानियाँ) देवी द्रौपदी के पैर के अँगूठे के नख की सुन्दरता के सौवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकता।”

□ पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी का अपहरण करवाना

नारद तो यह कहकर चले गए पर पीछे राजा पद्मनाभ के मन में सुन्दरी द्रौपदी को येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा जगा गए। उसे पाने की उत्कट अभिलाषा से उसने पौषधशाला में तेला तप कर अपने पूर्व साथी देव का आह्वान किया और उसके आने पर हस्तिनापुर से द्रौपदी को लाने के लिए कहा। देव हस्तिनापुर गया। अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को एक निश्चित अवधि के लिए न भंग होने वाली निद्रा में सुलाकर निद्रित अवस्था में ही उसे उठाकर पद्मनाभ के पास अपरकंका ले गया।

द्रौपदी जगी तो अचंभित हुई। यह वह स्थान नहीं था जहाँ वह रात को सोई थी। क्या किसी ने मेरा अपहरण किया है? मैं कहाँ हूँ? यह स्थान कौन-सा है? कौन है मुझे यहाँ लाने वाला? क्या कारण है जो मुझे लाया गया? महाबली पाँच पांडव जो मेरे पति हैं, वे कहाँ हैं?

□ पद्मनाभ का निवेदन

द्रौपदी इन्हीं विचारों में खोई बहुत ही चिन्तित थी तभी पद्मनाभ उसके निकट आया और बोला—“देवी! तुम धातकीखंड में अपरकंका नगरी के बलशाली राजा पद्मनाभ के महलों में हो। यहाँ तुम्हें किसी बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम चिन्तारहित बन यहाँ सभी प्रकार के भोगोपभोगों का सेवन करते हुए सुख से समय व्यतीत करो। मेरे साथ महलों में कामभोगों को भोगते हुए आनन्दित बनो।”

□ द्रौपदी द्वारा समय माँगना

द्रौपदी की चिन्ता पद्मनाभ के इस कथन से बढ़ गई। बड़े कौशल से उसने छह मास तक का समय माँगा और बोली—“छह मास की अवधि तक भी मेरे पति पाण्डव और वासुदेव श्रीकृष्ण मुझे छोड़ने यहाँ नहीं आते हैं तो मैं आपके कथन का पालन करूँगी।”

□ श्रीकृष्ण व पांडवों द्वारा द्रौपदी की खोज

उधर प्रातःकाल शय्या पर द्रौपदी को नहीं पाया तो युधिष्ठिर आदि पाँच पांडवों, पांडु राजा आदि ने चारों तरफ उसकी शोध कराई। कहीं न मिलने पर कुन्ती ने अपनी पुत्र-वधू को ढूँढ़ने के लिए श्रीकृष्ण से कहा। कुन्ती भुआ को कृष्ण ने आश्वासन दिया कि

मैं द्रौपदी देवी की खोज करवाकर पता लगाऊँगा। पता लगने पर वह अर्ध-भरत या उससे भी बाहर कहीं पर्वत, नदी, पाताल में जीवित होगी तो मैं स्वयं लाकर आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा। आप जरा भी चिन्तित नहीं बनें। इस प्रकार मधुर वचनों से श्रीकृष्ण ने आश्वासित किया और अपने लोगों से द्रौपदी की शोध—गवेषणा करवाई, पर द्रौपदी का कहीं भी पता नहीं चला। कुछ दिन बाद महर्षि नारद श्रीकृष्ण से मिलने आए तो बात-बात में श्रीकृष्ण ने पता लगा लिया कि करतूत नारदजी की है और द्रौपदी इस समय धातकीखंड की अपरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के महलों में है।

हस्तिनापुर समाचार भेजा गया और कहलवा दिया गया कि पाँचों पांडव, अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ पूर्व दिशा के लवणसमुद्र के किनारे पहुँचकर मेरी प्रतीक्षा करें।

□ धातकीखंड की अपरकंका में : पद्मनाभ से युद्ध

उधर से पांडव और इधर से श्रीकृष्ण व दस दशार्ह अपनी-अपनी सेना के साथ लवणसमुद्र के किनारे पहुँचे। समस्या थी लवणसमुद्र को पार कर धातकीखंड पहुँचने की। वासुदेव ने पौषधशाला में तेले का तप कर देव-आह्वान किया। सुस्थित देव उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण ने उससे पाँच पांडव और छठे स्वयं अपने लिए लवणसमुद्र में होकर धातकीखंड में जाने का मार्ग माँगा और कारण भी बता दिया। देव ने कहा—“आप क्यों तकलीफ करते हैं, आपका आदेश हो तो मैं द्रौपदी देवी को वहाँ से लाकर हस्तिनापुर पहुँचा दूँ। आप कहें तो पद्मनाभ राजा को उसकी नगरी, सैन्य आदि सहित लवणसमुद्र में भेज दूँ।”

श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव से कहा—“नहीं बंधु! द्रौपदी को छुड़ाकर लाने का काम हमारा है। तुमसे जितना कार्य मैंने कहा उतना कार्य तुम कर दो।” देव ने वैसा कर दिया। चतुरंगिणी सेनाएँ वापस चली गईं। श्रीकृष्ण व पाँच पांडव लवणसमुद्र पार कर अपरकंका पहुँच गए। वहाँ पाँच पांडव बोले कि पद्मनाभ से हम युद्ध करेंगे, आप हमें युद्ध करते देखें। पाँचों पांडव युद्ध के मैदान में गए और पद्मनाभ से बोले—“आज या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा।” पाँचों पांडवों ने अत्यंत वीरतापूर्वक युद्ध किया पर शीघ्र ही हार गए। युद्ध के मैदान से भागकर श्रीकृष्ण के पास आए और बोले—“हमने युद्ध किया पर पद्मनाभ ने हमें भागने पर विवश कर दिया।”

श्रीकृष्ण ने उनसे युद्ध का विवरण पूछा। सुनकर बोले—“तुम्हें कहना चाहिए, आज तो हम ही रहेंगे, पद्मनाभ हरगिज नहीं रहेगा। अब मैं युद्ध करने जाता हूँ, तुम देखना।”

□ आत्म-विश्वास की जीत

श्रीकृष्ण गए युद्ध के मैदान में। उच्च घोष करते हुए बोले—“कायर पद्मनाभ, आज तू नहीं बचेगा।” इतना कह उन्होंने अपना पञ्चजन्य शंख फूँका। शंख-ध्वनि से पद्मनाभ की सेना का तिहाई भाग पलायन कर गई। तब श्रीकृष्ण ने अपना सारंग धनुष हाथ में लिया, उसकी प्रत्यंचा चढ़ाई और टंकार किया। उस धनुष की भीषण टंकार से पद्मनाभ की और एक-तिहाई सेना पलायन कर गई। यह दृश्य देख पद्मनाभ हतोत्साह होकर, भागकर अपनी राजधानी अपरकंका नगरी में चला गया और सुरक्षा के लिए नगर के सारे द्वार बंद करवा दिए।

पद्मनाभ के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण भी अपने रथ में बैठ वहाँ पहुँचे। वैक्रिय समुद्घात करके उन्होंने अति विशाल नरसिंह का रूप धरण किया, जोर-जोर से पृथ्वी पर हत्थल का भीषण प्रहार करने लगे, भीषण स्वर में गर्जना की, उनके हत्थल की चोट से नगर का परकोटा गड़गड़ाहट की कर्कश ध्वनि करते हुए गिर गये, महलों के झरोखे भग्न हो गए, अनेक महल और भंडार नष्ट हो गए, कितने ही भवन सरसराहट कर धरती पर गिर पड़े। नरसिंह ने अपने प्रबल पाद प्रहार से सिंह द्वार को तोड़कर भूमिसात कर दिया।

बंधुओं! शब्दों की ताकत और आत्म-बल का परिणाम हमेशा सकारात्मक ही रहता है। किसी भी कार्य को करें तो दृढ़ इच्छा-शक्ति और प्रबल आत्म-विश्वास के साथ करें। मन में एक अटल भाव से सफलता निश्चित है। संशय जहाँ है, शंका जहाँ है, वहाँ सफलता संदिग्ध है। समकित के पाँच दूषण में पहला ही दूषण है—शंका। सन्देह का भाव ही असफलता को आमंत्रित करता है। प्रभु, तीर्थंकर भगवंतों का भी यही सन्देश है कि जो भी करो दृढ़ संकल्प के साथ करो, विकल्पों की उलझनों में मत पड़ो। यदि दृष्टिकोण एवं कार्य शुभ है तो सफलता निश्चित है। कवि ने इसीलिए तो कहा है—“मन के जीते जीत है और मन के हारे हार।” पांडवों के मन में विकल्प था, “या तू या मैं” पर कृष्ण का संकल्प दृढ़ था, “तू नहीं, केवल मैं।” शत्रु चाहे आंतरिक हों चाहे बाह्य, उन्हें नष्ट करना है तो इसी दृढ़ संकल्प से उन पर विजय प्राप्त की जा सकेगी।

□ द्रौपदी पुनः पांडवों के पास

पद्मनाभ थरथर काँपता हुआ द्रौपदी की शरण में जाकर गिड़गिड़ाया—“देवी, अब तुम ही मेरी रक्षा कर सकती हो।” तब द्रौपदी ने कहा कि “श्रीकृष्ण उत्तम पुरुष हैं। निःशस्त्र और स्त्री पर हाथ नहीं उठाते हैं। तुम जल से भीगी साड़ी पहनकर मुझे आगे रखो, तुम्हारे पीछे सात सौ रानियाँ मंगल गीत गाती हुई श्रीकृष्ण वासुदेव का स्वागत करें और तुम जाकर श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर अपने अपराध की क्षमा माँगो। अन्यथा तुम्हारी खैर नहीं है, शायद ही तुम्हें जीवित छोड़े।” भयभीत पद्मनाभ द्रौपदी को आगे लेकर वासुदेव श्रीकृष्ण की शरण में पहुँचा। पैरों में गिरकर अपने अपराध की हृदय से क्षमा माँगते हुए द्रौपदी को लौटाया। अनेक बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्न भेंट किए। श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा किया, द्रौपदी को रथ पर आरूढ़ कर श्रीकृष्ण पाँच पांडवों के समीप आए और द्रौपदी को उन्हें सौंपा।

□ धातकीखंड में दूसरा वासुदेव कौन ?

युद्ध में वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा बजाए गए पञ्चजन्य शंख की ध्वनि धातकीखंड के पूर्वार्ध में स्थित चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विराजित अरिहंत-भगवंत मुनिसुव्रत के चरणों में बैठे धर्मोपदेश श्रवण कर रहे धातकीखंड के कपिल वासुदेव ने सुनी और सोचा—‘अरे! यह वासुदेव के पञ्चजन्य शंख की ध्वनि कैसे? मैं तो यहाँ धर्मसभा में बैठा हूँ। क्या यहाँ कोई दूसरा वासुदेव उत्पन्न हो गया है?’

□ हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अरिहंत मुनिसुव्रत प्रभु ने कपिल वासुदेव के मन की बात जानकर उसे बताया कि यह जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र से यहाँ आए वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा फूँके गए शंख की ध्वनि है। अरिहंत प्रभु ने श्रीकृष्ण के धातकीखंड में आने का जो कारण था, वह भी बता दिया और कहा कि तुम्हारे सेवक राजा पद्मनाभ से युद्ध करते हुए उन्होंने जो शंख-ध्वनि की, वही तुमने सुनी है।

सर्वज्ञ भगवंत ने कहा कि तुम्हारा यह चिन्तन सही नहीं है कि इस क्षेत्र में दूसरा कोई वासुदेव उत्पन्न हो गया है, क्योंकि एक ही युग में, एक क्षेत्र में, एक ही समय दो तीर्थकर, दो चक्रवर्ती, दो बलदेव अथवा दो वासुदेव कभी उत्पन्न हुए नहीं, होते नहीं, होंगे नहीं। जब कपिल वासुदेव ने श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने, उन्हें देखने के लिए जाने की अभिलाषा

प्रकट की तो प्रभु बोले—“ऐसा हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं कि एक तीर्थंकर दूसरे तीर्थंकर को देखे, एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती से मिले, एक बलदेव का दूसरे बलदेव से और एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलन हो या वे एक-दूसरे को देखें। तुम यदि जाओगे भी तो लवणसमुद्र के मध्य भाग से जाते हुए कृष्ण वासुदेव के रथ की श्वेत एवं पीत ध्वजा के अग्र भाग को देख सकोगे।

□ केवल ध्वनि से मिलाप दो वासुदेवों का : दश आश्चर्यों में एक

ऐसा ही हुआ। वासुदेव कपिल जब लवणसमुद्र के तटीय भाग पर पहुँचे तो उन्हें लवणसमुद्र के मध्य भाग में जाते हुए वासुदेव श्रीकृष्ण की श्वेत व पीत ध्वजा का अग्र भाग मात्र दिखाई दिया। कपिल वासुदेव ने हर्ष में भरकर अपना पञ्चजन्य शंख फूँका, प्रत्युत्तर में वासुदेव श्रीकृष्ण ने भी अपना पञ्चजन्य शंख फूँककर शंख-शब्द की समाचारी की, शंख-ध्वनि द्वारा मिलाप किया।

जैन इतिहास में जिन दस आश्चर्यों का अर्थात् ऐसी बातों का जो सिद्धांततः तो होती नहीं पर हो गयीं, स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में वर्णन मिलता है। इन दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य दो वासुदेवों की शंख-ध्वनि का यह मिलन भी गिना गया है। एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलन होने का एक-दूसरे को देखने की त्रिकाल नियमा नहीं है, परन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवंत के समय में यहाँ के वासुदेव कृष्ण का धातकीखंड द्वीप के भरतक्षेत्र में जब तीर्थंकर मुनिसुव्रत विचरण कर रहे थे, उस क्षेत्र के वासुदेव कपिल से उस समय शंख-ध्वनि से मिलन हुआ, जब श्रीकृष्ण वासुदेव को धातकीखंड की अपरकंका नगरी में द्रौपदी को लाने के लिए धातकीखंड जाना पड़ा।

कपिल वासुदेव ने अपरकंका के राजा पद्मनाभ को उसकी काली करतूत के लिए अपने राज्य (तीन खंड) से निर्वासित कर उसके पुत्र को अपरकंका के राज-सिंहासन पर बिठा दिया।

□ श्रीकृष्ण के भुज-बल की परीक्षा

इधर श्रीकृष्ण जब पाँच पांडवों तथा अपनी भुआ की पुत्रवधू द्रौपदी के साथ लवणसमुद्र को पार करते हुए साढ़े बासठ योजन विस्तार वाली महानदी गंगा के तट पर

पहुँचे तो उन्होंने पाँच पांडवों को नदी पार जाकर नौका पुनः भेजने को कहा और स्वयं लवणसमुद्र के अधिष्ठाता देव सुस्थित से मिलने हेतु रुक गए।

पाँच पांडवों ने महानदी के उस तट पर रखी एक मात्र नौका के सहारे उस विस्तृत नदी-पाट को पार किया, परन्तु नौका लेकर कोई पांडव श्रीकृष्ण को उस तट से लाने के लिए वापस नहीं गया। वे सभी वासुदेव की परीक्षा करना चाहते थे कि देखें श्रीकृष्ण नदी के इस विस्तार को अपनी भुजाओं के बल से तैरकर पार कर सकते हैं या नहीं।

श्रीकृष्ण तो वासुदेव थे, महान् आत्म-विश्वासी एवं विशिष्ट शारीरिक बल के धारक थे। अनेक देवी-देवता उनकी सेवा में थे। कई प्रकार की साधना-सिद्धि भी थी। चतुर्भुज रूप धारण करके एक हाथ में एक रथ जिसमें द्रौपदी बैठी थी, दूसरे हाथ में शस्त्रास्त्र और शेष दोनों हाथों से गंगा नदी को तैरना प्रारम्भ किया। मध्य में पहुँचने पर थकान-सी अनुभव होने लगी, तब महानदी की अधिष्ठायिका गंगादेवी ने प्रकट होकर रत्नमय पीठिका तैयार करके विश्राम का अनुरोध किया, श्रीकृष्ण ने वहाँ कुछ समय विश्राम किया। देवी ने दिव्य शक्ति से उन्हें पार पहुँचाने का अनुरोध किया, पर श्रीकृष्ण स्वयं के भुज-बल से ही तैरकर गये।

□ श्रीकृष्ण कृपित, पांडवों को राज्य-निर्वासन

इधर श्रीकृष्ण चिन्तित थे कि 'पाँचों पाण्डवों का भाग्य उनसे रूठा हुआ है। कहीं उनकी नौका गंगा नदी में डूब तो नहीं गयी। कुन्ती भुआ को क्या प्रत्युत्तर दूँगा?' श्रीकृष्ण ने अपने वैक्रिय से चतुर्भुज रूप धारण करके एक हाथ में द्रौपदी, दूसरे हाथ में उनका रथ रखा। शेष दोनों हाथों से वेग वाली गंगा महानदी तैरकर उस पार किनारे पहुँचे। वे जब नदी के उस किनारे पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि पांडवों ने नौका से महानदी पार की, पर मेरे बल की जाँच करने के लिए नौका वापस नहीं भेजी तो वे अत्यंत कृपित हुए और बोले—“जब मैंने दो लाख योजन विस्तार वाले लवणसमुद्र को तुम सभी के साथ पार किया, पद्मनाभ राजा को पराजित कर अपरकंका नगरी को नष्ट किया, क्या तब तुम्हें मेरे बल का ज्ञान नहीं हुआ? अठारह दिनों के उस महाभारत के युद्ध में तुम्हें मेरे बल का ज्ञान नहीं हुआ। अब मैं तुम्हें बताता हूँ कि मेरा बल कितना है?” इतना कहने के पश्चात् वासुदेव ने पाँच पांडवों के रथों को चूर-चूर करते हुए उन्हें राज्य से निर्वासन की आज्ञा दी।

□ त्रिखंड से निर्वासित पांडव कहाँ जाएँ ?

बंधुओं! महान् उपकारी का उपकार भूल जाने व शक्ति की पहचान होते हुए भी अविवेक बुद्धि से शक्तिशाली की शक्ति परखने का पाँच पांडवों को कैसा भयंकर दंड भोगना पड़ा ? वासुदेव तो होते हैं त्रिखंडाधिपति। उनके राज्य से निष्कासन का आदेश हो तो फिर रहना कहाँ ? माता कुन्ती को मालूम पड़ा तो वे गईं अपने वासुदेव भतीजे के पास और समाधान माँगा इस समस्या का। तुम्हारा राज्य तो समग्र दक्षिणार्थ भरतक्षेत्र में, तीन खण्ड में विस्तृत है। फिर मेरे पुत्र इस राज्य से निर्वासित होकर कहाँ बसें ?

□ पाण्डु-मथुरा का निर्माण : द्रौपदी को पुत्र-प्राप्ति

बंधुओं! तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि महापुरुषों के वचन मिथ्या नहीं होते और एक बार कहने के पश्चात् वे उन वचनों से फिर नहीं सकते, वापस नहीं ले सकते। उनके वचन पत्थर की नहीं, लोहे की लकीर होते हैं। अतः कुन्ती की बात सुन श्रीकृष्ण वासुदेव चिन्तामग्न हो गए पर कुछ ही क्षणों बाद मुस्कराते हुए बोले—“भुआ ! उन्हें कहना कि वे दक्षिण दिशा के समुद्रतट पर पाण्डु-मथुरा के नाम से एक नयी नगरी बसाकर वहीं सुख से रहें।”

श्रीकृष्ण ने अट्टम तप करके समुद्र के अधिष्ठायक देव सुस्थित का आह्वान किया। सुस्थित ने आकर अंजलिबद्ध होकर कार्य पूछा। श्रीकृष्ण ने तीन खण्ड से बाहर राज्य बसाने के लिये भूमि देने के लिए अनुरोध किया। देव ने समुद्र का जल भीतर की ओर खींचकर विशाल भूमि दे दी। वहाँ पाण्डु-मथुरा बसायी जो लोक भाषा में कही जाती है कि तीन लोक से मथुरा न्यारी है।

□ द्वारिका का विनाश

श्रीकृष्ण ने धर्म की दलाली और अधिक तेज कर दी। राजकर्मचारी जो तपस्या पौषध करते, उनको राजकीय कार्य में अवकाश देते। उनके वेतन में विशेष वृद्धि करते, मान-सम्मान में अभिवृद्धि करते। धर्मध्यान और पौषधोपवास करने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो गयी। जिनका संयम स्वीकार करने का सामर्थ्य नहीं है, वे अधिक से अधिक धर्मारोधना करें, ऐसी प्रेरणा करते रहते थे।

□ द्वारिका में आयंबिल तप प्रारम्भ

किसी ज्ञानी ने श्रीकृष्ण को सलाह दी कि जब तक द्वारिका में आयंबिल तप की साधना-आराधना चलती रहेगी तब तक इस पर किसी दुष्ट की आसुरी शक्ति का जोर नहीं चलेगा।

समूची द्वारिका में प्रतिदिन आयंबिल आराधना का अनुक्रम प्रारम्भ हो गया। प्रतिदिन अनेकों व्यक्ति इस तपानुष्ठान में बढ़-चढ़कर भाग लेने लगे। आबाल, वृद्ध इसमें आगे से आगे रहते थे।

□ तप के प्रभाव से देव का जोर नहीं चला

कुमारों द्वारा पड़ी हुई मार की असह्य पीड़ा से तड़पता, चिल्लाता और उग्रतम वैरभाव निदान युक्त मरकर द्वैपायन भवनपति की अग्नि कुमार देव-निकाय में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने के बाद उसने उस पूर्वबद्ध वैर का स्मरण किया और तत्काल द्वारिका पर मँडराने लगा। उसने देखा कि द्वारिका नगरी धर्म-भावना में रंगी हुई है और साधनारत है। उपवास, बेले-तेले आदि तपस्या हो रही है, धर्मस्थान सामायिक-पौषधादि साधना से सुशोभित हो रहे हैं। आयम्बिल तप तो व्यापक रूप से हो रहे हैं। सारी द्वारिका धर्मपुरी बनी हुई है। उसने सोचा—‘जब तक यहाँ धर्म की ज्योति जलती रहेगी, तब तक मेरा प्रकोप सफल नहीं हो सकेगा। मेरी शक्ति वहीं काम देती है, जहाँ धर्म-बल घटकर पाप-बल बढ़ जाता है। देखें कहाँ तक बचे रहेंगे मुझसे मेरे शत्रु? कभी न कभी तो वह दिन आएगा ही सही। इस द्वारिका का विनाश मैं नहीं कर दूँ, तब तक मेरे हृदय में शान्ति नहीं हो सकती। मेरे हृदय में धधकती हुई प्रतिशोध की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। मैं अपना वैर लेकर ही रहूँगा।’

समय-समय पर धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजन उत्साहपूर्वक चल रहे थे। श्रमण निर्ग्रन्थों की निरन्तर सान्निध्यता मिलती रहती थी। पौषधशालाओं में धार्मिक जनों का जमघट लगा रहता था। नियमित धर्मचर्या से द्वारिका की रक्षा हो रही थी।

□ प्रमाद ने डाला घेरा

धर्म के प्रभाव से विपत्ति टलती रही। इस प्रकार ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए। जब अशुभ कर्मों का उदय होता है, तो मनुष्यों की मनोवृत्ति पलट जाती है और वैसे निमित्त भी मिल

जाते हैं। जनता के मन में शिथिलता आई और तर्क उत्पन्न हुआ—“अब द्वैपायन शक्तिशाली देव नहीं रहा। हमारी धर्म-साधना ने उसकी आसुरी शक्ति नष्ट कर दी। इन ग्यारह वर्षों की साधना से वह हताश होकर चला गया है। अब भय एवं आशंका की कोई बात नहीं रही। अब हम निर्भय होकर पूर्ववत् सुखोपभोग कर सकते हैं।”

जीव को अधिक सुविधा मिलनी शुरू हो जाये तो वह सुविधाभोगी बन जाता है। जितना अधिक सुविधाभोगी होगा वह प्रमादी बन जायेगा। प्रमाद व्यक्ति के उत्कर्ष विकास का बाधक है। इतना ही नहीं वह विनाश के कगार पर पहुँचा देता है। व्यक्ति विकास के स्थान पर विनाश को आमंत्रित कर देता है। समस्त रेखाचित्र ही बदल जाता है। द्वारिकावासी लम्बे समय तक धार्मिक अनुशासन में नहीं रह सके। सोचने लगे कि देव अब तक खाली बैठा क्यों रहेगा? कहीं चला गया होगा? क्यों व्यर्थ में इस तन को कष्ट देना? क्यों भोगों से वंचित रहना?

□ बढने लगी लापरवाही

इस प्रकार की भावना ने धर्म-साधना छुड़वा दी और जनता भोगविलास में गृद्ध हो गई। मद्यपान, अभक्ष्य भक्षण और स्वच्छन्द भोगविलास से द्वारिका पर छाई हुई धर्म-रक्षण की ढाल हट गई और द्वारिका अरक्षित हो गई। द्वैपायन ऐसे अवसर की ताक में ही था। उसने यह भी नहीं सोचा कि मेरे अपराधी एवं शत्रु तो कुछ राजकुमार ही थे, सारी द्वारिका नहीं और उन राजकुमारों में से भी अनेक त्यागी बनकर चले गये हैं। उनका बदला मैं द्वारिका के नागरिकों से कैसे लूँ? उसके हृदय में तो द्वारिका का विनाश करने की धुन-एक लगन लगी हुई थी। उसने अपनी पूरी शक्ति प्रतिशोध लेने में लगा दी।

□ विनाश का विकराल रूप

एक दिन पूरी तरह आयंबिल तप की आराधना रुक गई। एक-दूसरे के भरोसे रह गये। अचानक द्वैपायन देव आ धमका। पूरी द्वारिका के दरवाजे वज्र कील से बन्द कर दिये और परकोटे पर खड़ा होकर उद्घोषणा करने लगा कि—“यह द्वारिका प्रत्यक्ष देवलोक समान है, इसे मैं जलाकर नष्ट करूँगा। जो भी कोई व्यक्ति अभी भी अरिहन्त अरिष्टनेमि के पास संयम ग्रहण करना चाहता है तो मैं प्रभु की छत्र-छाया में छोड़ सकता हूँ अन्यथा

किसी को भी जीवित नहीं रहने दूँगा।” इस प्रकार देव ने तीन बार उद्घोषणा की। बलराम का पुत्र कुब्जवारक जो चरमशरीरी जीव था, उसे जंभुक देवों ने उठाकर अरिहन्त अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुँचा दिया। प्रभु उस समय पाण्डु-मथुरा के राज्य में विचरण कर रहे थे।

अचानक ही द्वारिका पर विविध प्रकार के उत्पात होने लगे। आकाश से उल्कापात (अंगारों का गिरना) होने लगा, पृथ्वी कम्पायमान हुई। ग्रहों में से धूमकेतु से भी बढ़कर धूम्र निकलकर व्याप्त होने लगा। अग्नि-वर्षा होने लगी, सूर्य-मण्डल में छिद्र दिखाई देने लगा, सूर्य-चन्द्र के अकस्मात् ग्रहण होने लगे। भवनों में रही हुई लेप्यमय पुतलियाँ अट्टहास करने लगीं, देवों के चित्र भृकुटी चढ़ाकर हँसने लगे और नगरी में हिंसक पशु विचरने लगे।

□ द्वारिका में अग्नि की वर्षा

इस समय द्वैपायन देव अनेक शाकिनी भूत और बेताल आदि के साथ नगरी में घूमता हुआ लोगों को काल के समान दिखाई देने लगा। भीत-चकित लोगों के सामने अनेक प्रकार के अनिष्ट-सूचक चिह्न एवं अपशकुन प्रकट होने लगे। जब पुण्य क्षीण होते हैं और अनिष्ट की लहर चलती है, तो सभी उत्तम वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं अथवा अन्यत्र चली जाती हैं। अग्नि की भीषण वर्षा प्रारम्भ हो गयी। हरि और हलधर के चक्र, हल आदि शस्त्र-रत्न भी नष्ट हो गए। देव-निर्मित द्वारिका देव-प्रकोप से जलकर नष्ट होने लगी। उसके रत्नों के कंगूरे और स्वर्ण के गवाक्षादि राख के ढेर होने लगे। मनुष्यों में हाहाकार मच गया। सभी जलकर मरने लगे। सारी नगरी जीवित मनुष्यों और पशुओं की श्मशान भूमि बन गई। चारों ओर अग्नि की आकाश छूने वाली प्रचण्ड ज्वालालाएँ ही दिखाई देने लगीं। अपने प्राण बचाने के लिए यदि कोई भागने का प्रयत्न करता, तो वह क्रूर देव उसे वहीं स्तंभित कर देता, इतना ही नहीं बाहर रहे हुए को भीतर पहुँचाकर नष्ट करता। देव ने महाभयंकर संवर्तक वायु की विकुवर्णा की तथा घास-फूस एवं काष्ठ को उड़ाकर आग की लपटों में गिराने लगा और अग्नि को अधिकाधिक उग्र करने लगा।

□ रथ में जुत गये बलराम और कृष्ण

श्रीकृष्ण और बलराम जी इस भयंकर विनाश-लीला को देख रहे थे। पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की करुण चीत्कार एवं हृदयद्रावक पुकार, उनका हृदय मथित कर रही थी,

परन्तु वे निरुपाय थे। उन्होंने उधर से ध्यान हटाकर माता-पिता को बचाने का निश्चय किया। एक रथ में वसुदेव जी, माता देवकी और रोहिणी को बिठाकर रथ को चलाने लगे, किन्तु घोड़े पाँव भी नहीं उठा सके। क्रुद्ध देव ने उन्हें स्तंभित कर दिया था। श्रीकृष्ण ने घोड़े को खोल दिया और दोनों बन्धु रथ खींचकर चलने लगे। बलदेवजी ने द्वार के लात मारी तो वह टूटकर गिर गया।

□ तुम दोनों के सिवाय कोई बाहर नहीं जा सकता है

दोनों भाई रथ खींचकर आगे बढ़ने लगे, तो द्वैपायन देव बोला—“महानुभाव! मैंने आपको कहा था कि आप दोनों बन्धुओं के सिवाय और कोई भी द्वारिका से जीवित नहीं निकल सकेगा। फिर आप व्यर्थ ही मोह में फँसकर इन्हें निकालने की चेष्टा कर रहे हैं। आपको सोचना चाहिए कि मैंने अपने जीवनभर की तपस्या दाँव पर लगा दी थी। अब मैं अपने निदान को व्यर्थ नहीं जाने दूँगा।”

□ पिता व दोनों माताओं की मृत्यु

द्वैपायन की बात सुनकर श्री वसुदेव जी और दोनों रानियाँ बोलीं—“पुत्रों! अब तुम हमें यहाँ छोड़ दो और शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ। तुम जीते रहोगे, तो सारे यादव जीवित समझे जायेंगे। जहाँ तुम होगे, वहीं द्वारिका होगी। हमारा मोह छोड़ दो। हमने भूल की जो उस समय भगवान नेमिनाथ जी के पास दीक्षित नहीं हुए। धन्य हैं वे भव्यात्माएँ, जिन्होंने प्रभु के पास प्रव्रज्या स्वीकार की और संसार के मायाजाल से मुक्त हुए। अब हम भी अठारह पाप का त्याग करते हैं और प्रभु की शरण ग्रहण करते हैं। “अरिहंता सरणं पवज्जामि, सिद्धा सरणं पवज्जामि.....वे स्मरण करने लगे और उन पर द्वार गिर पड़ा। वे वहीं काल करके देवगति में गये। द्वारिका में श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी थीं। उन्होंने अनशन किया और भगवान का स्मरण करती हुई दिवंगत हुईं। छह महीने तक द्वारिका जलती रही। हरि-हलधर नगरी के बाहर निकलकर एक जीर्ण उद्यान में खड़े हो द्वारिका का विनाश देखने लगे।

द्वारिका नगरी धांय-धांय जल रही थी। महल अटारियों से जलती ज्वालाएँ दीख रही थीं। उन महलों, हवेलियों, घरों से करुण क्रन्दन स्पष्ट सुनाई दे रहा था। बड़े-बड़े भवन जलते हुए धड़ाधड़ आवाज करते हुए गिर रहे थे। अन्तःपुर से हृदय विदारक रुदन सुनाई

दे रहा था। “हे प्राण पालक! हमारी रक्षा कीजिये.....। हे द्वारिकाधीश! हमें बचाओ। अरे कहाँ चले गये यादवपति, हमारा उद्धार करो।” पूरी द्वारिका नगरी से करुण क्रन्दन कोलाहल, चीख-पुकार, दयनीय आवाज सुनाई दे रही थी। कोई बलदेव को पुकार रहे थे। अलग-अलग सम्बोधनों से रो-रोकर, बिलख-बिलखकर हाथों को लम्बे तानकर विलाप कर रहे थे। पेड़, बाग, उद्यान भी अग्नि के भेंट चढ़ रहे थे। अश्वशाला में घोड़े तीव्रता से हिनहिना रहे थे तो हाथियों की चिंघाड़ कर्ण पटल को चीर देने वाली थी।

द्वारिका नगरी से उठने वाली लपटें आकाश को छूने की कोशिश कर रही थीं। धुएँ के गुब्बारे उठकर तीव्र पवन के प्रवाह में बह रहे थे। कुछ क्षणों के पहले प्रत्यक्ष देवलोक को भी पराजित करने वाली द्वारिका नगरी अग्नि की नगरी बन गयी।

□ श्रीकृष्ण का मन अधीर हो उठा

किसी ऊँचाई के स्थान पर निरुपाय बलराम और श्रीकृष्ण खड़े सारा दृश्य देख रहे थे। श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी में अपने प्रिय परिजनों को प्यारे अश्वों, गजों को आग में तड़फते-छटपटाते-मरते हुआँ को देखकर घोर पीड़ा से फफक पड़े। बच्चों की तरह बिलख-बिलख रोने लगे। बलराम उन्हें अपने वक्ष से चिपकाकर धैर्य बँधाते हुए कहने लगे—“महाबाहों! तुम इतने अधीर कभी नहीं हुए और आज इतने व्याकुल हो गये। तनिक धैर्य धारण करो। तुम ऐसा करोगे तो हम नयी दुनिया कैसे बसायेंगे?”

श्रीकृष्ण अपनी आँखों को पीताम्बर से पौँछते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोले—“दाऊ! हमारी आँखों के सामने एक ही रात में सोने की इस द्वारिका का कुबेर ने किस कौशल से निर्माण किया और यादवगण यहाँ पर खूब फले-फूले, पर आज अचानक एक घड़ी में प्रत्यक्ष देवलोक के समान हमारी द्वारिका नगरी आँखों के समक्ष ही यह जलकर भस्म हो गयी।”

□ प्रभु ने तो पूर्व में ही बता दिया था

“बन्धु! अरिहंत अरिष्टनेमि ने बारह वर्ष पूर्व ही समस्त वृत्तान्त हमें बता दिया। जो होना था वही हुआ। और सुनो—सोना है ही जलने और जलाने के लिये। जिसके पास सोना नहीं है, उस व्यक्ति को सोना दिखाकर जलाया जाता है। सोने की परिणति ही जलना-जलाना है। देखो पूर्व में लंका नगरी सोने की थी जिसको जलना पड़ा। इस द्वारिका

का भी यही हाल हुआ है। तुम इतने विचलित मत बनो। बन्धु! तुम तो इतने महाबली हो कि एक बार तो पृथ्वी डगमगा जाये तो उसे भी अपने चरणों में दबाकर स्थिर कर सकते हो।” बलराम के समझाने पर श्रीकृष्ण के मन की विकलता कम हुई। निराश आँखों से चारों ओर निहारते हुए बलराम की ओर देखा और कहा—“बन्धुवर! अब क्या करें? किधर चलें? इस अशुभ घड़ी में अपना कौन है? जो आज तक हमारे सेवक रहे, वे इस अवस्था में हमें आश्रय नहीं दे सकेंगे। उनमें शत्रुता का उदय होना स्वाभाविक है। फिर हम कहाँ जावें?” जिनकी आज्ञा में हजारों राजा-महाराजा, सेनापति, सेठ-सार्थवाह हाथ जोड़े खड़े रहते थे, पर आज दोनों महाबलियों को कोई भी सहारा देने वाला नहीं था। ऊपर आकाश और नीचे धरती के सिवाय कोई नहीं था।

□ पाण्डव-मथुरा की राह पर

“बन्धु! इस समय अपने आत्मीय हैं, तो केवल पाण्डव ही। हमें उन्हीं के पास चलना चाहिए।”

“नहीं आर्य! मैंने उन्हें देश-निकाला देकर दूर कर दिया था। कौन-सा मुँह लेकर जायेंगे उनके पास? भला, वे हमारे आश्रयदाता कैसे हो सकते हैं? और हम उनके पास कैसे जा सकते हैं?”

“उन पर हमारे बहुत उपकार हुए हैं और वे सत्पुरुष हैं। सत्पुरुष तो अपकारी पर भी उपकार करते हैं। वे अपने पर हुए अपकार को नहीं देखते। हमारे द्वारा अनेक बार उपकृत हुए पाण्डव हमारा आदर-सत्कार ही करेंगे। हमें उन्हीं के पास पहुँचना चाहिए।”

दोनों बन्धु पाण्डु-मथुरा के लिए नैऋत्य दिशा में चलने लगे।

□ शत्रु के राज्य में

कृष्ण-बलराम चलते-चलते हस्तिकल्प नगर के निकट आये। कृष्ण को जोर से भूख लगी थी। उन्होंने ज्येष्ठ-बन्धु बलदेव से कहा तो बलदेव जी बोले—“तुम इस वृक्ष के नीचे बैठो। मैं नगर में जाकर भोजन लाता हूँ।” श्रीकृष्ण ने कहा—“सावधान रहना। यदि नगर में आप पर कुछ संकट आ जाये तो आप सिंहनाद कर देना। मैं तत्काल वहाँ पहुँच जाऊँगा।” बलराम जी नगर में पहुँचे।

□ अन्तिम युद्ध

अच्छेदित वहाँ का राजा था। वह कृष्ण-बलराम पर उग्र वैर रखता था। वह जरासंध का सामन्त था।

बलराम जी ने अपनी अंगुली में से बहुमूल्य अंगूठी निकालकर हलवाई को दी और विविध प्रकार का भोजन लिया। हलवाई ने राजा अच्छेदित को सूचना दी कि वह गोरिया (बलराम) यहाँ आया हुआ है और जहाँ गोरिया है, वहाँ कालिया (कृष्ण) अवश्य होगा। अतः इन्हें घेर लिया जाय तो ठीक है क्योंकि अकेले हैं। शस्त्र, सैन्य, परिवार, सेवकों से रहित हैं। अच्छेदित ने सेना भेजकर बलराम को घेर लिया।

भोजन लेकर वे नगर के बाहर जा रहे थे कि सैनिकों ने नगर के द्वार बन्द कर दिये और उन पर धावा कर दिया। बलदेव जी ने भोजन सामग्री एक ओर रख दी और हाथी बाँधने का थंभा उखाड़कर और सिंहनाद करते हुए शत्रुसेना का संहार करने लगे। सिंहनाद सुनकर कृष्ण भी तत्काल दौड़े आए और पाद-प्रहार से नगर का बन्द द्वार तोड़कर नगर में घुसे और द्वार की अर्गला उठाकर शत्रुओं का संहार करने लगे। थोड़ी देर में अच्छेदित राजा हारकर बन्दी बन गया। श्रीकृष्ण ने कहा—“मूर्ख! वैभव नष्ट हो गया, तो क्या हमारा बल भी मारा गया? क्या समझकर तूने धृष्टता की? हम इस बार तुझे छोड़ते हैं। जा और न्याय-नीति से अपना राज्य चला।” अपने जीवनकाल के अन्तिम युद्ध में भी श्रीकृष्ण विजयी रहे।

दोनों बन्धु नगर के बाहर निकले और आगे चलने लगे।

□ भाई के बाण से श्रीकृष्ण का अवसान

हस्तिकल्प से चलते हुए दोनों बन्धु कौशांबी वन में आये। शोक, थक, श्रम और विपत्ति के कारण क्लान्त बने हुए श्रीकृष्ण को तीव्र प्यास लगी। उन्होंने बलदेव जी से कहा—“दाऊ! मुझे प्यास लगी है और वह असह्य हो रही है। जी घबरा रहा है, तालु सूख रहा है और आगे चलने में असमर्थ हो रहा हूँ।”

“तुम इस वृक्ष की छाया में बैठो। मैं पानी लेने जाता हूँ, शीघ्र ही लौटूँगा।”—कहकर बलराम जी चल दिये। उधर श्रीकृष्ण वृक्ष तले लेट गए और अपने एक खड़े पाँव के घुटने पर दूसरा पाँव रख दिया। उन्होंने पीताम्बर ओढ़ा हुआ था। भवितव्यतावश जराकुमार मृगया

के उद्देश्य से उसी वन में भटक रहे थे। उन्होंने दूर से पीताम्बर ओढ़े श्रीकृष्ण को देखा, तो मृग होने का भ्रम हो गया। ऊपर उठे हुए पाँव में पद्म चमक रहा था जिससे जराकुमार को मृग की आँख की भ्रान्ति हो गई। उन्होंने लक्ष्य बाँधकर बाण खींच मारा। वह बाण श्रीकृष्ण के पाँव में घुस गया। बाण लगते ही वे उठ गए और गरजे—“यह कौन दुष्ट है, जिसने मुझ सोये हुए पर प्रहार किया? हे नीतिहीन कायर! जरा सामने तो आ। मैं भी देखूँ कि तू कौन है और किस वैर का बदला लिया है? मैंने तो आज तक किसी निरस्त्र या असावधान पर प्रहार नहीं किया था। बोल तू कौन है?”

मृगया के लिए झाड़ी में छुपा जराकुमार चौंका। वह बारह वर्ष से वन में भटक रहा था। उसके बाल बढ़कर जटाजूट हो गए थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। वस्त्र के स्थान पर व्याघ्रचर्म पहना हुआ था। वह धनुष-बाण लिये हुए भटकता रहता था। वह वन के फल-फूल और पशुओं का माँस भक्षण करके जीवन बिता रहा था।

□ जराकुमार और कृष्ण का मिलाप

जराकुमार ने श्रीकृष्ण की बात सुनकर कहा—“मैं हरिवंश रूपी समुद्र में, चन्द्रमा के समान प्रकाशित, दसवें दशार्ह श्री वसुदेव जी का पुत्र और रानी श्री जरादेवी का आत्मज जराकुमार हूँ। मैं श्रीकृष्ण-बलदेव का बन्धु हूँ। भगवान नेमिनाथ जी की भविष्यवाणी से मेरे द्वारा बन्धु-वध होने की सम्भावना जानकर, मैं उसी दिन से वनवासी हुआ हूँ। आप कौन हैं?”

“अरे भाई! तू मेरे पास आ। शीघ्र आ। मैं तेरा अनुज कृष्ण हूँ, जिसके हित के लिए तू वनवासी हुआ है। हे बन्धु! तेरा बारह वर्ष का वनवास व्यर्थ गया। आ, आ, मेरे पास आ।”—श्रीकृष्ण बोले।

भ्रात के वचन सुनकर जराकुमार उनके निकट आया और अपने भाई कृष्ण को देखकर मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा हटने पर विलाप करता हुआ बोला—“अरे भाई! तुम्हारी यह दशा कैसे हुई? तुम एकाकी क्यों हो? क्या द्वारिका जल गई? यादव-कुल का नाश हो गया? तुम्हारी यह दशा देखकर लगता है कि भगवान नेमिनाथ जी की भविष्यवाणी पूर्ण सफल हो गई है।”

□ मैं जीवित कैसे रहूँगा ?

कृष्ण ने द्वारिका-दाह आदि सभी वृत्तांत सुनाया, तो जराकुमार रोता हुआ बोला—“भाई! तुम्हारी रक्षा के लिए ही मैंने वनवास लिया था, किन्तु मुझे बन्धु-घातक से तुम्हारी रक्षा नहीं हो सकी। मैं तुम्हारा हत्यारा बना। हे पृथ्वी! तू मुझे अपने में समा ले। भ्रातृ-हत्या करके अब मैं संसार में जीवित रहना नहीं चाहता।”

□ शीघ्र भाग जाओ

कृष्ण ने कहा—“बन्धु! शोक एवं पश्चात्ताप क्यों करते हो? क्या भवितव्यता का उल्लंघन किसी से हो सकता है? तुम्हें किसी भी प्रकार जीवित रहना है। यादव-कुल की वंश-वृद्धि के लिये एक तुम ही जीवित रहे हो, इसलिये वनवास त्याग कर गृहस्थ बनो। यह मेरी कौस्तुभमणि ले जाओ और पाण्डवों को देकर सारा वृत्तांत सुना देना। वे तुम्हारी सहायता करेंगे। अब तुम शीघ्र ही उलटे पाँव लौट जाओ, बलदाऊ जल लेकर आने ही वाले हैं। यदि उन्होंने तुम्हें देख लिया, तो जीवित नहीं छोड़ेंगे। जाओ, हटो यहाँ से। मेरी ओर से सभी पाण्डवों और परिवार से क्षमा याचना करना।”

कृष्ण के अत्याग्रह ने जराकुमार को विवश कर दिया। वह उनके चरणों में से बाण खींचकर और कौस्तुभ-रत्न लेकर चल दिया।

□ शुभ-अशुभ परिणाम

जराकुमार के जाने के बाद कृष्ण अरिहंत, सिद्ध, भगवान नेमिनाथ आदि को नमस्कार कर भूमि पर सो गए और उन त्यागियों का स्मरण करने लगे, जिन्होंने राजसी भोग छोड़कर प्रव्रज्या स्वीकार की। इस प्रकार धर्मभावना करते-करते शरीर में तीव्रतम वेदना उठी और भावना में परिवर्तन आया। दुष्ट द्वैपायन पर उनके हृदय में रौद्र परिणाम आया—“यदि वह दुष्ट मेरे सामने आ जाय, तो मैं अभी भी उसको उसकी करनी का फल चखा दूँ। मेरे कोप से कोई नहीं बच सकता। मैंने जीवनभर किसी से हार नहीं खाई। वह नीच मेरी द्वारिका और सारे नगरवासियों को, मेरे देखते नष्ट कर दे। ओ अधर्मी! आ मेरे सम्मुख अब तेरी खैर नहीं। कहाँ गया मेरा चक्ररत्न, नदक, खड्ग, सारङ्ग, धनुष्य, कौमुदकी गदा, इस प्रकार रौद्र ध्यान में आयु पूर्ण करके तीसरी पृथ्वी बालुकाप्रभा में जाकर उत्पन्न हुए।

श्रीकृष्ण ने सोलह वर्ष कुमार अवस्था भोगी, छप्पन वर्ष माण्डलिक राजा, वासुदेव, नारायण पद का ९२० वर्ष उपभोग किया। श्रीकृष्ण ने कुल एक हजार वर्ष की आयु भोगी।

□ बलदेव जी का भातृ-मोह

श्री बलराम जी पानी लेने गये थे। बड़ी कठिनाई से उन्हें पानी मिला। उनके मन में उदासी छाई हुई थी। वे कमल के पत्र-पुट में पानी लेकर लौटने लगे, तो उन्हें अपशुकन होने लगे। वे शंका-कुशंकायुक्त डगमगाते हुए पानी लेकर भाई के पास पहुँचे। उन्होंने देखा—कृष्ण सो रहे हैं। कुछ देर वे उनके जागने की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उनका धीरज छूट गया। उन्होंने पुकारा—“बन्धु! जागो। मैं पानी ले आया हूँ।” दो-तीन बार पुकारने पर भी जब कृष्ण नहीं बोले, तो उन्होंने उनका ओढ़ा हुआ पीताम्बर खींचा। जब उन्होंने भाई को संज्ञाशून्य और घायल देखा, तो हृदय में धक्का लगा। वे मूर्च्छित होकर, कटी हुई लता के समान, भूमि पर गिर पड़े। मूर्च्छा दूर होने पर वे दहाड़े—“कौन है वह कापुरुष। जिसने सोये हुए मेरे वीर-बन्धु को बाण मारकर घायल किया? वह कोई नीतिमान् वीर-पुरुष नहीं हो सकता। वीर-पुरुष असावधान, सुप्त बालक और स्त्री पर प्रहार नहीं करता। वह पामर लुक-छिपकर वार करने वाला, नीतिविहीन, दुष्ट, अब कहाँ जाकर लुप्त हो गया है? मेरे सामने आवे, तो उसे इसी समय यमधाम पहुँचा दूँ।”

□ बलराम का क्रोध

बलराम जी की सिंह-गर्जना सुनकर वन के सिंह और व्याघ्र जैसे क्रूर एवं हिंस्र पशु भी भयभीत होकर भाग गये। सामान्य पशु-पक्षी दहल उठे और पर्वत भी कंपायमान हो गया, परन्तु घातक का पता नहीं लग सका। वे वन में शत्रु की खोज करते थक गये और अन्त में भाई के शव के निकट आकर उन्हें आलिंगनबद्ध कर विलाप करने लगे—“हे भ्राता! तुम बोलते क्यों नहीं? बताओ, वह कौन दुष्ट है जिसने तुम्हें बाण मारकर घायल किया? मैं उसे जीवित नहीं रहने दूँगा।”

□ बलराम का वात्सल्य भाव

हे बन्धु! क्या तुम मुझसे रुष्ट हो गये हो? हाँ, मुझे पानी लाने में विलम्ब तो हुआ, परन्तु मैंने जान-बूझकर विलम्ब नहीं किया। तुम रुष्ट मत होओ। उठो और प्रसन्न हो

जाओ। हे वीर! मैंने तुम्हें बालकपन में अपनी गोदी में उठाकर खिलाया। तुम छोटे होते हुए भी गुणों में मुझसे बहुत बड़े हो। अब रोष त्याग कर प्रसन्न हो जाओ।

□ मनाने का प्रयास

हे विश्वोत्तम पुरुष-श्रेष्ठ! तुम तो उत्तम पुरुष हो। तुम मुझे कहते रहते थे कि 'दाऊ! मैं आपके बिना रह नहीं सकता, न आपसे कभी रुष्ट हो सकता हूँ और न कभी आपके वचन का उल्लंघन करूँगा, फिर आज मुझसे अबोला क्यों लिया? रूठकर क्यों सो रहे हो? कहाँ गई तुम्हारी वह प्रीति?'

□ शव को कन्धे पर लिये घूमने लगे

"हे पुरुषोत्तम! तुमने नीति का उल्लंघन कभी नहीं किया, तो आज क्यों कर रहे हो? यह सूर्यास्त का समय महापुरुषों के सोने का नहीं है। उठो, अब विलम्ब मत करो।"

इस प्रकार प्रलाप करते बलराम जी ने सारी रात व्यतीत कर दी। प्रातःकाल होने पर भी जब कृष्ण नहीं उठे, तो बलराम जी ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठाकर कन्धे पर लाद लिया और वन में भटकने लगे। सुगन्धित पुष्प देखकर, उन पुष्पों से वे भाई का मस्तक और वक्ष-स्थल आदि सजाते और फिर उठाकर चल देते। पर्वत, नदी, तलहटी और उबड़-खाबड़ भूमि पर, भाई को स्नेहपूर्वक कन्धे पर लादकर वे भटकने लगे। इस प्रकार भटकते हुए कितना ही काल व्यतीत हो गया।

□ देव द्वारा मोह-भंग

वह सिद्धार्थ बन्धु, जो बलराम जी का सारथि था और जिसने प्रव्रजित होकर संयम साधना करके देवगति पाई थी, उसे अपने वचन का स्मरण हुआ। उसने अवधिज्ञान से बलदेव जी की यह दशा देखी, तो स्वर्ग से चलकर आया। उसने एक पत्थर का रथ बनाया और बलराम के देखते पर्वत पर से रथ को उतारा। वह रथ विषम पर्वत पर से उतरकर समतल भूमि पर आते ही टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अब वह कृषक रूपी देव रथ को साधने का प्रयत्न करने लगा। बलराम जी ने निकट आकर कहा—"मूर्ख! विषम-पथ में नहीं टूटकर समभूमि पर टूटा हुआ तेरा पत्थर का रथ भी अब जुड़ सकता है क्या? व्यर्थ का प्रयास क्यों कर रहा है?"

□ कौन मूर्ख ?

“महानुभाव ! मैं मूर्ख कैसे हुआ ? यदि सैकड़ों युद्धों में अप्रतिहत रहे आपके बन्धु, बिना युद्ध के ही गत-प्राण हो सकते हैं और वे पुनः जीवित भी हो सकते हैं, तो मेरा रथ यथापूर्व क्यों नहीं हो सकता।”—देव ने कहा।

“तू महामूर्ख है। कौन कहता है कि मेरा भाई मर गया ? ये तो प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न है।”—रोषपूर्वक कहकर बलराम जी आगे बढ़ गए।

□ पत्थर पर कमल

देव आगे पहुँचा और माली का रूप बनाकर, पत्थर पर कमल का पौधा लगाने का प्रयत्न करने लगा। बलराम जी ने देखा और बोले—“तुम्हारी समझ में इतना भी नहीं आता कि पत्थर पर भी कहीं कमल लगेगा ?”

“यदि मृत कृष्ण जीवित हो सकते हैं, तो पत्थर पर भी कमल खिल सकते हैं।”—देव ने कहा।

बलराम जी ने आँखें चढ़ाकर कहा—“तुम झूठे हो।” और वे आगे बढ़ गए।

आगे चलकर देव एक वृक्ष के जले हुए टूँठ को पानी से सींचने लगा।

“हे गँवार ! कहीं शुष्क टूँठ भी सींचने से हरा-भरा हो सकता है ?”—बलदेव जी ने टोका।

“आपके मृत-बन्धु जीवित हो सकते हैं, तो यह जला हुआ टूँठ भी हरा हो सकता है।”

रोषपूर्वक दृष्टि से उसे देखकर बलराम जी आगे बढ़े।

□ मृत गाय को घास-पानी

देव, ग्वाले के रूप में आगे बढ़कर एक मरी हुई गाय के मुँह में हरी घास भरने लगा और पानी डालने लगा। यह देखकर बलराम जी बोले—“अरे ग्वाले ! ढोर चराते-चराते तेरी बुद्धि भी ढोर जैसी हो गई है ? अरे मरी हुई गाय भी कहीं घास खाती है, पानी पीती है ?”

“महाराज ! यदि आपके मरे हुए बन्धु पुनः जीवित हो सकते हैं, तो मेरी गाय घास क्यों नहीं खा सकती है ?”

देव ने इस प्रकार के और भी प्रयत्न किये, तब बलराम जी के मन में विचार उत्पन्न हुआ—‘क्या ये सब लोग मूर्ख हैं, या मैं स्वयं भ्रम में हूँ? क्या सचमुच कृष्ण मुझे छोड़कर चले गए और यह उनका निर्जीव शरीर ही है?’

□ आये राह पर

अवधिज्ञान से बलराम जी को चिन्तन करते देखकर देव प्रसन्न हुआ। उपयुक्त अवसर आ गया था। वह अपने देव रूप से प्रकट होकर बोला—“महाराज! मैं आपका बन्धु एवं सारथि सिद्धार्थ हूँ। आपने मुझसे वचन लेने के बाद दीक्षा की अनुज्ञा दी थी। मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास संयम पालकर देव हुआ और द्वारिका-दाह तथा आपकी यह दशा जानकर यहाँ आया हूँ। आप मोह त्याग कर विचार कीजिये। भगवान नेमिनाथ जी ने क्या कहा था? द्वारिका-दाह और जराकुमार के निमित्त से कृष्ण के देहावसान की भविष्यवाणी भूल गये आप? कृष्ण ने जराकुमार को अपना कौस्तुभमणि देकर, पाण्डवों के पास भेजा और बाद में देह त्याग दिया। अब आप भ्रम छोड़कर सावधान बनें।”

□ अब मुझे क्या करना चाहिए ?

“बन्धु सिद्धार्थ! तुम मेरे हितैषी हो। तुमने मुझे मोह-नींद से जगाया। कहो, अब मुझे क्या करना चाहिए?”

“महाराज! बन्धु के शव का संस्कार करके भगवान अरिष्टनेमि जी के समीप निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार कर, जन्म-मरण की जड़ काटने का अन्तिम पुरुषार्थ कीजिये। एक मात्र यही आपके लिये करणीय है।”

□ अंतिम संस्कार

बलराम जी ने समुद्र-सिन्धु संगम के स्थान पर विरक्त भाव से बन्धु के शव का अग्नि-संस्कार किया और मोक्ष-साधना की भावना करने लगे। बलराम जी की भावना जानकर भगवान अरिष्टनेमि जी ने एक चारण मुनि को बलराम जी के निकट भेजा। बलराम जी ने मुनिराज से प्रव्रज्या स्वीकार की। कुछ काल गुरु के साथ रहकर बाद में गुरु आज्ञा से एकल विहार प्रतिमा धारण की। सिद्धार्थ देव उनका रक्षक बनकर रहा।

□ बलभद्र मुनि का रूप देख स्त्रियाँ मोहित

तपस्वी मुनिराज श्री बलभद्र जी, मासखमण के पारणे के लिए नगर में गये। वे पनघट की ओर होकर जा रहे थे। पनहारियों में एक स्त्री अपने बालक को लेकर आई थी। उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उनके अतिशय रूप पर मोहित होकर वह एकटक उन्हीं को देखती रही और उसके हाथ काम करते रहे। उसे यह भी भान नहीं रहा कि वह घड़े को छोड़कर अपने बालक के गले में रस्सी बाँधकर कुएँ में उतार रही है। बच्चे के चिल्लाने और निकट खड़ी दूसरी स्त्री के कहने पर वह सँभली।

□ नगर में जाने का त्याग

मुनिराज ने जब यह देखा, तो सोचा कि तपस्या करते और बिना शरीर-परिष्कार करने पर भी मेरा रूप दूसरों को मोहित करके अनर्थ करवा रहा है, तो मुझे अब नगर में आना ही नहीं चाहिये और वन में ही रहकर काष्ठादि के लिये वन में आने वाले वनोपजीवी लोगों से पारणे के दिन निर्दोष भिक्षा लेनी चाहिये। वे लौटकर तुंगिकगिरि पर आये और संयम-तप की आराधना करने लगे। वनजीवी लोगों ने एक तेजस्वी मुनिराज को ध्यानमग्न देखा, तो चकित रह गये। उन्होंने नगर में जाकर बात की और यह बात राजा तक पहुँची। राजा ने पता लगाया। उसे सन्देह हुआ कि मेरा राज्य लेने के लिये ही यह कठोर साधना और मन्त्र सिद्ध कर रहा है। इसे तत्काल मार डालना चाहिये, जिससे मेरा राज्य सुरक्षित रहे। राजा सेना लेकर मुनिराज को मारने के लिये पर्वत पर आया। सिद्धार्थ देव, मुनिराज का रक्षण कर रहा था। उसने राजा को सेना सहित आते देखकर वैक्रिय शक्ति से विकराल एवं भयंकर रूप वाले अनेक सिंह प्रकट किये और उनसे सेना पर आक्रमण करवाया। सेना भाग खड़ी हुई। उसके शस्त्र किसी काम में नहीं आये। अन्त में राजा ने मुनि को वन्दना की और लौट आया।

□ पशुओं पर बलभद्र मुनि का प्रभाव

बलभद्र मुनि शान्तिपूर्वक आराधना करने लगे। उनके प्रभाव से वन के सिंह-व्याघ्रादि प्राणी भी आकर्षित हुए और उनके साथ में शान्ति से रहने लगे। कुछ पशुओं पर तो इतना प्रभाव हुआ कि वे भी धर्मभावना से युक्त हो कर शान्त जीवन व्यतीत करने लगे। कोई-कोई तो उपवासादि भी करने लगे और मुनिराज के समीप ही रहने लगे। इनमें एक मृग ऐसा था

कि जिसे क्षयोपशम बढ़ने पर जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह संवेगयुक्त मुनिराज के निकट रह कर अपने योग्य साधना करने लगा। वह वन में काष्ठादि के लिये आये हुए लोगों में फिरता और जहाँ आहार-पानी का योग होता, वहाँ तपस्वी सन्त के आगे-आगे चलता हुआ ले जाता। इस प्रकार वह मुनिराजश्री के आहार-प्राप्ति में सहायक बनता।

□ बलभद्र मुनि की सेवा में लीन

एक बार कुछ सुथार, रथ बनाने के लिए लकड़ी लेने वन में गये। लकड़ी काटते-काटते मध्याह्न का समय हो गया, तब सभी ने भोजन करने का विचार किया। उधर मृग उन्हें देख कर तपस्वी महात्मा के पास आया और झुक-झुक कर प्रणाम करने लगा। महर्षि उसका आशय समझ गये और उसके पीछे चलने लगे। सुथारों के अग्रगण्य ने मृग के पीछे एक महात्मा को अपनी ओर आते हुए देखा, तो हर्षित हो उठा और सोचने लगा कि 'इस अरण्य में कल्पवृक्ष के समान ये महामुनि तो महान पुण्योदय से पधारे हैं।

□ सुथार मुनि को देख प्रसन्न हुआ

“अहो! मैं कितना भाग्यशाली हूँ। ये तपस्वी सन्त मेरे आहार में से कुछ ले लें, तो मैं पवित्र हो जाऊँ।” वह भक्तिपूर्वक महात्मा के सम्मुख आया और वन्दना करके आहार दान करने लगा। उसकी भावना बड़ी उत्तम थी। उस समय वह मृग भी निकट खड़ा विचारने लगा—‘धन्य है ये तपस्वी महात्मा! इनकी संगत से मेरा भी उद्धार हो गया। इन महात्मा के प्रभाव से ही मेरे हृदय में धर्म का उदय हुआ। धन्य है इस दाता को जिसका आहार, तपस्वी महात्मा मासखमण के पारणे के काम में आया। हाँ, मैं कितना दुर्भागी हूँ कि पशुपन के कारण महात्मा को आहार देने की भी योग्यता मुझमें नहीं है।’

□ बलभद्र मुनि पाँचवें देवलोक में गये

महात्मा तो धर्मभावनायुक्त थे ही। उसी समय अधकटी हुई वृक्ष की डाली, वायु के वेग से टूट कर गिरी। तपस्वीराज श्री बलभद्र जी, वह सुथार उसकी पत्नी और मृग— ये चारों उसके नीचे दब कर आयु पूर्ण कर गये और तीन जीव 'ब्रह्म' नामक पाँचवें देवलोक के पद्मोत्तर विमान में देवपने में उत्पन्न हुए और मृग आयु पूर्ण करके शुभ भाव से आठवें देवलोक में उत्पन्न हुआ। महात्मा बलभद्र जी एक सौ वर्ष संयम पाल कर स्वर्गगामी हुए।

कथानक में ऐसा वर्णन मिलता है कि स्वर्गस्थ होने के पश्चात् बलदेव जी ने अवधिज्ञान से अपने भ्राता को वालुका प्रभा में देखा, तो वे स्नेहवश वहाँ पहुँचे और उनसे मिले। वे उन्हें अपने साथ स्वर्ग में ले जाना चाहते थे, परन्तु यह अशक्य बात थी। वे लौट गए।

□ कृष्ण-मरण का संदेश पाकर पांडव-चिन्तन

उधर जराकुमार पांडु-मथुरा पहुँच गये। पांडवों को कौस्तुभमणि देकर बताया कि कैसे उसके हाथों चलाए तीर से श्रीकृष्ण मृत्यु को प्राप्त हो गए। वे पांडु-मथुरा ही आ रहे थे। पांडवों ने विचार किया—‘त्रिखंडाधिपति श्रीकृष्ण जो अपरिमित बल के धारक थे, जिन्होंने सोने की द्वारिका का निर्माण कराया, सामर्थ्य जिनकी कैसी कि द्रौपदी को धातकीखंड से छुड़ा लाए। ऐसे श्रीकृष्ण को भी मरना पड़ा, मौत ने ऐसे सामर्थ्यवान को भी नहीं छोड़ा तो हम तो हैं ही क्या चीज? एक बात तो निश्चित है कि हम सभी को भी मरना पड़ेगा। संसार, राज्य, सम्बन्धी सभी यहीं रह जायेंगे। शरीर को हमारे अपने कहे जाने वाले प्रियजन ही अग्नि में समर्पित कर देंगे।’

□ संसार से विरक्त बन पांडव श्रमण बने

चिन्तन की ऐसी ही धारा में बहते-बहते उनके मन में संसार से विरक्ति के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। अब तक पाण्डुसेन बड़ा हो चुका था, युवराज बन चुका था। अतः उसे राज-सिंहासन पर आसीन कर पाँचों पांडव धर्मघोष मुनि के पास दीक्षित हो गए। इन पांडव-श्रमणों ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक उपवास, बेला आदि से लेकर मासक्षमण तक की अनेक तपस्याएँ कीं। एक दिन नगर में भिक्षार्थ घूमते हुए पांडव-मुनियों ने अरिहंत-तीर्थकर अरिष्टनेमि प्रभु के सुराष्ट्र जनपद में विहार-विचरण की बात लोगों के मुँह से सुनी। दर्शन की कामना से उन पांडव-मुनियों ने गुरु-आज्ञा प्राप्त की। अभिग्रह धारण किया कि “जब तक अरिहंत अरिष्टनेमि के हम दर्शन नहीं कर लेते, तब तक मासक्षमण के पारणे में मासक्षमण तप करेंगे।” ऐसा अभिग्रहण धारण करके तीर्थकर-प्रभु के दर्शनार्थ विहार कर दिया। हस्तिकल्प नगर में मासक्षमण के पारणक में भिक्षार्थ नगर में घूमते इन मुनियों ने लोगों को परस्पर यह कहते सुना कि तीर्थकर भगवंत

अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत पर एक मास का निर्जल उपवास करके पाँच सौ छत्तीस साधुओं के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

□ तीर्थंकर अरिष्टनेमि का निर्वाण संदेश सुन पांडवों द्वारा संथारा और मुक्ति

ऐसा सुनकर, तथ्य की सत्यता परखकर वे मुनि सहस्राम्र उद्यान में आए। भिक्षा में लाए आहार को एकान्त स्थान में विवेकपूर्वक परठा। परठकर वे सभी शत्रुञ्जय पर्वत पर गए। दो मास की संलेखना से कर्मों का शोषण किया और पादपोषगमन अनशनपूर्वक भयंकर परीषह उपसर्गों को सहन करते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

□ द्रौपदी का देवलोक गमन

देवी द्रौपदी ने आर्या सुव्रता जी से दीक्षा ली। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। बहुत काल तक श्रमण-पर्याय का पालन किया। अंत समय में एक मास की संलेखना कर, काल के समय काल कर ब्रह्मलोक नामक पाँचवें देवलोक में द्रुपद देव के रूप में जन्म लिया। वहाँ दस सागरोपम की स्थिति के पश्चात् महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले द्रौपदी का जीव सर्व कर्मों का अंत कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

□ लक्ष्य मुक्ति का बने : रत्नत्रयी की आराधना हो

लक्ष्य हमारा भी मुक्ति पाना है और आपका भी यही लक्ष्य है। यदि नहीं बना है लक्ष्य तो निर्धारण करना है इस लक्ष्य को। केवल लक्ष्य बना लेना ही काफी नहीं होगा, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना होगा। मुक्ति के लिए संयम में पुरुषार्थी बनना है। सम्यक् ज्ञानाराधन हो, सम्यक् श्रद्धा अटूट बने और सम्यक् तपश्चरण की साधना की जाए, तभी यह रत्नत्रयी आपको और हमें अपने लक्ष्य पर पहुँचाएगी।

आनंद ही आनंद !



छः मासा माही, कर्म किया चकचूर

(महान् क्षमावंत मुनि अर्जुनमाली)

आत्म-बन्धुओं!

महान् पावन-पर्व पर्युषण का आधा हिस्सा व्यतीत हो चुका है। आज पर्व का पाँचवाँ दिवस है। आज का दिन व्यतीत होने के पश्चात् केवल तीन दिन बाकी रहेंगे। अनेक व्यक्तियों ने इन दिनों का अधिकांश समय धर्मध्यान, त्याग-तप, व्रत-प्रत्याख्यान आदि में पुरुषार्थ कर पर्व को व अपने आपको सफल बनाया होगा। अनेक ऐसे भी होंगे जो 'खाओ, पीओ, ऐश करो'—की मान्यता को बढ़ावा देकर मौज-मस्ती में लगे होंगे। मन में उनके भी अवश्य यह भावना रह-रहकर आती होगी कि चलें, हम भी धर्मध्यान करें पर मन नियंत्रण में नहीं, कमजोरी है मनोबल में, अतः ध्यान आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता में ही अटका रह गया।

ऐसी भटकती हुई आत्माओं को अब जाग जाना चाहिए। अज्ञान के अंधकार को छोड़कर धर्म की, आत्म-ज्ञान की एक उजली किरण की ओर अभिमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए। दिन कम रह गये हैं, समय थोड़ा रह गया है, अतः कार्य की पूर्णता व सफलता के लिए अधिक पुरुषार्थ और पूर्ण लगन आवश्यक है।

□ जीवन-चरित महापुरुषों के, हमें नसीहत देते हैं

महापुरुषों के आदर्श जीवन-प्रसंग बहुत कुछ सिखाते हैं। उनका जीवन स्वयं ही शिक्षारूप है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र में पुरुषार्थ की शिक्षा देता है उन महापुरुषों का जीवन। शिक्षा मिलती है हमें उन सभी के जीवन से कि हम समभावों में रमण करें। कभी आवेश, क्रोध, रीस का प्रसंग आ जाये तो निमित्त को दोष न देकर अपने कर्मों को दोष दें। इस भावना से नवीन कर्मों का बंध नहीं हो पायेगा और रसायन, भावना, चिन्तन उत्कृष्ट हुआ तो पुराने बंधे हुए कर्म निर्झरित हो जायेंगे।

महापुरुषों के जीवन हमें सिखाते हैं कि राग हो या द्वेष हो, दोनों ही स्थितियों में समभावी बनो, मध्यस्थ भाव रखो। जैसी भी अच्छी या बुरी परिस्थितियाँ आयें, दृष्टा बनकर जीना सीखो। आनंद की घड़ियों में अति लीन मत बनो और विपदाओं व दुःखों के आने पर आर्त मत करो। करोगे तो दुःख पाओगे, संसार बढ़ेगा।

□ 'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं'

सुन रहे हैं आप उन महापुरुषों के प्रसंग जिन्होंने समभाव को जीवन में उतारा, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पथ पर बढ़े, जिन्होंने आत्म-शुद्धि के लिए विकट साधना की स्थितियों को सहज ही स्वीकार किया।

बंधुओं! सुनने-सुनने में भी बहुत अन्तर है। उन महापुरुषों ने भी सुना वीतराग वाणी को और वे पाप-भीरु बनकर संसार-विरक्त बन गये। आप भी सुन रहे हैं पर पाप-भीरु नहीं बन रहे, करुणा और अनुकम्पा के भाव नहीं जग रहे आपके दिलों में, प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव—“आत्मवत् सर्व भूएसु” का भाव अन्तर् में जागृत नहीं हो रहा।

होना तो चाहिए कि कहीं भी किसी को पाप करते हुए देखें आप तो आपका रोम-रोम खड़ा हो जाना चाहिए, दिल में कम्पन महसूस होनी चाहिए, चिन्तन में तरंगें पैदा होनी चाहिए कि “हाय! इस बिचारे की क्या गति होगी? आज पाप में मगन है, पर जब फल भोगना होगा तो कितना कष्ट उठायेगा यह, इस नादान को अब कौन समझाए?” इस तरह का कम्पन जिनके अन्तर् में होगा वे पाप-कार्य नहीं करेंगे, उन्हें पाप-कार्य करना भी पड़ेगा तो वे उसे निर्लिप्त भाव से करेंगे। यही सम्यग्दृष्टि है। प्रभु कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव कभी पाप नहीं करता—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं !

बंधुओं! मन में संकल्प करिए कि कभी भी, किसी के द्वारा यदि दुर्व्यवहार किया जायेगा, अशोभनीय व्यवहार किया जायेगा तब भी आप समता रखेंगे, सहनशील बनकर मुस्कराते रहेंगे, दिल में द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध के भाव नहीं आने देंगे। याद करिए तीर्थंकर प्रभु महावीर के जीवन को। एक रात्रि में संगमदेव ने भयंकरतम बीस उपसर्ग खड़े किए पर प्रभु ने तब भी समभाव रखा और संगम पर रखा करुणा का भाव, अनुकम्पा का भाव। महावीर के अटल-धैर्य को देख चकित संगमदेव ने क्षमा याचना की तो प्रभु ने ध्यान

खोला। संगमदेव के प्रति करुणा के भावों का जो ज्वार उठा तो वीतरागी प्रभु की आँखों से भी अश्रुधारा बह चली। उनका चिन्तन था—‘मेरे कर्मों को काटने में तो यह सहयोगी बना पर स्वयं इसने अपने जन्म-जन्मान्तरों तक के लिए कर्मबन्ध कर लिए, जिन्हें इसे भोगना होगा और तब इसे कितना कष्ट होगा?’ कैसी करुणा थी, उन करुणा-सिंधु महावीर के मन में? उनके साधना जीवन में घोर उपसर्ग आये पर वे समता भाव में ही रहे, तनिक भी विचलित नहीं हुए।

□ प्रतिकार करें तो अपराधी के हृदय-परिवर्तन की भावना से

अब विचार करिए, आपके साथ कोई व्यक्ति जरा-सा भी दुर्व्यवहार करे, अपशब्द कहे, थप्पड़ आदि मारे तो आप क्या करेंगे? क्या चुपचाप सहन कर लेंगे? आप कहेंगे—“यह तो कायरता होगी? दुराचारी का हौसला बढ़ जायेगा। अन्याय का तो प्रतिकार करना होगा। अतः बाब जी! हम तो ईंट का जवाब पत्थर से देंगे।”

□ प्रतिशोध व द्वेष भाव से प्रतिकार जीवन को नष्ट करेगा

बंधुओं! यह ठीक है कि अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए, पर ध्यान रहे उसमें भी अन्यायी के हृदय-परिवर्तन की भावना, दुराचारी को सुधारने की भावना होनी चाहिए। ऐसा न हो कि आपका प्रतिकार उसे और अधिक बिगाड़ दे। यह भी ध्यान रहे कि आपके मन में प्रतिकार के साथ प्रतिशोध का भाव न हो। जहाँ प्रतिशोध भाव आया, द्वेष की भावना आयी, ‘ऐसा सबक दूँ इसे कि जीवनभर याद रखे’—इस तरह का भाव आया तो समझिए समताभाव सम्यग्दृष्टि, विवेक-बुद्धि सभी तिरोहित हो जायेंगे।

□ धन अर्जुन माली, किया कदाग्रह दूर

अर्जुन माली यदि प्रतिशोध भाव मन में लिए रहता तो क्या वह पापमुक्त बन सकता था? क्या वह बंधे हुए घने कर्मदल से छूट सकता था? कर्म-कारा को पूर्णतः तोड़कर क्या वह मुक्ति का उपासक बन सकता था?

कहाँ तो वह अर्जुन माली जो प्रतिदिन छह पुरुष और एक नारी की हत्या करता था और कहाँ उसका परिवर्तित वह रूप जिसमें अपनी सहनशीलता, क्षमाभाव तथा तप की पराकाष्ठा के कारण वह पूर्व संचित समस्त कर्मदलों का भंजन कर देता है।

युगप्रधान एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने 'बड़ी साधु वन्दना' में उसके तप एवं क्षमाभाव को अपनी भाव-प्रगति देते हुए लिखा है—

धन अर्जुन माली, कियो कदाग्रह दूर।
वीर पै व्रत लेइने, सत्वादी हुआ शूर ॥ ६८ ॥
करी छठ-छठ पारणा, क्षमा करी भरपूर।
छह मासा माही, करम किया चकचूर ॥ ६९ ॥

□ जातीय-गौरव

अर्जुन मालागार का जीवन-प्रसंग अंतगडसूत्र में छठे वर्ग के तीसरे अध्ययन में विस्तारपूर्वक दर्शाया गया है।

जाति से वह फूलमाली था। बंधुओं! मालागार या माली जाति का जिनशासन की सेवा में, उसके प्रसार-प्रचार में बड़ा सहयोग रहा है। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. जिनके प्रभाव से जिनानुयायियों में आयी शिथिलता का नाश हुआ, 'यति' समूह के बढ़ते प्रभाव का उन्मूलन हुआ, शास्त्रों तक श्रावक-वर्ग की पहुँच बनी तथा पुनः शुद्ध श्रमणाचार की धारा बही, ऐसी धारा जिस धारा का वेग अद्यतन विद्यमान है; उन धर्मधुरंधर आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के ५१ शिष्य हुए। इन ५१ शिष्यों में से नौ शिष्य 'माली' जाति के पुण्यवान नक्षत्र थे, जिनमें उदो जी व केशव जी ये दो महामुनि आचार्यश्री के पूर्ण कृपापात्र शिष्य थे जो कि महान् त्यागी, संघ-सेवा की प्रतिमूर्ति थे, जिन्होंने आचार्यश्री के श्रीमुख से एक साथ अनशन स्वीकार किया था। वे दोनों सगे सहोदर भाई थे। इससे पूर्व और पश्चात् भी अनेकानेक तेजस्वी संत इस जाति से हुए हैं। महान् साधक स्वाध्याय-प्रेमी पूज्य गुरुदेव श्री चाँदमल जी म. सा. जिन्हें इस धरती का चाँद कहा जाता था एवं अजातशत्रु के रूप में जिनके नाम का स्मरण किया जाता है, वे भी माली कुलोत्पन्न थे महान् आत्मार्थी। गुरुदेव उपाध्याय प्रवर श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा., जो इस समय प्रत्यक्ष आपके समक्ष विराजमान हैं, इसी माली जाति की जाज्वल्यमान देन हैं। साधना-सिद्ध गुरुदेवश्री की महिमा भला आप भक्तों से क्या छुपी है? एक पंक्ति में कहूँ तो संयम-शिरोमणि, अध्यात्मयोगी, आगम-विवेचक गुरुदेवश्री अपने नाम के अनुरूप सचमुच ही ऐसे पारस हैं, जिनका स्पर्श, जिनका बरदहस्त पाकर लौह-समान सांसारिक जीवात्मा भी स्वर्ण-समान

आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लेती है। स्वयं मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ कि मुझे आपश्री का बरदहस्त मिला। उसी का प्रताप है कि मैं क्या से क्या बन गया ?

□ मुद्गरपाणि यक्ष

अर्जुन जाति का मालागार था। फूलों का चयन कर उन्हें बेचना उसका पुश्तैनी धंधा था। अतः वे फूलमाली कहे जाने लगे। राजगृही नगरी के बाहर उसकी अपनी एक पुश्तैनी पुष्प-वाटिका थी। लम्बी-चौड़ी उस सुन्दर, मनोहर वाटिका में अनेक जाति के, अनेक रंगों के, भिन्न-भिन्न सुगंधी वाले मनभावन फूल सदैव खिले रहते थे।

अर्जुन माली के पिता, दादा, परदादा और उससे भी पूर्व के उस कुल के लोग अपनी इस वाटिका से खिले हुए सुन्दर-सुगंधित फूलों को चुन-चुनकर तोड़ते और प्रतिदिन बाजार में विक्रय कर उस आमदनी से आजीविका चलाते थे।

उस पुष्प-वाटिका के सन्निकट ही एक यक्षायतन था, जिसमें 'मुद्गरपाणि' नाम का एक यक्ष प्रतिष्ठित किया हुआ था। यह परम्परा थी कि अर्जुन के कुल-परिवार के सभी जन जो भी फूलों को विक्रयार्थ बाजार में ले जाते, उन फूलों को ले जाने से पहले उस यक्षायतन में आते और यक्ष की सेवा-पूजा-अर्चना करते हुए फूलों की प्रथम भेंट उसको समर्पित करते। लोगों का मानना था कि इस यक्षायतन का यक्ष बहुत पुराना, तेजस्वी और सत्य-प्रभाव वाला था। उस मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा के हाथ में एक हजार पल जितने भार वाला (वर्तमान तोल के अनुसार लगभग ५६ किलो वजन का) लोहे का एक मुद्गर था। स्वयं अर्जुन माली बचपन से ही उस मुद्गरपाणि यक्ष का अनन्य उपासक था। वह प्रतिदिन अपनी पुष्प-वाटिका से फूलों को चुन-चुनकर एकत्रित करता और उन्हें बाजार में लिए ले जाने के पूर्व उत्तम-उत्तम चुने हुए फूलों से उस यक्ष की अर्चना करता था और साष्टांग दण्डवत् होकर उसे नित्य प्रणाम करता था।

□ छह गोठीला पुरुष-मण्डली

उस राजगृही नगर में 'ललिता' नाम की एक मित्र-मण्डली थी। छह गोठीला पुरुषों की इस मित्र-मण्डली ने किसी समय राजगृही के राजा श्रेणिक का कोई अत्यन्त हितकारी कार्य सम्पादन किया एतदर्थ राजा श्रेणिक ने प्रसन्न होकर उन छह पुरुषों की मित्र-मण्डली को 'अभय' कर दिया और कह दिया कि वे छह गोष्ठी-पुरुष इस नगर में अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करने में स्वतन्त्र हैं।

□ व्रतों में छूट ही छिद्र है

आज हमारे नवयुवक भी स्वतंत्रता चाहते हैं। वे यहाँ धर्मस्थान में आते हैं तो भी चाहते हैं कि धार्मिक कार्यों में कुछ स्वतंत्रता मिले, आजादी मिले, बंधन न हो। व्रत-प्रत्याख्यानों आदि में भी छूट चाहते हैं वे। उनका कहना है कि इस पंचम आरक में यह संयम का मार्ग अति दुष्कर है, चारित्र का विशुद्ध पालन अत्यन्त कठिन है, अतः संयम में भी थोड़ी छूट, थोड़ी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। बस, कुछ बातों की छूट दीजिए, जैसे—माइक पर भाषण, केश लॉच की जगह रेजर शेविंग, फ्लश में शौचादि निवृत्ति, गीजरयुक्त बाथरूम में स्नान, साबुन-इत्र-परफ्यूम का प्रयोग आदि, फिर देखिए चेलों की लाइन लग जायेगी।

□ ध्वनि-विस्तारक यन्त्र और श्रमण : छिद्र विस्तार पा रहा है

बन्धुओं! वे नहीं जानते कि नाव का एक मामूली छोटा-सा छिद्र ही उस नाव के डुबोने का कारण बन जाता है। भीनासर साधु-सम्मेलन में प्रस्ताव रखा गया था कि श्रमणों को माइक प्रयोगों की छूट होनी चाहिए। उस समय आगमज्ञाता एवं आगम-व्याख्याता पं. रत्न आचार्य श्री लालचंद जी म. सा. ने आगम के अनेकों अकाट्य प्रमाण देते हुए इसे हिंसाजनक, साधु के महाव्रतों को भंग का कारण और भविष्य के लिए जिनशासन की प्रभावना के लिए घातक बताकर इस तरह की छूट का प्रबल विरोध किया था। उन्होंने स्पष्ट किया था कि इस एक छूट के पीछे धीरे-धीरे अनेकों छूटें मिल जायेंगी और यही छूटें संयम तथा संयमियों को डुबोने वाली बन जायेंगी। यह संघ शनैः-शनैः क्षीण होते-होते जर्जर हड्डियों का मात्र ढाँचा रह जायेगा।

बंधुओं! पूज्य गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री लालचंद जी म. सा. की तब की कही हुई बात आज पूर्णतः सत्य सिद्ध हुई। जब से—“आवश्यकता होने पर ध्वनि-विस्तारक यंत्र का प्रयोग किया जा सकता है, पर प्रयोग के बाद उसका प्रायश्चित्त लिया जाये”—इस तरह की छूट श्रमणसंघ ने रखी, छूट का वह छिद्र निरन्तर विस्तार पाता रहा। आज तो स्थिति ही अजीबो-गरीब है। आप देखते हैं, सुनते हैं माइक के साथ पंखे, विद्युत-ट्यूब्स व बल्ब का प्रकाश, टॉर्च, हीटर, गीजर, शॉवर, फ्लश, टी. वी., मोबाइल फोन और भी न जाने क्या-क्या साधन प्रत्यक्ष-परोक्ष अनेक महाव्रती श्रमणों के उपयोग में आ रहे हैं। जरा-सी आधि-व्याधि हुई कि मोटरकार, एरोप्लेन से यात्रा हो रही है, मुम्बई-मद्रास-अहमदाबाद के अत्यंत खर्चीले चिकित्सालयों में चिकित्सा, सर्जरी हो रही

है। मरण को महोत्सव बनाने का विधान जिनके हैं, वे जीवन को महोत्सव का रूप दे रहे हैं—अग्नि, वायु, जल के असंख्य जीवाणुओं की हिंसा की भित्ति पर खड़े होकर। समाज इस विषय में चिन्तन करने के स्थान पर शिथिलाचार का सहयोगी और सहभागी बन रहा है। जाने क्या होगा इस जैनधर्म का, जिनशासन का, जिनानुयायियों का?

□ जो गोष्ठी-पुरुष कर दें, वही श्रेष्ठ

‘ललिता’ नामक गोष्ठी को भी छूट मिली। उस छूट का आगे जाकर भयावह रूप स्पष्ट उभरने लगा। वे गोष्ठी-पुरुष दुराचारी और अन्यायी बन गये। परिवार से भी सभी अत्यन्त समृद्ध तो थे ही, राजपरिवार से अपराभूत भी बन गये। अच्छा या बुरा, वे जो भी करते उसे राजाज्ञा के कारण स्वीकार किया जाता। राजाज्ञा ही ऐसी थी—“जो वे गोष्ठी-पुरुष कर दें, वही श्रेष्ठ।” राज्य की ओर से उन्हें पूरी छूट थी, उनका पूरा संरक्षण हो रहा था, अतः वह छह ही मित्रों की मण्डली बहुत उच्छृंखल और स्वच्छंद बन गयी। उनकी आदत बन गयी—नगर में जहाँ अच्छी चीज दिखाई देती उसे उठा लेना, भोग लेना। न कोई कहने वाला था, न कोई सुनने वाला था।

□ अर्जुन माली की पत्नी बंधुमती पर मुग्ध गोठीला पुरुष

एक दिन राजगृही में किसी उत्सव मनाने की घोषणा हुई। घोषणा अर्जुन ने भी सुनी। सोचा—‘उत्सव का अवसर है तो फूल अधिक बिकेंगे, भारी माँग रहेगी फूलों की।’

दूसरे दिन वह प्रातः जल्दी उठा, अपनी भार्या बंधुमती को भी अपने साथ लिया, बाँस की दो टोकरियाँ लीं और घर से बाहर निकलकर राजमार्ग से होता हुआ तेज-तेज गति से अपनी फुलवारी की तरफ चला। फुलवाड़ी में पहुँचकर दोनों पति-पत्नी फूलों को चुन-चुनकर एकत्रित करने लगे।

संयोग की बात। वे छह ललित-गोष्ठी पुरुष भी उस समय उधर आ निकले। वे सभी यक्षायतन में गये और वहाँ परस्पर आमोद-प्रमोद करते हुए उछल-कूद करने लगे। उधर अर्जुन माली अपनी पत्नी बंधुमती के साथ फूल इकट्ठे कर उनमें से कुछ उत्तम फूल चुन, उन उत्तम फूलों को लेकर मुद्गरपाणि यक्ष की पूजा करने के लिए यक्षायतन की ओर गया।

उन छह मित्रों की स्वच्छंद मंडली ने उन दोनों को यक्षायतन की ओर आते हुए देखा तो उनमें से एक बोला—“इस माली की पत्नी का रूप कितना सुन्दर है? यह इधर ही आ

रहा है। हम लोगों के लिए यह उत्तम अवसर है। ये जब यक्षायतन में पहुँचे तो हम माली के दोनों हाथ पीछे करके बाँध देंगे और उसकी पत्नी के साथ आनन्दपूर्वक खूब काम-क्रीड़ा करेंगे।”

□ बंधुमती के साथ गोठीला पुरुषों की काम-क्रीड़ा

सभी ने उसकी कही गई बात को स्वीकार किया। योजनानुसार वे सभी यक्षायतन के खुले हुए विशाल दरवाजों के पीछे छुप गये।

उधर उन दोनों ने यक्षायतन में प्रवेश किया। क्या होगा यहाँ? इससे वे बेखबर थे। अर्जुन की मुखमुद्रा पर प्रसन्नता थी। भक्तिपूर्वक प्रफुल्लित भावों के साथ उसने मुद्गरपाणि यक्ष की मूर्ति पर उत्तमोत्तम फूल चढ़ाए और दोनों घुटने भूमि पर टेककर साष्टांग दण्डवत् होने लगा। तभी दरवाजों के पीछे छिपे वे छह ही गौष्ठिक पुरुष तीव्र गति से बाहर निकले और अर्जुन माली को पकड़कर उसके हाथ पीछे की ओर बाँधे और उसे वहीं पटक दिया।

अब वे बंधुमती की ओर बढ़े। चकित और भयभीत बंधुमती के मुँह से आवाज तक नहीं निकल पायी। वे छह ही पुरुष मरे हुए पशु के कलेवर पर गिद्ध टूट पड़ते हैं, उसी भाँति उस अबला पर टूट पड़े। अर्जुन माली विवश था, कुछ भी नहीं कर सका वह, देखता रहा केवल।

□ अर्जुन माली का चिन्तन

उस समय अर्जुन माली के मन में विचार आया—‘जिस यक्षदेव की मैं बचपन से भक्तिपूर्वक पूजा-अर्चना करता आ रहा हूँ, जिसे मैंने अपना इष्टदेव माना है, जिसकी पूजा के बाद ही मैं फूल बेचने जाता हूँ। वास्तव में वह कोई यक्ष या देव नहीं है। यदि होता तो मुझे इस तरह विपत्ति में पड़ा देखकर मेरी सहायता अवश्य करता। निश्चय ही इस यक्ष में किसी तरह का देव-विधान नहीं है।’

मूर्ति में प्रतिष्ठापित मुद्गरपाणि ने अपने ज्ञान से जब यह सारा घटित प्रसंग जाना तो वह चिन्तित हो गया। वह एक मिथ्यादृष्टि देव था। अर्जुन मालागार के भावों को वह समझ गया। सोचा—‘यह तो बहुत बुरा हुआ और यदि मेरे अनन्य भक्त अर्जुन की मुझसे निष्ठा पूर्ण रूप से उठ गयी, श्रद्धा मूल से समाप्त हो गयी तो और भी बुरा होगा। मुझे कुछ न कुछ करना चाहिए।’

□ यक्ष का अर्जुन मालागार के शरीर में प्रविष्ट होना

मुद्गरपाणि यक्ष अपना सत्य-प्रभाव दर्शाने के लिए अर्जुन माली के शरीर में प्रविष्ट हो गया। यक्ष की शक्ति मानव-शक्ति से असंख्यात गुना अधिक। जैसे ही शरीर में प्रविष्ट हुआ यक्ष, उसने सर्वप्रथम बंधनों को तड़ातड़ तोड़ डाला फिर हजार-पल भार वाले लोहे के मुद्गर को उठाया। यक्षाविष्ट अर्जुन माली में अचानक आयी शक्ति और उसका प्रदर्शन देख वे छह गोठीले पुरुष चकित व भयभीत हुए। वे कुछ भी सोच-विचार करें उससे पहले ही उस अर्जुन माली ने उन छह गौष्ठिक पुरुषों तथा अपनी पत्नी बंधुमती को उस मुद्गर के प्रहार से मौत के मुँह में पहुँचा दिया।

□ प्रतिदिन छह पुरुष व एक नारी का हनन-हत्या

यक्षाविष्ट अर्जुन माली इन सातों को मारकर ही शान्त नहीं बन गया अपितु अधिक आन्दोलित हो गया। मृतकों के हड्डियों से कडङऽऽ, ओयरेऽऽ के शब्दों ने उसे लुभा दिया और वह दृश्य, वह आनन्द उसके मन को भा गया। व्यन्तरोँ के लिए ऐसा कार्य, ऐसा दृश्य आह्लाददायक ही होता है। वह अब राजगृही नगर की बाहरी सीमा के आस-पास नित्य एक औरत और छह पुरुषों की हत्या करने लगा। नगर के लोगों में यह बात फैल गयी। सभी नगर-जन भयभीत बने नगर के भीतर में सिमट गये। कोई भी नगर-सीमा से बाहर जाने का साहस नहीं कर पाता था। नगराधिप राजा श्रेणिक ने भी यह बात सुनी तो उन्होंने पूरे नगर में घोषणा करवा दी कि “कोई भी व्यक्ति घास-फूस, लकड़ी, पानी, फल-फूल आदि के लिए अथवा अन्य किसी भी कार्य से नगर के उस दरवाजे से बाहर न निकले।”

□ प्रभु महावीर का पदार्पण

उन्हीं दिनों श्रमण भगवान महावीर प्रभु धर्मोपदेश करते, ग्राम-नगर-पुर विचरण करते राजगृही नगर पधारे और नगर के बाहर उद्यान में विराजित हुए। राजगृही नगर के नागरिकों ने प्रभु के आगमन का सन्देश सुना तो वे सभी उनके दर्शन के लिए तथा धर्मोपदेश श्रमण के लिए अत्यन्त लालायित हो उठे किन्तु भय था अर्जुन माली का। राजाज्ञा भी थी, उस दरवाजे से नगर के बाहर न जाने की। जिनका नाम ही सुन लिया जाये तो महाफल की प्राप्ति होती है उन प्रभु महावीर के दर्शन व उनके श्रीमुख से निस्सृत पावन वाणी सुनने का फल तो अकथनीय, अवर्णनीय है। सुनी वाणी और धार ली हृदय में तो बेड़ा पार है। जिसने

भी भगवान के द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म का विपुल अर्थ ग्रहण किया, उसका तो जीवन ही सफल बन गया।

□ मरण तणो भय भारी

बंधुओं! नगर-जनों के मन में एक ओर तो दर्शन व उपदेश श्रवण की उत्कंठा पर दूसरी ओर मरण का भय! बड़ा भयंकर है मरण का भय। कहा भी है—

सात भय संसार में, मरण तणो भय भारी।

मरने का भय सबसे बड़ा। मारने को तो अनेक लोग तैयार हो जायेंगे पर मरने को कोई तैयार नहीं होगा। सभी प्राणियों की कामना यही रहती है कि वे जीयें, खूब जीयें। मरने की कामना कोई नहीं करता। सब डरते हैं मौत से। मरण-समय हो तो भी यह चिन्ता कि कहीं हम मर न जायें, कहीं हमारी मौत न आ जाये। जानते हैं कि जन्म लेगा, वह मरेगा जरूर। मृत्यु ही जीवन का एक मात्र सत्य है पर इसी सत्य से विश्व के सभी प्राणी भयभीत बने हुए हैं। अत्यल्प व्यक्ति हैं ऐसे जो मरने से नहीं डरते। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को जिन्होंने समझ लिया वे भला मृत्यु से क्यों डरें? राजगृही नगर में भी एक ऐसा भेदविज्ञान का ज्ञाता श्रमणोपासक, प्रभु-भक्त रहता था। नाम था उसका 'सुदर्शन'।

मारवाड़ी में एक कहावत प्रसिद्ध है—'डरे सो मरे'! जो निडर है, अभय है वह मरकर भी नहीं मरता। डरने वाले की मृत्यु बालमरण या अज्ञानमरण कहलाती है, पर निडर की मृत्यु पंडितमरण का सम्मान पाती है। निडर व्यक्ति स्वयं अभय रहता हुआ संसार के सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता है। डरपोक धर्म का स्मरण नहीं कर पाता पर 'अभय' की छत्रछाया में पल रहा व्यक्ति प्रतिपल धर्म को ध्यान में रखते हुए अपना आचरण करता है।

□ श्रमणोपासक सुदर्शन

सुदर्शन के मन में भी उत्कंठा जगी—प्रभु के दर्शनों की। सुदर्शन के लिए शास्त्रों में विवरण मिलता है कि "वे पुण्य व पाप के हेतु-ज्ञाता थे, कर्म आने के मार्ग व उसके निरोधी तत्त्व को जानते थे, कर्मों के देशतः क्षय करने का रहस्य भी उन्हें ज्ञात था। निर्जरा, बंध व मोक्ष आदि तत्त्वों की उनमें समझ थी। वे विविध देवी-देवताओं की सहायता भी नहीं चाहते थे। निर्ग्रन्थ भक्ति और वीतराग वाणी से उन्हें देव भी विचलित नहीं कर सकते थे। वे वीतराग वाणी में निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सक थे। वे धर्मकरणी के

फल में सन्देहरहित थे। वे धर्म के अर्थ को जानकर, निश्चय कर, संशयरहित बन उसे ग्रहण करते थे। उनकी नस-नस में, रग-रग में धर्म समाया हुआ था। वे व्रत, पौषध आदि अनेक धार्मिक अनुष्ठान करते थे और साधु-साध्वियों को अशनादिक चौदह प्रकार का निर्दोष दान देते अथवा देने की भावना नित्य किया करते थे।”

□ सुदर्शन की प्रभु-दर्शन-कामना : माता-पिता भयभीत

सुदर्शन ने प्रभु दर्शन हेतु जाने की कामना अपने माता-पिता के समक्ष रख उनसे आज्ञा चाही तो माता-पिता ने अर्जुन माली के भय का कथन करते हुए प्राणों के संकट की बात बताकर मना किया और बोले—“मृत्यु के मुख में जानबूझकर चले जाना बुद्धिमानी नहीं है। अतः तुम यहीं से प्रभु को वन्दन-नमन कर लो।” ऐसा कहकर अनेक प्रकार से उसे समझाया पर सुदर्शन वहीं से वन्दन-नमन के लिये तैयार नहीं हुआ। उसने कहा—“जब प्रभु स्वयं यहाँ पधारे हैं तो मैं दर्शनों का महामंगलकारी लाभ क्यों न प्राप्त करूँ?”

□ माता-पुत्र संवाद

सुदर्शन और माता के बीच चल रहे इस संवाद को किसी गीतकार ने अपने सुन्दर शब्दों में पिरोया है—

सुदर्शन— मन हरषे, मेरा तन तरसे, मैं जाऊँ प्रभु के द्वार रे,
पाऊँ दर्शन मंगलकारी ॥ टेरे ॥

करुणा-सागर, जगहितकारी, प्रभु जी आज पधारे।
राजगृही के बाहर वन में, जग के भव्य सहारे,
हो माता, जग के भव्य सहारे ॥
दर्शन को, पदरज फरसन को, मैं जाऊँ प्रभु के द्वार रे,
पाऊँ दर्शन मंगलकारी ॥ १ ॥

माता— मत मचले, वन्दन यहीं कर ले, मेरे वत्स सुदर्शन लाल रे,
प्राण हरे अर्जुन माली ॥ टेरे ॥

घट-घट के भावों को जाने, प्रभु जी हैं उपकारी।
नमन करें स्वीकार यहीं से, वे प्रभु महिमाधारी,
रे बेटा, वे प्रभु महिमाधारी ॥

हम आकुल, बेबस व्याकुल, वे देख रहे सब हाल रे,
प्राण हरे अर्जुन माली ॥ २ ॥

सुदर्शन— प्रभु जी देखें, मैं नहीं देखूँ, यह दुविधा है भारी ।
दर्शन कर लूँ, वाणी सुन लूँ, हर लूँ मोह खुमारी,
हो माता, हर लूँ मोह खुमारी ॥
क्यों घर में, रहूँ मैं डर में, छू चरण में अभय विहार रे,
पाऊँ दर्शन मंगलकारी ॥ ३ ॥

माता जब देखती है कि पुत्र के मन में दर्शन की अति उत्कट लालसा है, वह भयभीत नहीं है, न बहकावे में आ रहा है तो कहती हैं—

माता— धर्म कार्य में पहला साधन, तन क्यों यों ही हारे ।
दया हमारी कर एकाकी, वल्लभ लाल हमारे,
हो बेटा, वल्लभ लाल हमारे ॥
मैं जननी, तेरी यह पत्नी, सुन पाती दुःख अपार रे,
प्राण हरे अर्जुन माली ॥ ४ ॥

शरीर धर्म-साधना का पहला साधन है, यदि तू मारा गया तो धर्म-साधना का यह साधन व्यर्थ ही चला जायेगा । हे पुत्र ! तू हमारी एक मात्र सन्तान है । अतः हम पर दया कर और बाहर मत निकल अन्यथा अर्जुन माली तेरे प्राण हर लेगा । मैं तुम्हारी माता और यह जो मेरे पास खड़ी है—तेरी पत्नी, दोनों ही तेरे मुख से नगर के बाहर जाने की बात से अपार दुःख का अनुभव कर रही हैं ।

यह सुनकर सुदर्शन कहता है—

यह तन जिसका पहला साधन, इसीलिए जुट जाए ।
ममता तजकर, फिक्र करो मत, दुःख सारे टल जाएँ,
हो माता, दुःख सारे टल जाएँ ॥
प्रभु सहारा, ये लाल तुम्हारा, कर देगा अंत संसार रे,
पाऊँ दर्शन मंगलकारी ॥ ५ ॥

हे माता ! यदि यह तन धर्म-साधना का प्रथम साधन है तो यह कितना सुअवसर मिला है धर्म-साधना का । शरीर प्रभु-दर्शनार्थ जाते हुए मरण-धर्म की प्राप्ति करे, यह तो धर्म के लिए ही मरण होगा न ! अतः हे मातेश्वरी ! अब ममत्व भाव को छोड़कर मुझे आज्ञा दो । मेरी कोई चिन्ता मत करो । मेरे तो सारे दुःख नष्ट हो जायेंगे । यदि मुझे प्रभु-दर्शन मिले, उनकी श्रद्धा-भक्ति से मेरा मन आप्लावित रहा तो इसी आलम्बन से तुम्हारा यह लाल संसार का अंत कर देगा, भव सागर को पार कर लेगा ।

□ प्रभु-दर्शन की आज्ञा

माता तो निहाल हो गयी, अपने लाल के मुँह से ये बातें सुनकर । समझ गयी कि मेरा पुत्र शूरवीर है, मैं कायर हूँ जो इसे रोक रही हूँ । यदि यह अपने कार्य में सफल हुआ तो नगर के समस्त श्रद्धालुओं के लिए प्रभु-दर्शन का पथ निष्कण्टक बन जायेगा । वह कहती है—

कायर हूँ हम जाओ बेटा, जन-जन का पथ खोलो ।
रोती हूँ पर कहती मन से, वीर की जय-जय बोलो,
हो बेटा, वीर की जय-जय बोलो ॥
दुःख हरना, प्रभु ! रक्षा करना, लेना तेरा भक्त सँभाल रे,
जय-जय हो वीर तुम्हारी ॥ ६ ॥

माता-पिता ने तब अनिच्छा से आज्ञा दी । उनके मन दुःखी थे, वे तो यही जानते थे कि हमारा बच्चा हमारे हाथ से गया । अब उसे मौत से कोई बचा नहीं सकता ।

□ धर्माचरण में विवेक की महत्ता

माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर सुदर्शन ने स्नान किया और धर्मसभा में जाने योग्य शुद्ध वस्त्र धारण किए । आप भी आते हैं धर्मसभा में पर मन, वचन और काय शुद्धि के साथ-साथ धार्मिक वस्त्र भी धारण करते हैं या नहीं ? बड़ी विडम्बना है—धर्मस्थान पर आयेंगे पर सामायिक के योग्य वस्त्र व उपकरण घर में उपलब्ध होने पर भी साथ नहीं लायेंगे । सोचें जरा, यदि कहीं शादी-विवाह में जाना हो तो कैसे सज-धजकर जाते हैं ! घर-परिवार-रिश्ते में कहीं शादी हो रही हो और योग्य वस्त्र न हों तो हजारों रुपये खर्च करके नये, शानदार, उपयुक्त वस्त्र क्रय कर बढ़िया से बढ़िया टेलर-मास्टर से ऊँची रेट देकर भी उन्हें सिलवायेंगे, पर सामायिक, पौषध आदि के लिए चोलपट्टा या धोती, दुपट्टा,

आसन, पूँजणी खरीदनी हो तो नहीं खरीदेंगे। खरीदने की इच्छा भी हो गयी तो आलस्य कर जायेंगे। कोई पूछेगा तो उत्तर तैयार है—याद नहीं रहता।

शादी के लिए आमंत्रण आया है पर काम की अधिकता है, बहुत व्यस्त हैं, चाहते हैं कि न जायें, लेकिन ऐसा होता नहीं। समय पर काम छोड़कर, व्यस्तता में से समय निकालकर भी शादी में जायेंगे। शादी में तो शायद जाना जरूरी हो, लौकिक व्यवहार जो निभाना है, आप नहीं जायेंगे तो आपके घर भी काम पड़ेगा तब भला लोग क्यों आयेंगे? पर आश्चर्य तो यह है कि सिनेमा जैसे व्यर्थ के मनोरंजन में भी मित्रों का साथ देने के लिए आवश्यक घरेलू और व्यावसायिक कार्य भी छोड़कर जाना भी हो जायेगा। अब आयें धर्म की बात पर ! बंधुओं, कार्य नहीं है पर कार्य के बहाने बनाये जायेंगे।

क्यों है ऐसा? क्यों धर्माचरण के लिए आप लोगों के पास न समय है और न धर्म-साधना में विवेक? कारण है आपका प्रमाद भाव, सांसारिक कार्यों में अंतहीन रुचि, धार्मिक कार्यों में रुचि का अभाव। करना भी पड़े, आ भी जायें स्थानक तो बस औपचारिकतावश होकर करना है, अतः जैसे-तैसे कर लेंगे। यह उचित नहीं।

□ संकल्पित बनें, सामायिक करें, शुद्धि का ध्यान रखें

संकल्प लें कि—(१) नित्य एक सामायिक तो करेंगे ही। (२) सामायिक करेंगे तब सामायिक योग्य शुद्ध वस्त्र धारण करेंगे। (३) सामायिक के समस्त उपकरण अपने साथ रखेंगे व उनका यथावश्यक उपयोग करेंगे। (४) सामायिक से पूर्व मन-वचन-काय-शुद्धि का ध्यान रखेंगे।

बंधुओं! सामायिक का जो लाभ स्थानक में आकर सामायिक करने से मिलता है वह लाभ घर में बैठकर सामायिक करने से नहीं मिलता। वातावरण का भावनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जितना शुद्ध वातावरण होगा, वायुमंडल एवं स्थान के पुद्गल जितने निर्मल होंगे सामायिक उतनी ही अधिक समभाव वाली, शांति प्रदान करने वाली, उत्तम फल देने वाली होगी।

□ विषमता का त्याग ही सच्ची सामायिक है

यह आवश्यक नहीं है कि स्थानक महिला-बाग का ही हो या महावीर भवन ही हो या लाल भवन ही हो। 'अमुक' स्थानक ही हो—इस मान्यता का सामायिक से कोई

सम्बन्ध नहीं है। आप अपने घर के निकट जो भी स्थानक हो वहाँ जाकर भी नित्य-नियम से सामायिक कर सकते हैं, पर उसे आवश्यक रूप से अपनी दैनिकचर्या का अंग बना लें व शुद्धता का ध्यान रखकर करें। धर्मस्थानक की सामायिक में न आर्त्तध्यान की संभावना रहेगी और न रौद्रध्यान की। यदि वहाँ भी यही निंदा, विकथा, आर्त्त-रौद्रध्यान आदि प्रारंभ कर देंगे तो वह स्थान धर्मस्थानक नहीं रहेगा। वहाँ तो विषमतारहित बनकर जायें, विषम भावों से अलग ही रहें तभी वह सामायिक निर्जरा का फल दे सकेगी।

□ सुदर्शन का साहस, नगर-द्वार से बाहर निकला

सुदर्शन प्रभु के दर्शनार्थ घर से निकला, राजमार्ग से होता हुआ वह नगर-द्वार तक आया। नगर के अनेक लोगों को जब ज्ञात हुआ तो वे अपने घरों से निकलकर उसे जाता हुए देखने लगे। अनेक लोग कौतुहलवश नगर-द्वार तक चले आये।

सुदर्शन नगर-द्वार से बाहर निकलकर मुद्गरपाणि यक्ष के यक्षायतन की ओर चला। देखने वाले नगर द्वार के भीतर ही रुक गये और चकित बने प्रतीक्षा करने लगे, अर्जुन माली द्वारा सुदर्शन पर मरणांतक प्रहार की। सुदर्शन यक्षायतन के न अति निकट और न अति दूर रहते हुए गुणशील उद्यान की ओर चल दिया जहाँ प्रभु महावीर विराजमान थे।

□ अनिष्ट की संभावना देख सुदर्शन ने सागारी संथारा लिया

अर्जुन माली में आविष्ट यक्ष ने जब सुदर्शन को यक्षायतन के निकट आते देखा तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने हजार-पल भार वाले लौह मुद्गर को उठाया और उसे घुमाते हुए सुदर्शन की ओर बढ़ गया।

सुदर्शन ने भी उसे अपनी ओर क्रुद्ध मुद्रा में आते हुए देखा पर वह सुदर्शन श्रमणोपासक अपनी मृत्यु की संभावना जानकर भी जरा-भी भयभीत नहीं हुआ। उसके भीतर न त्रास आया, न उद्वेग उठा और न क्षोभ भाव ही आया। तात्पर्य यह कि वह धर्मनिष्ठ वीर-उपासक यत्किञ्चित भी विचलित या भयाक्रान्त नहीं बना। वह मृत्यु से भयभीत बन न तो रोया, न चिल्लाया और न कहीं दौड़ा-भागा। जानते हैं आप, क्या किया उसने? बहुत ही शांति के साथ जिस जगह वह खड़ा था उस स्थान को परिमार्जित किया, अपने मुँह पर उत्तरासन लगाया, पूर्व दिशा की ओर, जिस ओर प्रभु समवसरित थे—मुँह किया, नीचे बैठकर बायाँ घुटना ऊँचा किया, अरिहंत-सिद्ध को भावयुक्त वन्दन कर प्रभु महावीर को वन्दन किया।

इतना सब करके प्रभु के निकट ग्रहण किए हुए श्रावक व्रतों का स्मरण किया, आलोचना की, आजीवन पुनः उन व्रतों को ग्रहण किया, उत्तरासन से भूमि को पूंज करके आसन लगाया, अठारह पापों का त्याग किया, अशनादिक चारों आहारों का भी त्याग किया पर उसमें इतना विशेष ध्यान रखा कि “यदि मैं इस अचानक आने वाले उपसर्ग से बच गया तो मुझे अशनादिक का आगार है और पारण करना कल्पता है। यदि न बचूँ, मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ तो यावज्जीवन का त्याग करता हूँ।”

□ धर्म की जय, यक्ष पराजित

इस तरह सागारी संधारा लेकर सुदर्शन ने धैर्यपूर्वक ध्यान मुद्रा धारण कर ली। इसी समय वह मुद्गरपाणि यक्ष अपने लौह मुद्गर को घुमाता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसने मुद्गर से सुदर्शन को आघात पहुँचाना चाहा, उसका घात करना चाहा, पर आश्चर्य वह ऐसा नहीं कर सका। ऊपर उठया हुआ मुद्गर नीचे ही नहीं आया। यक्ष ने बहुत प्रयत्न किए पर वह किसी भी तरह सुदर्शन श्रमणोपासक को अपने तेज से अभिभूत न कर सका, कष्ट न पहुँचा सका। वह सुदर्शन के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। अपनी पराजय के कारण वह सुदर्शन को बहुत देर तक एकटक देखता रहा। अंत में उस यक्ष ने अर्जुन माली के शरीर को छोड़ दिया और अपने हजार-पल भार वाले लौह मुद्गर को लेकर यक्षायतन की तरफ चला गया।

□ आप भी सचमुच के श्रावक बनें (व्रत और आभा-मंडल)

धर्म की शक्ति अनंत, अक्षय है। दृढ़ धर्म-पालन करने वाले के समक्ष सभी शक्तियाँ पराजित होती हैं। जब कभी व्यक्ति उत्कृष्ट भावों के साथ व्रत, प्रत्याख्यान, तपादि का सम्यक् आराधन करता है तो उस साधना-आराधना के प्रभाव से शरीर में अत्यन्त प्रभावी पुद्गलों का प्रवेश होता है। इन पुद्गलों के कारण ही ऐसे साधकों के शरीर पर एक आभा-मंडल प्रकट होता है, जो साक्षात् दिखाई भी देता है।

बंधुओं! यह आभा-मंडल, तेजस्वी पुद्गलों का अद्भुत समूह होता है। जब-जब आसुरी शक्तियाँ विघ्न डालती हैं, उपसर्ग खड़ा करती हैं, तब-तब यह आभा-मंडल साधक के शरीर को घेर लेता है। अब आसुरी शक्तियाँ कितना ही प्रहार करें, वे प्रहार साधक के शरीर तक नहीं पहुँच पाते, उसका बाल भी बाँका नहीं कर पाते।

□ 'रेकी' जैन-आगम-विद्या से अनुभूत चिकित्सा प्रणाली

आज के युग में प्राकृतिक उपचार की एक नई पद्धति प्रसिद्धि पा रही है, जिसका नाम है 'रेकी'! स्पर्श-पद्धति द्वारा इस चिकित्सा-विधि में शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधियाँ तो दूर करने की क्षमता तो बतायी जा रही है, साथ ही देव-देवी, भूत-प्रेत आदि के प्रभाव से बचाने की क्षमता भी बताते हैं। बंधुओं ! जैसा मैंने इसका अध्ययन किया है, मैं इस मुद्दे पर पहुँचा हूँ कि यह सम्पूर्ण पद्धति जैन-आगम विद्या से अनुभूत है। विषय लम्बा है, अवकाश मिलने पर विस्तार से चर्चा करने की भावना है।

□ धर्मो रक्षति रक्षितः एक वैज्ञानिक तथ्य

आपने देखा ५६ किलो भार के मुद्गर से नित्य छह पुरुषों व एक नारी की हत्या करने वाला यक्ष सुदर्शन की साधना-शक्ति के आगे हार गया। सुदर्शन की उत्कृष्ट भावों के साथ की गई साधना से जो तेजस्वी पुद्गल उसकी आत्मा से चिपके, उनके आभा-मंडल ने मुद्गरपाणि यक्ष के प्रहारों को सुदर्शन के तन तक पहुँचने ही नहीं दिया।

आप भी साधक हैं, आप भी चाहें तो ऐसा दिव्य-तेज अपने में उत्पन्न कर सकते हैं। यह कोई असाधारण बात नहीं है। कई बार होता है ऐसा। एकाग्रचित्त से किया गया जाप, अविचलित भावों से स्मृत बड़ी साधु वन्दना, त्रियोगों की एकता के साथ सुनाई गयी और सुनी गयी मांगलिक (मंगलपाठ) से जो शुभ एवं प्रभावी पुद्गल आपको मिलते हैं, वे आपकी अनेक दुर्घटनाओं से रक्षा कर आपको सुरक्षित कवच प्रदान करते हैं।

मेरी बात को कदापि अतिशयोक्ति में मत लीजिए। इसे एक वैज्ञानिक सत्य-तथ्य समझकर जीवन में इसका प्रयोग कीजिए, आप पायेंगे कि आपके भीतर नवीन शक्तियों का प्रस्फुटन हुआ है।

सुदर्शन दृढ़धर्मी श्रमणोपासक था। आप भी श्रमणोपासक हैं, श्रावक हैं पर नाम के श्रावक हैं, कहलाने के श्रावक हैं। क्या आपने श्रावक व्रत धारण कर रखे हैं? नहीं ! कहते-सुनते जरूर हैं—“एक व्रतधारी जाव बारह व्रतधारी” पर व्रत धारण करते नहीं हैं? नाम से श्रावक कहलाने की जगह व्रत धारण करिए, सचमुच के श्रावक-धर्म का पालन करिए। व्रती नहीं हैं, खुले हैं तो 'अनाचार' के भागी हैं, अतः अनाचारी हैं। व्रत धारण कर लेंगे तो 'अनाचार' के भागी नहीं बनेंगे।

□ कैसे होते हैं श्रावक ? क्या होता है श्रावकाचार ?

किसे कहें श्रावक ? यह एक लम्बा विषय है। जो श्रावक है उन्हें श्रावक की व्याख्या, उसके नियम पूर्वक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि का ज्ञान प्राप्त कर जीवन में व्रत धारण करना चाहिए। पूरा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् यदि चिन्तन करें कि यहाँ कौन श्रावक है और कौन नहीं तो परिणाम कुछ-कुछ निराशाजनक ही आयेगा। माताओं और बहनों के लिए भी यही बात है। वे ये न समझें कि श्रावक वर्ग की बात चल रही है, अतः पुरुष वर्ग के लिए है। मेरे यहाँ श्रावक कथन में श्रावक व श्राविका दोनों ही सम्मिलित हैं।

जो सच्चे अर्थों में श्रावक या श्राविकाएँ हैं उन्हें नियम से नित्य सागारी संथारा करना चाहिए। जिससे जीवन में पारदर्शिता आती है और रात में सोते समय नमस्कार मंत्र बोलकर, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु जी को भाववन्दन कर सागारी-संथारे का यह पाठ उच्चारण कर लेना चाहिए—

आहार शरीर उपधि, पचखूं पाप अठार।

मरण पाऊं तो वोसरे, जीऊं तो आगार॥

इसके अतिरिक्त प्रति प्रातः व संध्या प्रतिक्रमण करके लिए हुए व्रतों की आलोचना करनी चाहिए, 'खामेमि सव्वे जीवा' के पाठ से सर्व जीवों से क्षमा याचना करनी तथा सभी जीवों को क्षमा प्रदान करनी चाहिए। नित्य-नियमपूर्वक ऐसा करके देखें, निश्चय ही जीवन में महान् परिवर्तन होगा। मंत्रादि का जैसा प्रभाव होता है, उससे कई गुना प्रभाव श्रावकाचार का होगा।

□ संकट टला, उपसर्ग मिटा

धर्म की अक्षय शक्ति के समक्ष यक्ष, देव, राक्षस, किन्नर सभी को पराजित होना पड़ता है, भागना पड़ता है। मुद्गरपाणि यक्ष भी सुदर्शन की दृढधर्मिता से पराजित बन भाग खड़ा हुआ। यक्ष की शक्ति के चले जाने पर अर्जुन माली का शरीर अशक्त, अक्षम-सा बन 'धस' शब्द के साथ भूमि पर गिर गया। इस तरह किसी के गिरने की ध्वनि सुन सुदर्शन ने अपना ध्यान खोला। एक मानवी शरीर को इस प्रकार अपने समक्ष गिरा हुआ देख, वह समझ गया कि निश्चय से मेरे पर जो संकट आया था वह टल गया है, मैं मृत्यु के मुँह में जाने से बच गया हूँ, मैं अब उपसर्गरहित हो गया हूँ।

□ प्रत्याख्यान पालना

उस सुदर्शन श्रमणोपासक ने अपने लिए हुए सागारी त्याग-प्रत्याख्यान को पाला। इस समय तक अर्जुन माली भी आश्वस्त, स्वस्थ व प्रसन्नचित्त बन चुका था। अपने समक्ष उस सुन्दर, सुदर्शन युवक को देखा उसने तो पूछ लिया—“देवानुप्रिय! आप कौन हैं और कहाँ जा रहे हैं?”

□ कल का हत्यारा आज प्रभु-दर्शन का इच्छुक

सुदर्शन ने उसे व्रतधारी श्रावक व महावीर के उपासक के रूप में अपना परिचय दिया और बताया कि वह प्रभु महावीर, जो निकट ही विराजमान हैं, उन्हें वन्दन-नमस्कार करने जा रहा है। अर्जुन माली ने भी साथ चलने की इच्छा व्यक्त की तो सुदर्शन ने उसे भी अपने साथ ले लिया। दोनों वहाँ से चलकर गुणशील नामक उद्यान में पहुँचे, जहाँ भगवान महावीर विराजमान थे।

□ हत्यारा अर्जुन माली प्रभु-देशना सुन दीक्षित

सुदर्शन ने जिस तरह तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक प्रभु को वन्दन-नमन किया, उसी तरह अर्जुन माली ने भी किया। प्रभु ने तब सुदर्शन श्रमणोपासक तथा अर्जुन माली को धर्मकथा कही।

धर्मकथा सुनकर सुदर्शन तो अपने घर लौट गया, पर अर्जुन माली कहीं नहीं गया। उसने प्रभु के श्रीमुख से वहीं पंच-महाव्रत अंगीकार कर श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और आजीवन निरन्तर बेले-बेले की तपस्या के अभिग्रह के साथ अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने की प्रभु से आज्ञा माँगी। प्रभु महावीर ने उसे अभिग्रह धारण कराकर विचरण करने की आज्ञा प्रदान करते हुए द्विसूत्री उपदेश के रूप में उसे उसके भावी जीवन के लिए महान् उपयोगी शिक्षा प्रदान की।

□ प्रभु महावीर का द्विसूत्री उपदेश

प्रभु ने कहा—हे अर्जुन ! ग्राम-नगर-पुर विचरण करते हुए ध्यान रखना कि—

अक्कोसेज्जा परोभिक्खू, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥

समणं संजयं दंतं, हणेज्ज कोई कत्थई।
नत्थि जीवस नासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥

यदि कोई व्यक्ति भिक्षु पर आक्रोश करे, झिड़के, गाली दे तो भिक्षु शांत रहे, वह किञ्चित् भी क्रोध न करे। क्रोध करने वाला अज्ञानी है, मूर्ख-सदृश है। भिक्षु को तो अपनी उच्च भूमिका का चिन्तन कर शांत बने रहना चाहिए। उसे चाहिए कि वह सहनशीलता को, तितिक्षा को, क्षमा को परम धर्म माने और मन से भी उन अज्ञानियों या किसी अन्य के प्रति भी कोई दुर्भावना न करे।

संयमी और दान्त (इन्द्रिय-मनोविजेता) श्रमण को यदि कोई मारे, पीटे, वध करे तो उसे विचारना चाहिए कि आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, क्षणभंगुर तो यह शरीर है। ये लोग जो मेरे शरीर को कष्ट पहुँचा रहे हैं, उसमें अर्थात् शरीर के नाश होने में मेरा क्या जाता है?

बंधुओं! घट-घट के ज्ञाता, प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट इन दो सूत्रों ने अर्जुन अणगार की साधना को सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

□ बेले के पारणे में मिले दुर्वचन, अपशब्द, थप्पड़, घूँसे

प्रभु महावीर के द्विसूत्री उपदेश को सुनकर, हृदय में धारण कर अर्जुन अणगार ने विचरना प्रारंभ किया। प्रथम बेले की तपस्या पूरी हुई तो पारणे के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय व दूसरे प्रहर में ध्यान किया। तीसरे प्रहर में प्रभु से पूछकर वे राजगृही नगरी में भिक्षाचरी करने हेतु निकले। उच्च-नीच-मध्यम कुलों में भिक्षार्थ घूमते हुए अर्जुन अणगार को देखकर किसी ने कहा—“इसी ने मेरे पिता को मारा था, यह हत्यारा है।” कोई बोला—“यह मेरी माता का हंता है।” तीसरे ने कहा—“इसने मेरे भाई को मारा है।” इस प्रकार अर्जुन अणगार जहाँ गये सभी ने उन पर हत्या का अभियोग लगाते हुए उनका अनादर किया। भिक्षा के बदले में उन्हें अपशब्द मिले। किसी ने निन्दा की, किसी ने डराया, किसी ने ताड़ना दी, किसी ने लताड़ा, किसी-किसी ने थप्पड़, घूँसा भी मारा। अनेकों ने ईंट-पत्थर मारे। अनेक लोगों ने अपने सम्बन्धी, रिश्तेदार आदि का हत्यारा मानकर उन्हें लाठियों से भी पीटा।

□ सहनशीलता की पराकाष्ठा

अर्जुन अणगार ने अपने मन में किसी तरह का द्वेष भाव उन लोगों के प्रति नहीं आने दिया। स्त्री-पुरुषों से, बच्चों-बूढ़ों-जवानों से गालियाँ खाकर, मार खाकर भी वे पूर्ण शांत बने रहे। उनके मन ने इन विपरीत परिस्थितियों को परीषह मानकर उन्हें पूर्ण समभाव में रहते हुए सहन किया।

इस तरह कहीं भी भिक्षा न पाकर वे पुनः अपने स्थान पर लौटे। साधु-समाचारी में लगे। दूसरे दिन फिर बेला प्रारंभ हुआ, दो दिन बाद फिर पारणा आया। तीसरे प्रहर में गोचरी के लिए निकले पर फिर वे ही हालात। मुनि चाहते तो प्रतिकार कर सकते थे। क्षमता थी, सामर्थ्य था, पर मुनिवर ने पूर्ण क्षमा भाव धारण कर लिया।

भजन : धन्य अर्जुन माली, दीक्षा लेई ने चाल्या गोचरी।

(परिशिष्ट 'अ' में देखें)

वे अपने पर किये गये कटु शब्द-प्रहारों, लाठी-ईंट-पत्थर के प्रहारों आदि को प्रसन्नतापूर्वक झेल लेते। वे सोचते—'मैंने तो इन लोगों के स्वजनों, सम्बन्धियों आदि के प्राण-घात किए हैं। मेरी तुलना में तो ये कुछ भी नहीं कर रहे हैं। ये चाहते तो मुझे जान से मार सकते हैं, पर यह इनकी महानता है कि ये मुझे बहुत कम सजा दे रहे हैं। कितने-कितने पापकर्मों का उपार्जन किया है मैंने ? ये लोग मेरे द्वारा अर्जित उन अशुभ कर्मों को निर्जरित करने में सहयोगी ही बन रहे हैं।

□ सहनशीलता एवं समत्व से कर्मनिर्जरा

समभावपूर्वक सहन करते, क्षमा करते और उन कष्टों को कर्म काटने का हेतु समझते हुए अर्जुन मुनि ने ५ माह १३ दिनों में की गई १,१४१ जीवों (९७८ पुरुष और १६३ स्त्रियों) की हत्या के पापकर्म को हल्का बनाते हुए निरन्तर विचरण करते रहे। उन्हें बेले की तपस्या के पारणे में कभी पानी मिलता तो भोजन नहीं मिलता, कभी भोजन मिलता तो पानी नहीं मिलता, कभी न पानी मिलता न भोजन। जब भी भिक्षा में कुछ प्राप्त होता वे प्रभु को दिखाते और उनकी आज्ञा प्राप्त कर मूर्च्छारहित भाव से ग्रहण करते।

उस विषम स्थिति में भी जो भी और जैसा भी अल्प, स्वल्प मात्रा में प्रासुक भोजन-पानी उन्हें मिलता, उसे वे सर्वथा अदीन, अमलिन, अकलुष, अखेद भाव से, आकुल-व्याकुल

बने बिना ग्रहण करते। निर्मल भावों से ऐसे परीषहयुक्त भिक्षाचरी-तप की आराधना कर उन महामुनि ने अपने कर्मों को बहुत पतला, अत्यंत क्षीण बना लिया।

□ छह मास के उत्कृष्ट तप से धुला १,१४१ हत्याओं का यह पाप

उन महाभाग अर्जुन मुनिवर ने इस तरह श्रेष्ठ भाव से उच्च और पवित्र विचारों के साथ महालाभकारी विपुल तप से अपनी आत्मा को लगभग साढ़े पाँच माह तक भावित किया। इसके पश्चात् पन्द्रह दिन की संलेखना से अपनी आत्मा को जोड़कर संथारे के साथ जिस कार्य के लिए महाव्रतों को धारण किया, उस कार्य को पूर्ण कर लिया अर्थात् वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन गये।

बंधुओं! पापकार्य बुरे हैं, अशुभ कर्मबंधन के कारण हैं। पाप करने वाला कदाचित बुरा हो या न भी हो। यही कारण है कि प्रभु सदैव यही उपदेश देते हैं—

घृणा पाप से हो, पापी से नहीं।

अर्जुन माली महाहत्यारा था, महापापी था, महाहिंसक था, पर प्रभु का धर्मोपदेश सुन अपने कृत कर्मों के लिए उसने अंतःकरण से पश्चात्ताप किया था।

□ भावपूर्वक पश्चात्ताप धो देता है पापों को, कर्ममल को

ध्यान दीजिए, यदि भावना का साथ है, अंतःकरण से पश्चात्ताप किया जाता है तो कर्मनिर्जरा अवश्यम्भावी है, पाप-मुक्ति निश्चित है। ठीक इसके विपरीत पापकार्य करके पश्चात्ताप न करना, अपितु मन ही मन प्रसन्न बनना कि “मैंने अच्छा किया!” तो निकाचित कर्मबंध होंगे, घोरतिघोर अशुभ कर्म बाँधने पड़ेंगे और भोगे बिना वे छूटेंगे नहीं, निर्जरित होंगे नहीं। आत्म-कल्याण के लिए प्रत्येक धर्मक्रिया के साथ भावना की शुभता व शुद्धता को बनाए रखना आवश्यक है। महापुरुषों के परम पुनीत आदर्श जीवन प्रसंगों से यदि भावों को शुभ बना सके तो आपको भी एक दिन परमानंद की प्राप्ति हो सकेगी।

आनंद ही आनंद !



जाणू सो नहीं जाणू और नहीं जाणू सो जाणू

दानामृतं यस्य करारविंदे, सत्यामृतं यस्य मुखारविंदे।
दयामृतं यस्य मनोऽरविंदे, त्रिलोकवन्द्योहि नरो वरौऽसौ ॥

आत्म-बन्धुओं !

सत्यालोक से त्रिलोक को आलोकित करने वाले देवाधिदेव त्रिलोकीनाथ प्रभु महावीर की दिव्य वाणी संसारस्थ भव्य प्राणियों की जीवात्मा को कर्मरूपी नागपाश से मुक्त कर उनकी साधना के पथ को प्रशस्त करती है। यह जीवात्मा अनादिकाल से आठ कर्म और उनकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों के बन्धनों से बँधा अनेकानेक सुख-दुःखों की अनुभूतियाँ करता हुआ निरन्तर भव-भ्रमण कर रहा है।

□ सत्पुरुष की व्याख्या

इनमें उपर्युक्त श्लोक के रचयिता ने उसे वन्दनीय बताया है जो दया, दान और सत्य के पथ पर चल रहा है। कवि कहता है कि जिसके हाथों से दान का अमृत झरता है, अर्थात् जो निज कर-कमलों से खूब दान देता है, जिसके मुख-कमल से नित्य सत्य वाणी रूप अमृत की सरिता प्रवाहमान होती है और जिसके हृदय-कमल में हर-पल, हर-क्षण प्राणीमात्र के प्रति दया एवं अनुकम्पा का भाव समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति हिलोरें लेता हुआ सर्वहित की चाह रखता है, ऐसा व्यक्ति निश्चय से सत्पुरुष है।

□ मानव की पहचान है—मानवता बनाम धर्म

कवि के अनुसार दान, दया और सत्य—ये तीन गुण मानव को मानवता का बाना पहनाते हैं। बात भी यही है, यदि मानव-शरीर हो और गुण पशुओं के या राक्षसों के हों तो उसे कैसे मानव कहा जाये ?

इस मानव की देही के लिए, जो आपको प्राप्त है, देवता भी तरसते हैं। कामना करते हैं वे कि—

तओ ठाणाइं देवे, पीहिज्जा माणुस भवं,
आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायाइं।

(स्थानांगसूत्र ३/३)

उनका कथन है कि हमारा वह दिन धन्य होगा जिस दिन हमें मनुज-भव की प्राप्ति होगी। मनुज-भव में भी आर्य-क्षेत्र में जन्म मिलेगा और ऐसा उत्तम कुल मिलेगा, जिस कुल में श्रेष्ठ धार्मिक संस्कार विद्यमान हों।

मानव की पहचान ही धर्म से है। धर्म के ही गुण या चरण हैं—दया, दान, सत्य आदि। धर्म को यदि मानव-जीवन से निकाल दें तो पीछे रहेगा क्या? क्या अन्तर रह जायेगा उसमें और पशुओं में? आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चार बातों के सेवन में तो मानव और पशु समान ही हैं, अर्थात् दोनों में ये चार बातें तो समान रूप में विद्यमान हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानम्,
ज्ञानम् न शीलम् न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भार भूताः,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिस व्यक्ति में धर्म नहीं, कोई मानवीय गुण नहीं, जो शीलवन्त नहीं, विद्वान् नहीं, तपस्वी नहीं और दानी भी नहीं। ऐसे व्यक्ति इस धरती के लिए भार हैं, वे मानव-रूप में तो हैं, पर वे पशुओं की तरह केवल अपना पेट भरने का काम करते हैं।

अनेक पशु तो अपने पेट भरने का पूरा मूल्य चुकाते हैं। एक श्वान बची-खुची, ठण्डी-बासी रोटी खाकर घर और मोहल्ले की पहरेदारी करता है। गाएँ और भैंसें अनाज का भूसा खाकर दूध देती हैं जो मानव-जीवन के लिए अमृत है। अश्व सवारी के काम आता है।

पशु जीवित भी अपना कर्तव्य करते हैं और मरकर भी अनेक पशु मानव के लिए लाभकारी सिद्ध होते हैं। किसी का चर्म, किसी की हड्डियाँ उपयोगी हैं, पर मृत्यु के बाद

मानव का कौन-सा अंग उपयोगी रह जाता है। आजकल तो फिर भी चिकित्सा-विज्ञान में सर्जरी ने अंग प्रत्यारोपण का मार्ग दिखाकर मृत-मानव द्वारा दानित चक्षुओं का अन्धे व्यक्ति की आँखों में प्रत्यारोपण कर उन्हें नेत्र-प्रकाश का अनमोल उपहार प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया है। मानव-जाति को इसे भी अपना सौभाग्य ही समझना चाहिए अन्यथा मरने के बाद उसकी कीमत पाँच-दस रुपये भी नहीं है।

□ मानव का भौतिक शरीर अत्यन्त अल्प मूल्य का

७५ प्रतिशत हिस्सा पानी व आकाश।

बेचने के लिए खड़ा कर दीजिए मानव को, क्या कीमत लगेगी? कोई खरीदने को तैयार ही नहीं होगा। जिन पदार्थों से उसका शरीर बना है, उनकी कीमत आँकी जाये तो कुछ सौ रुपये तक ही पहुँचेगी।

किसी जीवित पशु को बेचिये। कीमत किसी-किसी की लाख से ऊपर आयेगी, हो सकता है कभी उससे अधिक भी आ जाये।

आपके इस भौतिक शरीर का मूल्य कुछ भी तो नहीं फिर क्यों है मानव-तन का महत्त्व? क्यों देवता भी इसकी कामना करते हैं? किस बात के कारण उसका महत्त्व है?

□ आत्म-शक्तियों को प्रकट करना ही मानव-धर्म है

बन्धुओं! उसका महत्त्व है, उसकी आत्म-तत्त्व की शक्तियों को प्रकट करने की सामर्थ्य के कारण। एक अकेला मनुष्य-गति का जीव ही अनन्त ज्ञानादि आत्म-शक्तियों को प्रकट कर शरीर की कैद से, कर्मों के बन्धन से, पुद्गलों के साथ छुटकारा पाकर अनन्त अव्याबाध सुख की प्राप्ति कर अपना जन्म-मरण मिटा सकता है।

आपको मिला है दुर्लभ यह मानव-भव, साथ में जन्म हुआ है आर्य क्षेत्र में और श्रेष्ठ धार्मिक संस्कारों से युक्त ओसवाल आदि उत्तम कुल, वंश भी प्राप्त हुआ है। सब कुछ पाकर भी आप किसके पीछे भाग रहे हैं? क्या प्राप्त करने के लिए रात-दिन पुरुषार्थ कर रहे हैं?

जो आप चाहते हैं वो सब देवों के पास है और अखूट-अपार मात्रा में है, पर वे चाहते हैं आप जैसा शरीर, कुल, वंश। आपके पास है यह सब तो भाग रहे हैं आप धन के पीछे, कामभोग के पीछे, सुख-साधनों के पीछे। कैसी विडम्बना है यह? जरा चिन्तन में उतरिए। आपके पास अद्भुत कल्पवृक्ष है, चिन्तामणि रत्न है, पर आप उस कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न, अर्थात् अपने सम्यक्त्व को चल, मल, अगाढ़ आदि दोषों से दूषित कर रहे हैं और भाग रहे हैं देवी-देवों के पीछे मनौतियाँ मानते हुए, भौतिक वस्तुओं की माँग करते हुए।

बन्धुओं! सचेत बनकर पहचानिए अपनी मिलिक्यत में प्राप्त उस कल्पवृक्ष को जो पलक झपकते आपकी कामनाएँ पूरी करने वाला है और पुरुषार्थ करें तो शायद वह दिन भी देख सकें जब किसी प्रकार की कामना शेष ही नहीं रह जायेगी, मोक्षरूपी अमर फल की प्राप्ति कर लेंगे आप। वीर से महावीर बनना है, आत्मा को परमात्मा बनाना है, जीव को शिव बनाना है तो लग जाइए आत्म-विशुद्धि की साधना में। धर्मध्यान से होते हुए प्रयत्न कीजिए शुक्लध्यान में पहुँचने का।

□ अतिमुक्तकुमार

जिन्होंने आत्म-साधना में सत्पुरुषार्थ किया, जीव को शिव बनाया, आत्मा को परमात्म-तत्त्व तक पहुँचाया; आचार्यसम्राट् एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने ऐसी दिव्य-भव्य आत्माओं का गुणकीर्तन अपनी 'बड़ी साधु वन्दना' में करते हुए कहा है—

कुंवर अइमुत्ते, दीठा गौतम स्वाम।
 सुणि वीर नी वाणी, कीधो उत्तम काम॥ ७०॥
 चारित्र लेई ने, पहुंच्या शिवपुर ठाम।
 धुर आदि मकाई, अंत अलक्ष मुनि नाम॥ ७१॥

अतिमुक्तकुमार पोलासपुर नगर के प्रजावत्सल, धर्मनिष्ठ और श्रमणोपासक महाराज विजय तथा पतिपरायणा, धर्मनिष्ठ, सुशीला सन्नारी रानी श्रीदेवी के राजकुमार थे। अतिमुक्तकुमार बचपन में अत्यन्त सुकुमार, सौम्य एवं सुदर्शनीय थे और साथ ही सुसंस्कारी।

□ भेदभाव विष है

एक समय राजकुमार अतिमुक्त स्नानादि करके घर से बाहर आये और नगर के हृदय-स्थल (बीचोंबीच) में बने क्रीड़ा-स्थल (Playground) पर पहुँच गये। वहाँ उन्हीं वय के अनेक बालक खेलमग्न थे। राजकुमार अतिमुक्त भी उन समवयस्क बालकों के साथ खेलने लगे। उनके मन में अपने राजकुमार होने का, धनवान व सत्तावान होने का या उच्चवर्णी होने का कोई अभिमान नहीं था। बच्चों में धनी-निर्धन, उच्च-नीच आदि का भेदभाव नहीं होता। असंस्कारी माता-पिता ही जातिगत या वर्गगत भेदभाव का जहर बच्चों में भरते हैं और उन्हें छूत-अछूत की शिक्षा, हिदायत, संकेत देते हैं। बड़े होने पर माँ-बाप द्वारा भरा गया यह जहर विशाल रूप से पनपकर अनेक विषम स्थितियों को जन्म देता है। वर्तमान युग में इस प्रकार का उन्माद कुछ अधिक ही है।

□ गौतम गणधर और बालक अतिमुक्त

बात चल रही थी अतिमुक्तकुमार की। वे खेल रहे थे बालकों के साथ तभी भगवान महावीर के प्रथम सुशिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम उस क्रीड़ा-स्थल के पास से निकले। आज उनके बेले की तपस्या का पारणा था। यह भिक्षा का समय था और गौतम प्रभु महावीर की अनुमति लेकर पोलासपुर नगर के उच्च-नीच-मध्यम कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे थे। उनके हाथ में भिक्षा-पात्रों की झोली थी। अतिमुक्त ने उन्हें देखा, अन्य बच्चों ने भी देखा, पर जहाँ अन्य बच्चे उन्हें देख पुनः खेल में मग्न हो गये, वहीं अतिमुक्तकुमार खेल को और साथी बच्चों को भूल से गये। वे वहाँ से निकलकर जहाँ गौतम स्वामी थे वहाँ आये और उन्हें प्रमाण किया। उनके दुग्ध की तरह धवल वस्त्र, उनका प्रशान्त और तेजस्वी मुख-मण्डल तथा उनके नयनों में उमड़ते हुए वात्सल्य-सागर को देख वे अचम्भित थे। एक आकर्षण, एक कौतूहल था उनके मन में, एक जिज्ञासा जग उठी उनके अन्तर् में। उन्होंने गणधर गौतम के साथ-साथ चलते हुए पूछा—

‘केणं भन्ते ! तुब्भे किं वा अडह ?’

प्रभु! आप कौन हैं और यहाँ कहाँ घूम रहे हैं, किधर जा रहे हैं, किस प्रयोजन से जा रहे हैं?

एयवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ॥ टेरे ॥
 बेले बेले करे पारणा, गणधर पदवी पाया।
 महावीर की आज्ञा लेकर, गौतम गौचरी आया हो... ॥ १ ॥
 खेल रया छै खेल कुंवर जी, देख्या गौतम आतां।
 घर-घर मांही फिरो हिंडता, पूछे इसड़ी बातां हो.... ॥ २ ॥

□ बालक आकर्षित तो गौतम भी प्रभावित

गौतम स्वामी ने देखा कि अनेक खेलते हुए बालकों में से एक अकेला बालक खेल जैसी प्रिय क्रिया व प्रिय-स्थल को छोड़कर मेरी ओर आ रहा है। उसने आकर वन्दन किया है और मेरे साथ-साथ चल रहा है और अब मुझसे मेरे बारे में प्रश्न कर, उसका समाधान चाहता है। गणधर गौतम ने बालक की अपने में रुचि, बालक का विनय, बालक की सुसंस्कारिता व सरलता देखी तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। विचार किया कि अनेक में एक है, अलग अपनी पहचान बनाने वाला है, बिरला व्यक्तित्व उभर सकता है भविष्य में इसका।

गौतम स्वामी के आभा-मण्डल ने बालक के संस्कारों को जागृत कर उसे उनके प्रति आकर्षित किया तो बालक के सहज सुसंस्कारों ने गौतम को प्रभावित किया। बालक के प्रश्न का समाधान करते हुए वे बोले—

“अम्हे णं देवाणुप्पिया ! समणाणिगंगांथा इरिया समिया जाव बंभयारी उच्चणीय जाव अडामो।”

हे देवानुप्रिय! हम श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं, ईर्या समिति आदि के धारक हैं, गुप्त ब्रह्मचारी हैं और इस समय तुम्हारे नगर में छोटे-बड़े कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे हैं।

□ अँगुली पकड़ी कुँवर अयवन्ता ने

अतिमुक्तकुमार ने सुना मुनिवर से कि वे भिक्षार्थ जा रहे हैं तो मन में प्रसन्नता छा गई। देखा था अपने घर ऐसे मुनिजनों को आते, माता को वन्दन कर उनको खाद्य-पदार्थ बहराते, अतः इन बातों का ज्ञान था। मुनि को भिक्षादान हेतु अपने घर ले जाने की भावना जागृत हुई, भाव तीव्र व तीव्रतर बने। सहसा अपने बाल्यभाव की सरलता में बहकर उसने गौतम

स्वामी की अँगुली पकड़ ली, इस चाह में कि मैं इन्हें अँगुली पकड़कर अपने घर ले जाऊँ। बालक अँगुली पकड़े-पकड़े ही बोला—

“एहणं भंते, तुब्भे, जण्ण अहं तुब्भं भिक्खं दवावेमि।”

“चलिए भगवन्! मेरे साथ आइए। मैं आपको भिक्षा दिलाऊँगा।”

असणादिक लेवण के कारण, निरदोषण मैं हेरां।
अँगुली पकड़ी कुँवर अयवन्ता, लाया गौतम लेरा हो
एयवन्ता मुनिवर नाव तिराई.....

□ वर्तमान युग के जैन परिवार और उनके अजैनी संस्कार

कैसे सुन्दर संस्कार? आज का बाल एवं युवा वर्ग तो इस तरह के संस्कारों से बहुत दूर है। अधिकतर श्रावक व्यापारी, व्यवसायी, निजी नौकरी वाले या राज्य-सेवा में कार्य करने वाले हैं। उनका अपना समय है, काम-धन्धे पर जाने का। सन्त-मुनि-मण्डल आये हुए हों, शहर में फिर भी उन्हें कहाँ समय कि वे मुनिराज के भिक्षार्थ आने तक घर में रुकें? भावना ही नहीं। भावना तो केवल धन्धे की, अर्थोपार्जन की रही है। कभी बात चलती भी है तो कह देते हैं—“महाराज! घर में औरतें हैं, धर्मध्यान तपस्या करने के लिए उन्हें ठेका दे दिया है। हम पुरुषों को बाहर के सत्रह काम लगे रहते हैं। आपको तो तपस्या धर्मध्यान से मतलब है। उसमें तो किसी तरह की कमी आपकी श्राविकाएँ रखती नहीं।”

मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, नागपुर, दिल्ली आदि बड़े-बड़े महानगरों में तो जैन-संस्कारों का सर्वथा अभाव है। कई बार तो घरों में गोचरी के लिए आते हुए सन्त या सती वर्ग को देख वहाँ के बालक इधर-उधर छुप जाते हैं। वे जानते ही नहीं कि सन्त क्या और कैसे होते हैं? उनके मन में एक प्रकार का भय कि जाने कौन हैं ये? जब सन्तों की, अपने धर्म और धर्मगुरुओं की ही पहचान नहीं तो सुसंस्कार कैसे आयेंगे उनके जीवन में!

श्रावकों के प्रातः और संध्या के भोजन का समय भी बदल चुका है। व्यापारी, व्यवसायी व अधिकारी (ऑफीसर) वर्ग के श्रावक तो दिन में १२ या १ बजे के बाद प्रातः

का भोजन लेते हैं। उनके घर चूल्हे (गैस) तभी जलते हैं जब साहब या सेठ साहब के आने, भोजन करने का समय हो। अब सन्त-सती व्याख्यान के पश्चात् गोचरी जायें भी तो वहाँ क्या रखा है? श्राविकाएँ कह देंगी—“महाराज! आपके श्रावक जी २ बजे खाना खाने आते हैं, अतः भोजन तो नहीं बना।”

जयपुर, जोधपुर, उदयपुर जैसे छोटे शहर भी इस अँग्रेजी साहबी संस्कृति के शिकार बनते जा रहे हैं। अब वे प्रातः का भोजन नहीं करते अपितु लंच करते हैं।

□ भावों का अभाव

इस अवस्था में संध्या का भोजन कब हो? वह तो होता ही नहीं। होता है रात्रि-भोजन जैसे अँग्रेज डिनर लिया करते थे—रात्रि नौ या दस बजे। जिस जैन-समाज और ओसवाल-समाज को रात्रि में भोजन न करने के कारण पहचाना जाता था, आज वही ओसवाल और जैन-समाज नब्बे प्रतिशत तक रात्रि में भोजन करता है। श्रावक के बारहवें व्रत ‘अतिथि संविभाग’ में उल्लेख आता है—‘साधु-साध्वी’ जी का योग मिलने पर निर्दोष दान दूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ। आज सन्त गोचरी जाते हैं तो अधिकांश श्रमणोपासकों के घरों में निर्दोष आहार मिलना दुर्लभ हो गया है। जहाँ निर्दोष आहार है वहाँ उत्कृष्ट भावों का अभाव है। कौन श्रावक नहीं जानता कि सन्त-सती सूजती वस्तु लेते हैं, सूजते व्यक्ति से ही लेते हैं फिर भी उनमें इस तरह का विवेक नहीं होता और अपने इसी अविवेक के कारण वे बहुधा महादान और उससे प्राप्त महान् पुण्य से वंचित रह जाते हैं। सन्तों को पूर्ण भावना के साथ भले ही अल्प मात्रा में ही आहार बहराएँ तो भी उस सम्यक् प्रकार से निर्दोष दिये गये दान का महान् पुण्य अर्जित हो सकता है।

□ ज्ञान का भी अभाव

सन्त पाँच समिति के पालक होते हैं। इन पाँच में तीसरी समिति है—‘एषणा समिति’। इसका अर्थ है बयालीस दोष टालकर मुनि भिक्षा ग्रहण करे। इनमें उद्गम के आधाकर्मी आदि सोलह दोष ऐसे हैं जो देने वाले दाता के कारण से लगते हैं। देने वाले को इन दोषों का ज्ञान नहीं होगा, तो वह उन्हें कैसे टालेगा? एषणा के शंकित आदि दस दोष ऐसे हैं जो गृहस्थ व साधु दोनों के निमित्त से लगते हैं। प्रत्येक सद्गृहस्थ को इनकी जानकारी प्राप्त

करनी चाहिए। होता यह है कि सन्त कभी किसी दोष के कारण आहार नहीं लेते तो भक्त श्रावक या श्राविका नाराज हो जाते हैं। उनको समझना चाहिए कि उनकी यह नाराजगी उन्हीं के अज्ञान व अविवेक के कारण से है।

□ प्रारम्भिक संस्कार माता-पिता के आचरण से

अतिमुक्तकुमार ने बड़े विश्वास के साथ गौतम स्वामी से कहा—“भगवन्! मेरे घर चलिए। मैं भिक्षा दिलाऊँगा।” उस बालक को पूरा विश्वास है कि उसकी माता उसके इस कार्य से प्रसन्न होगी। अपनी माता के नित्य व्यवहार और माता द्वारा प्रदत्त संस्कारों के कारण ही वह जानता है कि मेरी माँ इस अतिथि-साधु को अवश्य हर्षित भाव से भिक्षा देगी। माता-पिता के दैनिक व्यवहार और संस्कारों का प्रभाव निश्चित रूप से बालकों पर पड़ता है।

अनेक गृहस्थ माता-पिता बच्चों के सामने लड़ते-झगड़ते हैं, छोटी-छोटी बातों के लिए चख-चख करते हैं, मेहमानों की आवभगत से बचने का प्रयत्न करते हैं, कंजूसी करते हैं और झूठ भी बोलते हैं। ऐसे घरों के बालक कैसे सुसंस्कारी बनेंगे? कैसे वे शान्तिप्रिय एवं उदार स्वभाव के होंगे? जो माता-पिता अपने व्यवहारों व वचनों से अपनी सन्तानों में घृणा, कलह, द्वेष, दुर्भावना आदि के विष-बीज वपन करते हैं, वे अमृत-पुत्रों का सृजन कैसे कर सकते हैं?

श्रीदेवी का हृदय अत्यन्त उदार एवं विशाल था, हाथ देने के लिए सदैव उत्सुक एवं खुले रहते थे। वाणी में उनके मधुरता एवं आत्मीयता थी। ऐसे में भला उनका पुत्र क्यों नहीं अमृतोपम गुणों से युक्त होता?

□ क्या अतिमुक्त द्वारा पकड़ी अँगुली नहीं छुड़ाना श्रमणाचार का उल्लंघन था ?

प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि गौतम स्वामी ने अतिमुक्तकुमार द्वारा पकड़ी गयी अँगुली छुड़ाई क्यों नहीं? वे साधु-मर्यादा का तर्क देते हैं और इसे श्रमणाचार का उल्लंघन मानते हैं। बन्धुओं! दशवैकालिकसूत्र में उल्लेख आया है—

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निउंजए ॥

अर्थात् साधक अपने बल, वीर्य, पुरुषार्थ को जानकर, अपनी श्रद्धा व आरोग्य के अनुकूल, अपने समस्त उत्साह के साथ क्षेत्र व काल (अवसर) को जान-देखकर फिर अपनी आत्मा को उस कार्य में लगा दें।

गौतम स्वामी ने भी देश व काल (अवसर) को देखा, परिस्थिति को भाँपा। वे जान गये कि इस बालक के हृदय में उदारता की उत्ताल तरंगें लहरा रही हैं, उन्हीं तरंगों की लहर में इसने मेरी अँगुली पकड़ी है, यदि इस समय मैंने अपनी अँगुली इससे छुड़ा ली तो इसके उदार भावों पर तुषारापात हो जायेगा, इसकी श्रद्धा को ठेस लग जायेगी, जो तार जुड़ा है ताजा-ताजा वह एक ही क्षण में टूट जायेगा।

भेद विज्ञान के वे ज्ञाता थे, अतः जानते थे कि शरीर, बाह्य-व्यवहार या परम्परा के कलेवर को ही नहीं देखना है अपितु आत्मा के भावों को समझना है। बालक द्वारा मेरी अँगुली पकड़ने में मेरे महाव्रतों में कोई दोष नहीं लगता और न साध्वाचार नाश को प्राप्त होता है। बस, इसी चिन्तन की धारा में गौतम स्वामी ने उस बालक की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने का निश्चय किया, उसकी उदात्त-उदार भावना का समादर किया और पकड़ी हुई अँगुली को वैसे ही रहने दिया। जानते थे वे कि आज मैंने यदि ऐसा कर दिया, अँगुली छुड़ा ली तो बालक मन में हम श्रमणों के प्रति सम्पूर्ण श्रमण वर्ग के प्रति प्रतिकूल भाव धारण कर सकता है।

□ माता देखी कहे पुण्यवंता, भली जहाज घर लाया

अतिमुक्तकुमार गणधर गौतम को लेकर अपने घर आते हैं। राजप्रासाद में दूर ही से माता श्रीदेवी अपने लाड़ले को गौतम की अँगुली पकड़कर आते देख अति प्रसन्न होती है, उसका हृदय गद्गद हो जाता है। मुदित मन अपना आसन त्याग माता श्रीदेवी सात-आठ कदम मुनिवर के सम्मुख आती है। तीन बार विधिपूर्वक गौतम स्वामी को वन्दन-नमन कर पुत्र को अत्यन्त स्नेहभरी नजरों से देखती है। उसकी पीठ थपथपाकर हर्षविह्वल स्वर में कहती है—“शाबाश मेरे लाल! बहुत अच्छा काम किया तुमने जो इस धर्म के जहाज को अपने घर ले आया। हमारा सौभाग्य है कि आज हमारे घर में इतने महान् श्रमण पधारे हैं।”

□ हर्षभावधर निज हाथन से, अन्न-पाणी बहराया

माता अत्यन्त भक्ति एवं श्रद्धा के साथ गौतम स्वामी को अपनी पाकशाला में ले जाकर अपने हाथों से प्रासुक एवं ऐषणीय आहार-पानी बहराती है। भिक्षादान से लाभान्वित होने के पश्चात् हर्षित भाव से मुनिवर को अपने राजमहल के मुख्य द्वार तक वापस पहुँचाने साथ-साथ आती है।

माता देखी कहे पुण्यवंता, भली जहाज घर लाया।
हरख भावां हाथां सूं लेइने, अन्न-पानी बहराया हो—
एयवन्ता मुनिवर, नाव तिराई बहता नीर में॥

माता क्या कहती है अपने पुत्र से? वह कहती है—“पुत्र! तुम भाग्यशाली हो, अत्यन्त पुण्यवान हो जो ये तारण-तिरण की जहाज तुम्हें सहज ही दिखाई दे गई और तुम इस भव-सागर से पार उतारने वाले जहाज को घर ले आये।”

आपके पुत्र भी ऐसी भावना रखते होंगे? कभी लाते होंगे—सन्त या सती को गोचरी निमित्त साथ-साथ? कैसे लायेंगे? संस्कार ही नहीं दिये ऐसे! स्वयं आपको भी कहाँ है समय? बिना बुलाए अतिथि होते हैं मुनि, अतः कभी आ गये झोली और भिक्षा पात्र लेकर तो.....? चेहरे पर कितनी खुशी छलकेगी?

□ भगवंता की वाणी सुणने, चढ़ियो मन वैराग्य

गौतम स्वामी वहाँ से गोचरी लेकर निकलते हैं बाहर। अतिमुक्तकुमार भी गौतम स्वामी के साथ ही हैं। जब मुनिवर वहाँ से जाने लगते हैं तो अतिमुक्त फिर प्रश्न करते हैं—

“कहिणं भंते, तुब्भे परिवसई?”

“भगवन्त! आप कहाँ रहते हैं?”

गौतम स्वामी के मुँह से यह सुनकर कि उनके भी धर्मगुरु हैं जिनका नाम भगवान महावीर है और वे उन्हीं के पास जा रहे हैं, अतिमुक्त भी उनके साथ चलने को तैयार हो जाता है। उसके मन में एक जिज्ञासा भाव है कि ऐसे श्रमण के भी धर्मगुरु हैं तो वे कैसे हैं? वह कहता है—

“गच्छामि णं भंते ! अहं तुब्भेहिं सद्धिं समणं भगवं महावीरं पायवंदए।”

अर्थात् “भगवन्! क्या मैं भी आपके साथ श्रमण भगवान महावीर के चरणों में वन्दन करने चल सकता हूँ?”

गौतम स्वामी तब कहते हैं—“हे देवानुप्रिये! जैसा तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो।”

पहुँचते हैं गौतम स्वामी के साथ अतिमुक्त प्रभु महावीर के चरणों में, करते हैं श्रद्धा से वन्दन-नमन, सुनते हैं धर्म-परिषद् में बैठकर प्रभु का धर्मोपदेश और उतार लेते हैं उस धर्मदेशना के एक-एक शब्द को अपने अन्तर में। उत्पन्न हो जाता है संसार-विरक्ति का भाव और जग जाती है दीक्षा लेने की उत्कट अभिलाषा!

लारे लारे चालियो बालक, भेट्या मोटा भाग।
भगवंता री वाणी सुणने, मन चढियो वैराग हो—
एयवंता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में॥

□ दुर्लभ है संयम ! अति दुर्लभ है संयमाभिलाषा

मन में वैराग्य भाव का उत्पन्न होना, दीक्षा की अभिलाषा का जागृत होना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् कभी संयोगवश ऐसा हो भी जाये तो दीक्षा लेना महामुश्किल है। प्रथम तो माता-पिता आज्ञा देंगे नहीं। अनेक तरह से समझाकर घर में रोकना चाहेंगे। बड़ा प्रबल होता है मोहनीय कर्म और यह मोह, अविवेक तथा अज्ञान ही व्यक्ति की आँखों पर, मन पर, मस्तिष्क पर पर्दा डाल देता है। माता-पिता के बाद अन्य रिश्तेदार, मित्र, सम्बन्धी आदि संसार के प्रलोभनों की भूल-भुलैया में डालने का प्रयत्न करते हैं, पर वैराग्य यदि पक्का है तो उतरता नहीं। अंतगडसूत्र में वर्णित नब्बे ही भव्यात्माओं का वैराग्य-रंग पक्का था। जहाँ वैराग्य पक्का नहीं, जिनकी विरक्ति में कचावट होती है उन्हें बातों, प्रलोभनों से बहलाया, फुसलाया जा सकता है। मोहनीय कर्म की स्थिति मजबूत हो तो वैराग्य का रंग उतर भी जाता है।

□ अतिमुक्त का दीक्षार्थ माता-पिता से अनुमति माँगना

अतिमुक्तकुमार ने माता-पिता से आज्ञा लेकर दीक्षार्थ आने की बात प्रभु महावीर से कही। दयानिधान प्रभु महावीर बोले—“हे देवानुप्रिये! जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, पर धर्मकार्य में प्रमाद मत करो।”

घर आया माता कनेसरे, अनुमति की अरदास ।
पुत्र वचन माता सुणीसरे, मन में आयी हास हो—
एयवंता मुनिवर ॥

तूं कांई समझे साधपणा में, बाल अवस्था थारी ।
ऐसा उत्तर दिया कुंवर जी, माता कहे बलिहारी जी
एयवंता मुनिवर ॥

वैराग्य भाव लिए जागृत आत्मा के साथ महलों का वह राजकुमार अतिमुक्त राजभवन में आता है। अपने पिता-महाराज व माता-महारानी के पास जाकर प्रभु-दर्शन की, प्रभु की अद्भुत छवि की, प्रभु के उपदेश की बातें बताकर अपने मन की विरक्ति भावना को प्रकट कर देता है और कहता है—“आप दोनों मुझे प्रभु के पास मुण्डित बन श्रमण-धर्म में दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान करें।”

□ जाओ, जाओ, खेलो तुम तो, देऊं दड़ी सुखका जी

छोटे-से बालक के मुँह से इतनी बड़ी बात! माता को हँसी आ गयी। खेलने की उम्र और संयम की बात करेगा तो एक बारगी तो बात हँसी की ही लगेगी। माता ने कहा—“कुमार! तुम अभी छोटे हो, बालक हो। दीक्षा तुम्हारे वश की बात नहीं है। जाओ और जाकर अन्य बच्चों के साथ कन्दुक-क्रीड़ा करो, गेंद ले जाओ, गेंद से खेलो। तुम क्या समझोगे दीक्षा क्या चीज है?”

बोले सि ताव तुमं पुत्ता !
असंबुद्धोसि तुमं पुत्ता !!
किण्णं तुमं जाणासि धम्मं ?!!

अतिमुक्त बालक था पर उसकी आत्मा जागृत हो चुकी थी, सर्वज्ञ प्रभु महावीर की आत्म-कल्याणी वाणी ने उसे ज्ञानी बना दिया था। यह ठीक है कि उसका बचपन फूलों में खिला था, पेड़-पौधों के बीच पला था, खेलकूद में व्यतीत हुआ था, पर उस खेलने-खाने की वय में भी वह प्रतिबुद्ध बन गया था, अतः असंबुद्ध नहीं रहा था।

□ व्यक्ति के विकास का आधार शरीर, आयु, जाति, पद, धन आदि नहीं, उसका आधार है आत्मा

जैन-दर्शन महानात्मा का नाप-तोल किसी की आयु के आधार पर या शरीर, जाति, आकृति आदि के आधार पर नहीं करता। इन बाह्य पदार्थों की अपेक्षा जिनधर्म में आत्मा के गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, आत्म-गुणों का विकास ही यहाँ किसी व्यक्ति के विकास का नाप-तोल है। आत्मा न पुरुष है, न स्त्री, न बालक है, न युवा, न वृद्ध। वह न गोरी है, न काली। आचारांगसूत्र में उल्लेख मिलता है—

से न दीहे न इस्से न किण्हे, न नीले

न इत्थी, न पुरिसे.....

(५/६/१७६)

अंतगडसूत्र में जिन भव्यात्माओं का वर्णन है, वह वर्णन उनके आत्म-स्वरूप को, आत्म-जागृति और आत्म-विकास को लेकर ही है। वैसे बालक-बालिकाओं को आप भी सांसारिक कार्यों की दृष्टि से अशक्त, अविकसित और अनुभवहीन मानकर उनकी उपेक्षा करते हैं। जैनधर्म तो आत्मशील धर्म है, अतः वह अनेकानेक पूर्वजन्मों की परम्परा से विकसित, सशक्त विराट् आत्मा को विशेष महत्त्व देता है और शारीरिक-अशक्तता या आयु की अल्पता आत्म-साधना में बाधक नहीं बनती। कहा भी है—

“तेजसां हि न वयः समीक्षते।”

अर्थात् तेजस्विता आयु के बड़प्पन या लघुपन की अपेक्षा नहीं रखती।

□ आत्म-विकास में बाल-वय की महत्ता

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने पाँच वर्ष की आयु में ही अपने लिए जो कथन किया, उसे देखिए—

बालोहं जगदानंद, न मे बाला सरस्वती।

अप्राप्ते तु पंचमे वर्षे, वर्णयामि जगत्-त्रयम्॥

संसार के जागतिक आनन्द या कार्यों की दृष्टि से मैं बालक हूँ, मेरा यह शरीर बालक है, पर आत्मा, ज्ञान या विद्या की दृष्टि से मैं बालक नहीं हूँ। अभी मुझे पाँचवाँ वर्ष भी नहीं लगा है फिर भी संसारभर के विचारों के मूलतत्त्वों का मैं वर्णन कर सकता हूँ।

वैष्णव ग्रन्थ, उपनिषदों में अष्टावक्र का उदाहरण आता है। अष्टावक्र शरीर से, आयु से छोटा था, पर ज्ञान-बल और आत्म-तेज से महान् था।

जैन-दर्शन में बाल्यावस्था को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। शिक्षा-जगत् की मान्यतानुसार यहाँ भी मान्यता है कि इस आयु में उसके सुसंस्कारों और आत्म-गुणों को विकसित करने के प्रयत्न अवश्य सफल होते हैं। दीक्षा तो बाल्यावस्था में लेना ही अधिक सार्थक है। बहुत पहले की बात छोड़िये, केवल विगत शताधिक वर्षों के जैन-इतिहास पर एक नजर डालिये। स्पष्ट सिद्ध हो जायेगा कि जिन-जिन महानात्माओं ने अल्प वय में दीक्षा अंगीकार की, सभी श्रेष्ठ, विद्वान्, शासन-प्रभावक व धर्म-प्रचारक हुए हैं।

जय-संघ के गौरव श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म. सा., स्वाध्याय-प्रेमी श्री चाँदमल जी म. सा., आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. आदि ने लगभग ९ या १० वर्ष की बाल वय में दीक्षा ग्रहण कर जिनशासन को खूब दिपाया। स्थानकवासी समाज के देदीप्यमान नक्षत्र आचार्य श्री लालचन्द्र जी म. सा. ७ वर्ष की वय में तथा गुरुदेव श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. ८ वर्ष की आयु में संसार-विरक्त बन गये।

रत्न-वंश के आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. ने भी १० वर्ष की बालायु में दीक्षा ग्रहण की थी। श्रमणसंघीय स्व. आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. ने, तेरापंथ के गणिवर आचार्य श्री तुलसी ने और आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने भी लगभग इसी ९-१० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। ऐसे अनेक आचार्य और विद्वान् मनीषी सन्त शोध करने पर मिल जायेंगे, जो अल्पायु में दीक्षित बन आत्म-ज्ञाता और आगम-विज्ञाता बने, जिनधर्म के उज्ज्वल प्रभावक बने।

□ बाब जी ! टाबर छोटा है

आज किसी गृहस्थ के सुयोग्य, सुशील, संस्कारित पुत्र-पुत्री को देखकर विद्वान् संत यदि कहें कि “तुम्हारे अनेक पुत्र-पुत्री हैं, भरा-पूरा घर है, यह बालक सुयोग्य है, शासन की प्रभावना करने वाला बन सकता है, आपका और आपके खानदान का नाम रोशन कर सकता है, अतः इसे हमें दे दो, डाल दो इसे हमारी झोली में, कर दो इसे समर्पित जिनशासन के लिए।”

यह सब सुनकर आप क्या कहेंगे? “बाब जी! अबार तो छोटी है, थोड़ी तो उमर में बड़ी होवण दो।”

सन्त कहते हैं—“भोले श्रावक जी! अभी इसकी भावना है, यही समय उचित भी है इसे धर्म-पथ पर डालने का।” पर आपका प्रबल मोह। पिता कहेगा—“हाल तो इणे पढ़ण दो।” माँ कहेगी—“पढ़ी, धन्धो करी, ब्याव करी, टाबर-टूबर हुई पछे आप केवो ज्युं।”

□ बच्चों को आध्यात्मिक-नैतिक शिक्षा दिलाइए

जहाँ तक पढ़ाई की बात है तो बन्धुओं! क्या सन्त-सती अनपढ़ रहते हैं? आप अपने बालक को सांसारिक विद्या, पेट पालने की शिक्षा, धनार्जन के लिए उपयोगी ज्ञान सिखाने के लिए प्रयत्न करते हैं, संसार बढ़ाने की विद्या पढ़ाते हैं, पर सन्त तो उसे संसार घटाने की विद्या पढ़ायेंगे, आत्म-कल्याण की शिक्षा देंगे। इस आत्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा के समक्ष आप द्वारा जिस विद्या के लिए बालक को तैयार किया जाता है वह व्यर्थ है, नगण्य है।

एक नवयुवक आया गुरुदेव के पास और बोला—“गुरुदेव! कुछ ज्ञान-ध्यान सीखना चाहता हूँ। आप स्वीकृति दें तो आपके सान्निध्य में रहकर सीख लूँ।”

गुरुदेव को भला क्या आपत्ति? उसने सीखना शुरू किया, गुरुदेव ने सिखाना शुरू किया। शिक्षा-क्रम कुछ दिनों चला। कभी मैं भी उसे पढ़ाता। एक दिन सोचा—‘इसके मन में धर्म के प्रति कितना आकर्षण है, इसकी जाँच तो करूँ।’ जब वह पढ़ने आया तो मैंने कहा—“क्या रखा है संसार में? माता-पिता, भाई-बहन आदि जितने रिश्ते-नाते हैं, सभी स्वार्थ के हैं। जिस शरीर का पोषण करोगे वह भी नश्वर है। संसार के अनन्त-अनन्त दुःखों से छुटकारा पाना है तो छोड़ो संसार, आ जाओ वैराग्य पथ पर, ले लो दीक्षा!”

वह बोला—“क्या कहते हो बाब जी! मेरा यहाँ आना छोड़ाओगे क्या? माता-पिता को भनक भी लग गयी तो मुझे यहाँ आने नहीं देंगे।”

□ जो जानता हूँ वह नहीं जानता : जो नहीं जानता वह जानता हूँ !

बालक अतिमुक्तकुमार पिता से श्रमण-धर्म में दीक्षित बनने की आज्ञा माँग रहा था और जब माता-पिता ने कहा कि “तुम धर्म को क्या जानो? तुम तो अभी बच्चे हो।”

तब अतिमुक्त ने कहा—“हे माता! जो मैं जानता हूँ, उसे मैं नहीं जानता और जो मैं नहीं जानता, उसे जानता हूँ।” जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि, जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि।

सुनकर माता-पिता आश्चर्य में पड़ जाते हैं। बात उन्हें अटपटी, रहस्यमय लगती है। वे समझ नहीं पाते अपने बाल-पुत्र के कथन में छिपे रहस्य को। कहते हैं—“यह तुम क्या कह रहे हो? क्या मतलब है तुम्हारे इन शब्दों का?”

अतिमुक्त कहते हैं—“हे माता-पिता! मैं यह तो जानता हूँ कि मुझे एक दिन अवश्यमेव मरना है, पर वह मरण कब होगा? यह नहीं जानता। मैं यह नहीं जानता कि मैं मरकर कहाँ, किस गति में जाऊँगा? पर यह जानता हूँ कि जैसे मैंने शुभाशुभ कर्म किए हैं उनके परिणामानुसार ही मुझे शुभ या अशुभ गति मिलेगी।”

बन्धुओं! सभी जानते हैं कि जहाँ जन्म है वहाँ मरण सुनिश्चित है। आप यह भी जानते हैं कि मौत तो आनी है कभी न कभी पर कब आयेगी वह? यह तो केवलिगम्य है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही बता सकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर। कब जाना अनिश्चित है पर जाना निश्चित है तो संसार में यह आपाधापी, यह भाग-दौड़, यह रच-पच क्यों? हो सकता है मृत्यु इसी समय आ जाये, हो सकता है संध्या या रात्रि तक का आयुष्य ही शेष हो और यह भी हो सकता है कि कुछ दिन-माह-वर्ष तक का आयुष्य ही बाकी हो। आयु जब तक है तब तक जीवन है और इस जीवन में भी पहले के भव-भवान्तर में जो कर्म किए हैं, शुभ या अशुभ, उदय में आने पर उनको तो भोगना ही है।

□ आज जावणो, काल जावणो, आखिर में जावणो

पूज्य गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री लालचन्द जी म. सा. ने अपने उपदेशी भजन में इसी बात को समझाते हुए कहा है—

आज जावणो, काल जावणो, आखिर में है जावणो।
करियोड़ा करमां रो भाई, आगे है फल पावणो ॥टेर ॥
करे बिखेरो सांझ-सवेरो, आगो-नेडो जावे है।
अंवेरणा में समझे नहीं है, नितका फंद फैलावे है।
अरे भोलिया, गजब गोलिया, काई थाने समझावणो ॥ १ ॥

भले ही आज मृत्यु के द्वारा जाना हो, भले कल या फिर कभी पर अन्त में एक दिन तो उस राह से जाना ही पड़ेगा। यह जानते-बूझते ही अरे भोले व्यक्ति तू दिन-रात अपना धन्धा फैला रहा है, परिवार बढ़ा रहा है, परिग्रह की वृद्धि कर रहा है। इसके लिए कभी तू यहाँ जाता है, कभी वहाँ, कभी इस गाँव जाता है, कभी उस गाँव; कभी चेन्नई तक जाता है, कभी आसाम तक। नजदीक जाना पड़े या दूर, कमाई होनी चाहिए, धंधा हाथ लगना चाहिए। तुझे मालूम है कि एक दिन ये सब यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा फिर भी तू नित्य ये दंदफंद बढ़ाता जा रहा है, इनको समेटने की समझ तेरे में कब आयेगी? कितनी-कितनी बार समझाते हैं पर ऊपर से भोलेभाले नजर आने वाले अय भोलिया प्राणी ! सांसारिक बातों में तो तू गजब का माहिर निकला।

मन रे माथे खांच-खांच ने, क्यूं ओ बोझो लेवे है।
 झूठे ही लोगां ने सारे, क्योँ थत्तोबो देवे है॥
 जवाबदारी दीवी बिसारी, सीख काबू में आवणो..... ॥ २ ॥
 औरां ने हुशियार करे तू, खुद गैबू बणियोड़ो है।
 थारे माते किता जणा रो, छलताणो तणियोड़ो है।
 कुण केड़ो है, कुण नेड़ो है, इण रो पतो लगावणो ॥ ३ ॥

अन्तर्-मन मना कर रहा है, पर तू संसार में उलझा हुआ कर्मों का बोझ बढ़ाता जा रहा है धर्मध्यान की बात आते ही झूठे आश्वासन देता है। जरा चिन्तन कर, यदि जीवन में कुछ भी नहीं किया, दुर्लभ मानव-भव पाकर भी धर्मध्यान करने की तेरी तो जिम्मेदारी है, उसे भूल गया तो आगे तेरा क्या हाल होगा? मेरी मान ले, अपने मन, अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर ले।

समय आने पर दूसरों को शिक्षा देने में तू कितना कुशल बन जाता है, पर स्वयं जरा भी नहीं सोचता, गाफिल बना फिरता है। भीतर और बाहर कितने-कितने शत्रु छल-बल से तेरी घात लगाये बैठे हैं। कौन तुझे हानि पहुँचाने वाला है और कौन तेरा हित चाहने वाला है?—इसका विचार कर।

ओ भी कर लूं, वो भी कर लूं, सभी काम मैं कर लूं ला।
 इण सूं ले लूं, उण सूं ले लूं, पाछा अभी चुका दूं ला ॥
 घालमेल ने छोड़ गेल ने, पड़े न मगज पचावणो ॥ ४ ॥
 'श्रमणलाल' अब सरल होय कर, इण मनने सुलझाले तूं।
 हलको हूयने मनसूबां सूं, निज में ध्यान लगा ले तूं ॥
 मन भी सरसे, जन भी हरसे, सगले हरस वधावणो ॥ ५ ॥

'अभी तो क्या है? मौत कौन-सी अभी आने वाली है? अभी तो जवानी है। काम करने के दिन हैं।' यही सब सोचकर नये-नये काम प्रारम्भ कर देता है कि ये भी मैं कर लूँगा और वह भी। काम प्रारम्भ करने को पूँजी नहीं होगी तो उधार लेकर भी नये धंधे करेगा और सोचेगा—'अभी तो बहुत उम्र शेष है, चुका दूँगा।' ऐसी कल्पनाओं, मनसूबों को छोड़ दे। मन पर से इस बोझ को हटा दे। कुछ हलका हो जा और आत्मा को पहचान, अन्तर् में मुड़, अपने आत्म-कल्याण पर ध्यान दे।

हे मानव! यदि ऐसा करेगा तो तेरा मन तो आनन्दमय बनेगा ही, अन्य-अन्य लोग भी प्रसन्न होंगे। यहाँ और वहाँ, इस भव और परभव में सदा-सर्वत्र हर्ष और आनन्द की लहरें चलेंगी।

□ जब तक आत्मा का स्पर्श न करें तब तक ज्ञान अज्ञान है

बन्धुओं! सभी जानते हैं कि मृत्यु से बड़ा सत्य इस जीवन का अन्य कुछ भी नहीं है। जो साधक इसे जानकर पाप-भीरु बन जाता है, परिग्रह-तृष्णाओं के जाल में फँसकर अपना अमूल्य जीवन नहीं खोता वही सच्चा ज्ञानी है पर जानते हुए भी जो साधक, जो व्यक्ति, जो जीवात्मा पाप-पंक में डूबा रहता है, मोह-माया में उलझा रहता है, धन-धान्य, घर-परिवार में आसक्त बनकर ठेट की जगह पेट व पेटी भरने में ही पुरुषार्थ करता है, 'हाय धन, हाय धन' करता हुआ जीता है और एकत्रित धन-सम्पदा-वैभव सब कुछ यहाँ का यहीं छोड़कर चल देता है, उसे शास्त्रकारों ने मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख की संज्ञा दी है। इस विषय में एक प्रसंग आता है—

कथा-प्रसंग

एक नगर का कोई राजा इस बात से बड़ा प्रसन्न था कि उसकी राजसभा में बड़े-बड़े शूरवीर, दिग्गज, विद्वान्, कवि, पण्डित, ज्योतिषी, शिल्पी, वास्तुविज्ञ आदि अनेक तरह के उत्तम व्यक्ति थे। ऐसे उत्तम व्यक्तियों से शोभित उस राजसभा की आस-पड़ौस के राज्यों में भी ख्याति थी। राजा स्वयं शक्तिशाली था, उसकी सेना भी दुर्दान्त थी। उसके राजकोष में धन की कोई कमी नहीं थी। राज-परिवार भी उसका भरा-पूरा था—अनेक रानियाँ, राजकुँवर, राजकुमारियाँ आदि थे और उसकी सेवा के लिए नौकर-चाकर, दास-दासी आदि बड़ी संख्या में उपस्थित रहते थे।

एक बार अचानक उस राजा के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मेरी राजसभा में सभी तरह के चतुर, योग्य, सामर्थ्यवान व्यक्ति हैं, पर मेरी इस सभा में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो गम्भीर माहौल में अपनी मूर्खतापूर्ण बातों से हास्य उत्पन्न कर दे, थोड़ी देर के लिए गम्भीर वातावरण दूर हो जाये और हल्की-फुल्की हँसी-मजाक का आनन्द सभी को महसूस हो।

बस, विचार आने की देर थी। आदेश दिया मन्त्री को—“एक ऐसे मूर्ख की खोज कराओ, जिससे बढ़कर दूसरा मूर्ख नहीं हो। उसकी मूर्खतापूर्ण हरकतें ऐसी हों कि वह महामूर्ख कहलाने लायक हो।”

राज्यादेश था। कहते हैं जैसा व्यक्ति होता है, वैसा ही चिन्तन होता है। राजा का चिन्तन था—‘राजसभा में मूर्ख भी हों।’ समझ सकते हैं, राजा कैसा होगा ?

मन्त्री ने सभासदों से कहा। सभी ने इधर-उधर शोध की, पर ऐसा व्यक्ति नहीं मिला। तब एक शोध-दल बनाया गया और उसे यह कार्य सौंपा गया। वह दल ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूमा, लेकिन संयोग से उनको मन-इच्छित व्यक्ति नहीं मिला। शोध करते-करते, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार गया जब वह दल तो वापस अपने नगर की ओर चल पड़ा। चलते-चलते जब सभी को थकान महसूस हुई तो एक विशाल वृक्ष को देख सभी रुक गये और उसकी छाया में विश्राम करने लगे।

अचानक उन्हें लगा कि वृक्ष पर कुछ आवाजें हो रही हैं। दिन का समय था, रात होती तो डर जाते। देखा ऊपर तो चकित रह गये। एक व्यक्ति पेड़ की डाल पर बैठा था और कुल्हाड़े से पेड़ की उसी डाल को जिस पर बैठा हुआ था, काट रहा था। काट भी ऐसी जगह से रहा था कि डाल टूटे तो डाल सहित वह भी गिरे।

उसे ऐसा करते देख शोध-दल का नेता चिल्लाया—“अरे! यह क्या कर रहे हो? गिर जाओगे नीचे तो हाथ-पैर टूट जायेंगे। ऊँची डाल है, मर भी सकते हो।”

ऊपर बैठे व्यक्ति ने सुना तो वह भी जोर से चिल्लाकर बोला—“क्या कहते हो? मैं क्यों गिरूँगा? तुम अपना काम करो, मुझे अपन काम करने दो।”

इतना कहकर वह व्यक्ति पुनः कुल्हाड़ा चलाने लगा।

दल का नेता चिल्लाया—“अरे मेरी बात सुनो। जिस डाली को काट रहे हो उसी पर ऐसी जगह बैठे हो कि अवश्य गिरोगे।”

कुल्हाड़े का वार रोककर ऊपर बैठा व्यक्ति भी चिल्लाकर बोला—“मैं नहीं गिरूँगा। डाल गिरेगी। मैं अपने को नहीं काट रहा हूँ। डाल को काट रहा हूँ। अब मुझे काम करने दो। पुनः कुछ पूछा तो कुल्हाड़ा फेंककर सिर तोड़ दूँगा।”

नेता ही नहीं सभी समझ गये कि मूर्ख है, कुछ कहना बेकार है। तभी ध्यान आया ऐसा व्यक्ति ही तो चाहिए हमें। इससे ज्यादा मूर्ख भला कौन होगा जो पेड़ की डाल पर आगे बैठ, पीछे से डाल को काटे।

साथियों ने धीरे से आपस में परामर्श किया कि “धीरे-धीरे चढ़ो सभी पेड़ पर और गुपचुप इस तरह बाँधो कि यह नीचे नहीं गिरने पाये। बाँध जाये तो धीरे-धीरे नीचे उतारकर ले आओ इसे।”

वैसा ही किया गया। अब वह व्यक्ति उनकी गिरफ्त में था। उसे लेकर वह दल अपने नगर पहुँचा।

मन्त्री के पास सन्देश गया। वह भी पहुँचा। जैसे-तैसे उल्टे-सीधे ढंग से उसे समझाकर उन लोगों ने उसको राजसभा में बैठने के उपयुक्त वस्त्र पहनाये। एक तख्ती बनवाई, उस पर ‘महामूर्ख’ शब्द बड़े अक्षरों में लिखवाए। पहचान के लिए वह तख्ती

डोरी में पिरोकर उसके गले में डाल दी गयी। अब वह राजसभा में बैठने के लिए सर्वथा उपयुक्त जँच रहा था।

लाया गया उसे राजसभा में। राजा ने शोध दल को धन्यवाद कहा। वह व्यक्ति प्रतिदिन नियमित रूप से राजसभा में लाया जाने लगा।

अब जब कभी राजसभा लगती तो महामन्त्री, मन्त्रीगण, सेनापति, कोषाध्यक्ष, ठाकुर, अमीर, उमराव, पण्डित आदि के साथ वह महामूर्ख भी बैठता। न्याय-नीति की बातें, काव्य-संगीत की बातें भी सुनने को मिलतीं और ऐसे अवसर पर सभी जी-खोलकर हँसते। बन्धुओं ! दूसरों की मूर्खता पर, अज्ञान पर हँसना या उसकी हँसी उड़ाना कर्मबंध का कारण है। हास्य में कम से कम सात कर्मों का बंध तो होता ही है। आयुष्य का भी यदि बंध हो तो आठों कर्मों का बंध हो जाता है। हँसी कई बार झगड़े खड़े कर देती है। बड़े-बड़े युद्ध करवाए हैं इस हँसी ने। याद करिए महाभारत के युद्ध और उसके कारण को।

समय तो पाहुना है, मेहमान है। वह तो आता है और चला जाता है। चलते रहे दिन, जाते रहे दिन, व्यतीत होता रहा समय। एक बार वह राजा बीमार हुआ। वैद्यों ने, हकीमों ने, डॉक्टरों ने बहुत उपचार किया। पीर और फकीरों ने दुआएँ माँगीं पर राजा ठीक नहीं हुआ। उसकी बीमारी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। एक दिन राजा को लगा कि चलाचली की बेला समीप आ गयी है, हंसा अब काया के पिंजरे से निकलने के लिए फड़फड़ा रहा है। राजा ने महामन्त्री को बताया कि अब वे ज्यादा समय तक जीवित नहीं रहेंगे, प्रभु के घर (मृत्यु) का बुलावा आ गया है।

महामन्त्री ने भी देखा कि स्थिति नाजुक है। राज्य-परम्परानुसार महामन्त्री ने राज्य के धुरीण अधिकारियों, सभासदों व जनप्रतिनिधियों को राजमहल में पहुँचने की सूचना भिजवाई। राज-परिवार के सभी सदस्यों को भी राजा साहब के निकट पहुँचने का सन्देश कहलवाया।

सन्देश पाकर सभी राजा के सम्मुख एकत्रित होने लगे। रानियाँ, राजकुमार, प्रमुख मन्त्रीगण, सभासद, प्रजा-प्रतिनिधि आदि आये वहाँ। सभी के चेहरों पर उदासी, व्यथा, चिन्ता झलक रही थी। उसी समय परम्परानुसार राजकोष में रखा समस्त संचित धन-

स्वर्ण, रजत, हीरे, पन्ने, माणक, मोती आदि वहाँ मँगाए गये और राजा के समक्ष इस तरह उन्हें रखा गया कि राजा उस धन, वैभव, सम्पत्ति को देख सके।

निराश, हताश, भग्न-हृदय राजा ने नजर फिराकर देखा सभी को, राजकोष पर भी एक नजर डाली। बड़ी कातर दृष्टि थी उस समय राजेन्द्र की। उन्हें अब अहसास हो रहा था कि मैंने कितने प्रयत्नों से यह वैभव, ये भोगोपभोग के साधन एकत्रित किये। सुन्दरातिसुन्दर अप्सराओं के रूप को मात देने वाली इन नारियों से शादी कर रानियों के रूप में इनका मान बढ़ाते हुए अपने रणिवास की शोभा बढ़ाई। अब ये सब यहीं रह जायेंगे और मैं चला जाऊँगा, इन्हें यहीं छोड़कर। साथ क्या चलेगा, कौन चलेगा? कुछ भी नहीं।

राजा इन्हीं विचारों में मग्न पुनः सभी पर नजर फेंकते हुए, उनके चेहरों के भाव पढ़ने का प्रयत्न कर रहा था तभी मन्त्रीश्वर को अचानक याद आया—“अरे! सभी तो आ गये पर वह नहीं आया।” तुरन्त सेवकों को संकेत दिया। सेवक गये महामूर्ख के घर, उसे कहा चलने के लिए। महामूर्ख ने राजसी पोशाक पहनी, गले में महामूर्ख की तख्ती लटकाई और चल दिया सेवकों के साथ।

महाराज के समक्ष लाया गया उसे। महाराज ने देखा उस ओर। कई दिनों से उदास, चिन्तित, व्यथित महाराज के चेहरे पर, होठों पर खिंच आई एक स्मित रेखा, मन की उदासी के बीच एक हल्की-सी प्रसन्नता का भाव उदित हुआ।

मूर्ख ने देखा महाराज को, देखा राज-परिवार को, मन्त्रि-परिषद् को, सभासदों को, जन-प्रतिनिधियों को और पास पड़े राज्य-वैभव को तो महाराज की ओर देखकर चहक उठा—“कोई उत्सव मनाने की तैयारी है क्या? या फिर कहीं लम्बी दूर की यात्रा पर जाना है? आज ये किस बात की तैयारी है?”

सुनकर महाराज पुनः उदास बन गये और खिन्न स्वर में बोले—“कोई उत्सव नहीं मना रहे हैं, पर हाँ, लम्बी दूर जाने की तैयारी अवश्य है यह।”

मूर्ख ने कहा—“अवश्य जाना चाहिए। आप राज्य के राजा हैं। आपको तो खूब दूर जाना चाहिए। आप नहीं जायेंगे तो कौन जायेगा?”

इतना कहने के पश्चात् उस मूर्ख ने राज्य के बिखरे हुए सम्पूर्ण वैभव पर पुनः एक नजर डाली और बोला—“क्या यह सारा धन, यह सारी सम्पत्ति साथ ले जायेंगे?”

राजा ने गर्दन हिलाकर कहा—“नहीं।”

अब मूर्ख ने वहाँ खड़े महामन्त्री, मन्त्रीगण, राज-परिवार के सदस्यों, पण्डितों आदि पर एक नजर फिराई और राजा की ओर नजर करके बोला—“तो फिर क्या ये सब आपके साथ चलेंगे?”

राजा बोला—“नहीं।”

महामूर्ख ने कहा—“जहाँ भी जायेंगे, धन तो चाहियेगा। क्या पहले ही वहाँ भिजवा दिया है?”

राजा ने कहा—“जहाँ मेरे जाने की तैयारी है, वहाँ पहले कुछ नहीं भेजा जा सकता।”

इस पर मूर्ख ने पूछा—“तो फिर बाद में ये मन्त्री, सभासद, नौकर-चाकर लेकर आयेंगे?”

राजा ने उत्तर दिया—“नहीं ! वहाँ पर बाद में भी कोई वस्तु नहीं लायी जा सकती।”

मूर्ख—“आप वहाँ कितने समय के लिए जा रहे हैं ?”

राजा—“मैं वहाँ सदा-सदा के लिए जा रहा हूँ। वापस नहीं आ सकूँगा।”

मूर्ख विचार में पड़ गया। कुछ क्षण उसका चिन्तन चलता रहा। तभी अचानक उसने अपने गले में लटकाया हुआ ‘महामूर्ख’ का बोर्ड निकाला और उसे राजा के गले में डाल दिया। सब कुछ इतना अचानक हुआ कि किसी को कुछ कहने या रोकने का समय नहीं मिला। अब भी कोई कुछ बोले, उससे पहले ही वह मूर्ख बोल पड़ा—“महामूर्ख मैं नहीं, महामूर्ख तो आप हैं। यह तख्ती आपके लिए ही योग्य है।”

□ महामूर्ख कौन ?

महामन्त्री आदि आगे बढ़कर राजा के गले से उस तख्ती को हटाना चाहते थे, कुछ कहना चाहते थे, पर उनके बढ़ते कदमों को राजा के संकेत ने रोक दिया। सभी को रोकते हुए राजा ने महामूर्ख से पूछा—“मैं महामूर्ख कैसे हूँ?”

महामूर्ख उस समय महाज्ञानी की तरह लगता था। धीर-गम्भीर स्वर में बोला— “महाराज ! जिस धन को आपने अन्याय व अत्याचार से एकत्रित किया, जिस राज-वैभव के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं, निर्दोष सैकड़ों व्यक्तियों का कत्लेआम किया, खून की नदियाँ बहाईं, लूट-पाट मचाईं, अनेकों को अनाथ किया, अनेकों को बेसहारा बनाया, अनेक सुहागवतियों का सुहाग छीना—वह सब एकत्र किया हुआ जब न आगे भेज सके, न साथ ले जा सकते हैं, न बाद में मँगा सकते हैं तो व्यर्थ इसके लिए इतने पाप का बोझ अपने सिर पर लादा। अब यह सब यहाँ पड़ा है और आपको पाप का बोझ साथ उठाए जाना पड़ रहा है। जब आप जानते थे कि एक दिन तो जाना ही होगा और यह सब यहीं पड़ा रह जायेगा, आपको अकेले खाली हाथ जाना पड़ेगा, तब इन सबके लिए यह इतना पाप क्यों किया ?”

□ आप भी चिन्तन करिए—मृत्यु अटल है

बन्धुओं! यह महामूर्ख जो लोगों की हँसी का माध्यम था, एक साधारण से दृश्य को देख आत्म-ज्ञान का स्पर्श कर बैठा। आपको यह स्पर्श कब मिलेगा ? आप भी जानते हैं मृत्यु अटल है, निश्चित है फिर भी दिन-रात पाप-कार्यों में लगे हुए हैं, संसार की मोह-माया व आरम्भ-परिग्रह में रचे-पचे हैं। याद रखिए जिस धन, जिस परिवार, जिस शरीर आदि के लिए आप यह दौड़-भाग कर रहे हैं, वे आपकी रक्षा नहीं कर पायेंगे।

बन्धुओं! आनन्द, सुख और शान्ति यदि प्राप्त करनी है तो चिन्तन कीजिए कि मृत्यु निश्चित है, क्या पता कब बुलावा आ जाय, अतः करणी सुधारणी हो तो आज और अभी से प्रारम्भ कर दीजिए। क्योंकि ‘जैसी करणी, वैसी भरणी’। अच्छे का फल अच्छा, बुरे का फल बुरा। सुधार ली करणी तो आने वाले भव में पुनः मनुष्य या फिर देवगति मिल सकती है, नहीं सुधरे अपने आप में और नहीं किया यदि अपना स्वयं का सुधार तो गति बिगड़ जायेगी।

यही तो कह रहे हैं एयवंताकुमार कि हे माता ! जो मैं जानता हूँ, वह मैं नहीं जानता और जो मैं नहीं जानता वह मैं जानता हूँ। इसका समाधान करते हुए वे बतलाते हैं—

जाणू जरूर मरुलां माता, कद मरस्युं नहीं जाणू।
कहां जाऊंगा यह नहीं जाणू, यथा कर्म में जाणू॥

□ अज्ञान ने फिर पासा फेंका : एक दिन की राज-ऋद्धि

पुत्र की ऐसी गूढ़ार्थ रहस्यमयी बात से माता-पिता समझ गये कि यह हमारे समझाने पर भी अपना विचार त्यागने वाला नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर् में आत्म-ज्ञान की जागृति हो चुकी है। जिसे आत्मा की पहचान हो जाती है, उसके वैराग्य का रंग पक्का होता है। उसे सांसारिक प्रलोभनों में, बातों के बहकावे में और भोगों की भूलभुलैया में उलझाना असम्भव है।

इतना समझ लेने पर भी अन्तर् में उनके मोह की प्रबलता थी, राग का जोर था, अतः बोले—“पुत्र! तुम जो कह रहे हो वे बातें बड़ी गूढ़ हैं। हमारी समझ में यह सब आना कठिन है, पर हम चाहते हैं कि तुम दीक्षा से पूर्व एक दिन का राज्य-सुख देख लो। हम भी तुम्हारी एक दिन की राज्य-ऋद्धि, सिंहासन-साहिबी, नगर-नरेशपन देखें।”

बालक जब रोता हो, हठ करता हो, किसी काम के लिए मचल जाता हो तब उसे पुचकारने, उसके मन को दूसरी तरफ मोड़ने के लिए क्या करते हैं आप? गोली या चाकलेट देते हैं, मिठाई या बिस्कुट देते हैं, टी. वी. खोलकर चलते हुए चित्रों की ओर ध्यान दिलाते हैं। ऐसा ही कुछ करते हैं। अतिमुक्त भी बालक ही थे, पर और बच्चों में और उनमें अन्तर था, बहुत अन्तर था। उनकी अवस्था बाल जरूर थी, पर अन्तर् में विरक्ति के जग जाने से सम्यग्ज्ञान के अन्तर् नयन खुल चुके थे, अतः वे ज्ञान-परिपक्व बन गये थे।

□ मन ही मन हँस पड़े अतिमुक्त

माता-पिता की बात सुनकर समझ गये कि मेरा ध्यान बदलकर, मन को राज्य की तरफ मोड़कर मुझे अपने विचारों से विचलित बनाना चाहते हैं। वैराग्य की बात करने पर, दीक्षा की आज्ञा माँगने पर माता-पिता को हँसी आयी थी और अब राज्य देने की बात पर अतिमुक्त मन ही मन हँस पड़े थे। कितने भोले हैं मेरे माता-पिता। नहीं जानते कि जिसने आत्मा की अमरता का, शरीर की नश्वरता का, जीवन-मृत्यु के रहस्य का ज्ञान कर लिया है वह क्या करेगा राज्य-ऋद्धि पाकर? राज्य-ऋद्धि तो मुझे देर-सवेर मिलनी ही थी, मैं यदि इसमें उलझने का भाव रखता तो वैराग्य की बात ही क्यों करता? फिर भी ये मेरे

माता-पिता हैं, मेरे उपकारी हैं, मैं ऋणी हूँ इनका। अतः इनको अधिक क्या कहूँ? इनके मन की यह इच्छा भी पूरी हो लेने दो। मेरा मन तो पक्का है, बदलने वाला है ही नहीं फिर क्या फर्क पड़ता है? बस, एक दिन ही की तो बात है।

□ मौनं स्वीकृति लक्षणं : राज्याभिषेक हुआ

अतिमुक्त मौन रह गये। माता-पिता ने उनके मौन को स्वीकृति समझा। मन ही मन प्रसन्न हुए कि हमारा तीर व्यर्थ नहीं गया। वे क्या जानते थे कि यह तीर भी व्यर्थ ही जाना है।

राज्याभिषेक की शानदार तैयारियाँ की गईं। सभी सरदारों, राजाओं, जागीरदारों, अमीर-उमरावों को बुलाया गया। नगर को दुल्हन की तरह सजाया गया। नगर-चौक माणक-मोतियों से पूरे गये। राजमार्गों पर, दुकानों और भवनों पर, राजमहलों के विशाल द्वारों पर अनेक तरह की सजावटें की गईं। बाजे बजे, ढोल-थालियाँ बजीं, शहनाइयाँ बजीं। हस्तिशाला के हस्तियों और अश्वशाला के अश्वों को सजाया गया। राज्याभिषेक की मंगल वेला में अनेक बन्दियों को मुक्त कर दिया गया। राजकवियों, चारण और भाटों ने विरुदावली गायी।

राजदरबार की शोभा देखते ही बनती थी। लगता था किसी देवेन्द्र की सभा जुटी हो। निश्चित समय पर राजपुरोहित ने राज्याभिषेक की विधि प्रारम्भ की। बाल-अतिमुक्त राजसी बहुमूल्य पोशाक पहनकर राजसभा में आये। उन्हें सिंहासन पर बिठाया। उनके आने पर, उनके खड़े होने तक सभी खड़े रहे। उनके सिर पर रत्नजड़ित मणिमय स्वर्ण-मुकुट रखा गया।

बन गये अतिमुक्त राजकुमार से नगर-नरेश, नराधिप, पृथ्वीपति। समस्त सभासदों ने एक स्वर से सभा-स्थल को गुँजाते हुए जयघोष किया—“महाराज अतिमुक्तकुमार की जय!”

□ क्या आदेश है ?

सिंहासन पर अतिमुक्त। पिताश्री विजय उनकी सेवा में, समस्त मन्त्रि-परिषद् व सभासद उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में।

सबसे पहले महाराजा विजय ने मुँह खोला। वे अतिमुक्त महाराज से बोले—“कहिये महाराज! आपका क्या आदेश है?” मन में उनके था कि राज्य के बारे में पूछेंगे, सेना के विषय में कुछ कहेंगे, राजकोष में धन कितना है? जानना चाहेंगे, किसी को दान देने की कहेंगे, प्रजा की खुशहाली मालूम करेंगे, नगर की चौकसी या नागरिक के धन-धान्य की सुरक्षा का प्रश्न होगा.....जाने कितने विचार आये और गये।

□ दीक्षा की तैयारियाँ करवाई जायें

तभी सुनाई दिया, महाराज अतिमुक्त कह रहे थे—“मैं दीक्षा लेने की इच्छा रखता हूँ। मेरी दीक्षा की तैयारियाँ करवाई जायें। ओघे और पातरे (काष्ठ के भिक्षा-पात्र) खरीदे जायें, मुनि-वेश तैयार कराया जाये, नाई को समय पर आने का आज्ञा-पत्र और अग्रिम राशि भेजी जाये।

तीन लाख सोनैया काढ़ो, श्री भण्डारा मांही।
दो लाख रा ओघा-पात्रा, एक लाख में नाई हो,
एयवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ॥

इसे कहते हैं वैराग्य! दीक्षा के उपकरणों की कीमत कैसी उदारता से आँकी। ओघे और पात्रों के लिए २ लाख स्वर्ण-मुद्रा, वस्तुतः इतनी कीमत नहीं, पर उत्पादकों की आजीविका की चिन्ता रखने वालों की ऐसी उदारता के कारण से ही वस्तु हर एक के लिए प्राप्य हो जाती थी। अगर कोई निर्धन संयम लेता तो उन्हें आसानी से उपकरण उपलब्ध हो जाते थे। उत्पादक धनी होने से उदार रहते।

बन्धुओं! कैसी लगन लगी आत्मा के कल्याण की? कहाँ तो आप लोगों का पल-पल परिवर्तन होने वाला मन? कहाँ अतिमुक्तकुमार की सुमेरु-सी भाव-स्थिरता? यही तो है भावों का खेल। कोई चंचल-मन के संकेतों पर नाचता है मदारी के बन्दर की तरह, पर भव्यात्मा, विरल-आत्मा, आत्म-ज्ञानी आत्मा मन के कहने से नहीं चलती, अपितु स्वयं मन को इच्छित राह पर चलाती है। आत्म-बल के धनी, वैराग्य भाव में दृढ़, सुस्थिर मना अतिमुक्त किसी तरह भी विचलित नहीं हुए।

□ दीक्षा की भव्य तैयारियाँ

माता-पिता के मन में स्थित दुःखजन्य मोह स्थिति ने मोड़ लिया। पुत्र की दृढ़ता से आश्वस्त हुए तो मन के सारे किनारे हर्ष में डूब-से गये। शानदार ढंग से तैयारियाँ प्रारम्भ की गईं। एक दिन पहले भी तैयारियाँ की गई थीं, पर वे आत्मा को उलझाने वाली, संसार-भ्रमण को बढ़ाने वाली, पापों के भार को अधिक भारयुक्त बनाने वाली तैयारियाँ थीं। अब तो जीव जो मुक्ति के वरण की लगन में मगन था, उसको तिरण-तारण का अनुपम जहाज, अरिहन्त प्रभु के समवसरणरूपी दरबार में ले जाना था। कुछ ऐसी शान के साथ कि लगे सभी को—‘ऐसा ठट पहले न देखा था, न सुना था।’

□ शंका का समाधान

कभी आप में से भी किसी को ऐसा विचार आता है। आप ऐसा मत सोचिए कि जिसे संसार ही छोड़ना है, दीक्षा ही धारण करनी है, उसके लिए यह शानो-शौकत क्यों? यह सब जिनशासन की प्रभावना का एक हिस्सा माना गया है, धर्म की उत्कृष्ट दलाली है ये। श्रीकृष्ण महाराज ने इस दलाली में तीर्थकर गोत्र का उपार्जन किया था। हमारे आगमों में वर्णित दीक्षा-प्रसंगों को पढ़कर मनन करिये, कुछ चिन्तन करिए। कितनी उमंग, कितना हर्ष, कितना उत्साह होता था दीक्षा महोत्सव-आयोजनों में। बन्धुओं ! तर्क एक अलग बात है और श्रद्धा-भक्तिभाव एक अलग ही निराला-अलबेला तत्त्व है। जिन खोजा तिन पाईयाँ, गहरे पानी पैठ। घर के भीतर बैठे हुए बिल्ली पर हाथ फेरकर कह देना कि वर्षा नहीं हुई, उचित नहीं है।

□ दीक्षा महोत्सव : अतिमुक्त अणगार बने

भव्य दीक्षा महाभिनिष्क्रमण-यात्रा निकाली जाती है अतिमुक्तकुमार की। टीकाकार लिखते हैं—स्वयं बालक-दीक्षार्थी राज्य के विशाल उन्नत पट्टहस्ति पर उस समय से कहीं अधिक शोभायमान लगता था, जब वह सिंहासनारूढ़ किया गया था। उस समय शहनाइयों, वाद्य-यन्त्रों, ढोलक-थाली की आवाजों में अति मन्द स्पन्दन था, पर आज वह स्पन्दन, प्राण-स्पन्दन की भाँति वेगवान था। तब राज्य के अधिकारियों, कार्यकर्त्ताओं व प्रजाजनों के चेहरों पर थोपी हुई हँसी-खुशी-उमंग थी पर आज सभी के चेहरे खिले, तरोताजा, प्रकृत्या उमंग भरे थे।

महोत्सव करीने संजम लीनो, हुआ बाल अणगार ।
भगवंतां रा चरण भेटिया, धन्य ज्यारां अवतार जी ॥

महाभिनिष्क्रमण-यात्रा तीर्थकर प्रभु महावीर भगवान के समवसरण में पहुँचती है। बालक अतिमुक्त प्रभु से दीक्षा का निवेदन करता है। चरमशरीरी जीव जानकर प्रभु उसे दीक्षा प्रदान करते हैं। बाल-मुनि सहज भाव से संयम पालन करते हुए प्रभु के अन्य शिष्यों के साथ विचरण करने लगते हैं।

□ मैं तिरूँ, म्हारी नाव तिरै

बरसा काल बरसियां पीछे, मुनिवर स्थंडिल जावे ।
पाल बांध पानी में पातरी, जाणी नाव तिरावे जी... ॥

चातुर्मास आ जाता है। श्रावण और भाद्रपद महीनों में वर्षा अधिक होती है। ऐसे ही किसी दिन का प्रसंग है। अंतगडसूत्र में यह प्रसंग नहीं मिलता। भगवतीसूत्र में उल्लेख आता है कि अतिमुक्त अणगार एक बार वर्षा होकर रुक जाने के पश्चात् शौचादि निवृत्ति के लिए बड़े सन्तों के साथ बाहर जंगल में गये।

अन्य मुनिराज निवृत्त होकर आये उससे पूर्व बाल-मुनि अतिमुक्त निवृत्त होकर आ गये थे। अन्य मुनियों के आने तक उन्होंने पथ में बहते पानी को देख मिट्टी की पाल बना पानी को रोक लिया। पानी एकत्रित हो गया तो बाल-मुनि ने उसमें अपनी पात्री छोड़ दी, वैसे ही जैसे गलियों में खेलते बच्चे बहते पानी में कागज की नावें बना-बनाकर छोड़ते हैं। मुनि बालक थे, पर बुद्धि अच्छी थी, अतः जानते थे कि पाल नहीं बनाई तो पात्री ही बहकर चली जायेगी।

मैं तिरूँ, म्हारी नाव तिरै, यों मुख से शब्द उचारे ।
साधां के मन शंका उपनी, किरिया लागे थारे जी... ॥

पानी और पात्री के साथ बाल-मुनि के विचार भी तैरने लगे। चिन्तन में आया—‘पात्री हल्की है, अतः तैर रही है। मुझे भी हल्का बनना है फिर मैं भी तैरना प्रारम्भ कर दूँगा और तिर जाऊँगा इस संसार-सागर से।’ भावों में संसार-समुद्र से तैरने का चिन्तन और मुँह से शब्द निकले—“मैं तिरूँ, म्हारी नाव तिरै। मैं तिरूँ म्हारी नाव तिरै.....।”

इतने में अन्य संतगण भी पधार गये। देखा बाल-मुनि को, सुना उनके मुँह से निकले शब्दों को, ध्यान गया पाल बनाकर रोके गये पानी में तिराई गयी पात्री की ओर। शंकित हुए मन में कि इतनी छोटी उम्र में दीक्षा देने से ऐसा होता है। स्थविर मुनियों ने एयवंता मुनि को जलकाय से स्पर्शित जान बिना कुछ कहे यतना से आगे बढ़ गये। सचित्त स्पर्श होने से मुनियों को किसी प्रकार कहना नहीं कल्पता है। मुनियों को काफी दूर देख एयवंता मुनि ने अपनी पात्री को पानी से निकालकर दौड़ लगायी और पहुँच गये स्थविर मुनियों के पास में।

सभी मुनि जब पुनः अपने चातुर्मासिक स्थल पर आते हैं तो आपस में बाल-मुनि के इसी कृत्य का स्मरण करते हुए उनकी निन्दा करते हैं, मुख्य बात यही कि “उम्र बालक की है, पर जब दीक्षा ली है तो ज्ञान रखना चाहिए।”

बन्धुओं! आज का युग तो बहुत आगे बढ़ गया है। यद्यपि बाल-दीक्षा को कानून और न्याय ने वैधानिकता प्रदान कर दी है, पर आप लोगों के स्वभाव का क्या किया जाये? मारवाड़ी में कहावत है—‘जांका पड्या स्वभाव जासी जीव सू?’ परछिद्र निहारना, अज्ञानी की भाँति वस्तु-स्थिति की तह तक पहुँचे बिना ही निर्दोष-तत्त्वों में दोषारोपण करना फिर निन्दा का रसास्वादन करना, क्योंकि आपका स्वभाव विभाव में बदल चुका है न, अतः आपको ऐसी बातों में रस, आनन्द की अनुभूति मिलती है। ध्यान रखिए, आपकी यही निन्दा, निन्दनीय के अशुभ कर्म-पुद्गलों को क्षीण बना सकती है और आपके अशुभ कर्मदल तो बढ़ेंगे ही।

बन्धुओं! प्रभु तो सर्वज्ञ थे, घट-घट की बात को जानते थे। उन्होंने स्थविरों के मनोगत भावों को, उनकी कानाफूसी में उभरती इस कृत्य की निन्दा को जान लिया और अपने श्रमण-समुदाय से कहा—“देवानुप्रियों ! अतिमुक्त मुनि चरमशरीरी जीव हैं। इनकी निन्दा, अवहेलना मत करो, अपितु हो सके तो इनकी सेवा करो, वैयावृत्य करो, भक्ति करो।”

भगवंत भाखे सब साधां ने, भक्ति करो निश-दीव।

हिलना-निन्दा मती करो कोई, चरमशरीरी जीव जी... ॥

शासनपति का वचन सुणीने, सब ही शीश चढ़ाया।
अयवंता की हुंडी सिकरी, आगम मांहि गाया जी... ॥

शासनपति सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान महावीर के इन वचनों को सुनकर सन्त-वृन्द के मनो में जो शंका थी वह दूर हो गयी। प्रभु ने उन्हें 'चरमशरीरी जीव' बताया। 'चरमशरीरी' का अर्थ है जो अब पुनः सांसारिक शरीर का चोला प्राप्त नहीं करेगा, संसार में उसका यही अन्तिम जन्म है, इस भव की समाप्ति पर जो मुक्ति प्राप्त करेगा। सर्वज्ञ प्रभु ने ऐसा कहा तो निश्चित है अतिमुक्त मुनि की मुक्ति। मुनिवरों ने कहा— "इन मुनि जी की तो हुंडी सिकर गई, साधना इनकी सफल बनेगी, जिस कार्य के लिए दीक्षित बने, उस कार्य को ये सिद्ध करेंगे। स्थविर व अन्य मुनिजन बाल-मुनि की श्रद्धा और भक्ति के साथ उचित सेवा करने लगे।

□ सर्व कर्मबन्धनों से मुक्त बने मुनि अतिमुक्त

उन स्थविर मुनियों के पास रहकर बाल-मुनि ने भी तन्मय भाव से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का विशद् अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक शुद्ध श्रमणाचार का पालन किया। अनेक तपस्याएँ कीं। विशेष-गुणरत्न तप का आराधन किया।

दृढ़ संयम का निरन्तर पालन करते हुए, विभिन्न तपाराधन करते हुए, ज्ञान-ध्यान और स्वाध्याय में पल-प्रतिपल व्यतीत करते हुए आयुष्य के अन्तिम भाग में मुनि अतिमुक्तकुमार ने, जिन्हें आगमों में एयवन्ता मुनि भी कहा गया है, आलोचना-संलेखना-संधारे के साथ विपुलाचल पर्वत पर सर्वकर्म बन्धनों को तोड़ मोक्ष गति को प्राप्त किया।

□ धुर आदि मंकाई, अंत अलक्ष मुनि नाम

'बड़ी साधु वन्दना' के ७१वें पद के अन्तिम दो चरणों (एक पंक्ति) में आया है— "धुर आदि मंकाई, अंत अलक्ष मुनि नाम।" इसका तात्पर्य है कि अंतगडसूत्र के षष्ठ वर्ग के १६ अध्ययनों में अर्जुन माली (अध्ययन ३) तथा अतिमुक्तकुमार (अध्ययन १५) के अतिरिक्त मंकाई गाथापति से लेकर अलक्षकुमार तक १४ और अध्ययन हैं। इन सभी का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

१. मंकाई गाथापति राजगृह के निवासी थे। प्रभु महावीर का धर्मोपदेश सुन वैराग्य को प्राप्त करके ज्येष्ठ पुत्र को गृह-भार सौंप गुणशील नामक उद्यान में प्रभु के पास दीक्षित हुए। सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। गुणरत्न संवत्सर तप किया। सोलह वर्ष दीक्षा-पर्याय पाली। अंत में विपुलगिरि पर्वत पर संथारा कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

२. किंकम गाथापति का वर्णन भी मंकाई गाथापति की तरह है।

३. अर्जुन माली पापी था महान् पर उत्कृष्ट क्षमा से मुक्ति प्राप्त की। (विस्तृत वर्णन आ चुका है।)

४. कश्यप का वर्णन भी मंकाई गाथापति की भाँति समझना चाहिए।

५-६. क्षेमक व धृतिधर—ये दोनों काकन्दी नगर के वासी थे। शेष वर्णन मंकाई आदि गाथापति की ही भाँति है।

७-८. कैलाश तथा हरिचन्दन गाथापति—ये दोनों साकेत निवासी थे। इनकी दीक्षा-पर्याय १२-१२ वर्ष की थी। शेष पूर्व की भाँति।

९. वारत्त गाथापति भी राजगृह नगरी के निवासी थे। दीक्षा-पर्याय १२ वर्ष। शेष पूर्व की तरह।

१०-११. सुदर्शन तथा पूर्णभद्र गाथापति—ये दोनों वाणिज्यग्राम निवासी थे, द्युतिपलाश उद्यान में प्रभु का उपदेश सुना। दीक्षा-पर्याय ५-५ वर्ष। शेष पूर्व की भाँति।

१२-१३. सुमनभद्र तथा सुप्रतिष्ठित गाथापति—ये दोनों श्रावस्ती के निवासी थे। सुमनभद्र ने अनेक वर्षों तक तथा सुप्रतिष्ठित ने २७ वर्ष तक दीक्षा पाली। शेष पूर्व की भाँति।

१४. मेघ गाथापति राजगृही निवासी थे। अनेक वर्षों तक दीक्षा पाली। शेष पूर्व की भाँति।

१५. अतिमुक्तककुमार (विस्तृत वर्णन आ चुका है)।

१६. अलक्ष्य मुनि—ये वाराणसी के राजा थे। महावन में प्रभु का उपदेश सुन वैराग्य को प्राप्त हुए। दीक्षा अंगीकार की (भगवतीसूत्र में वर्णित राजा उदयन की भाँति दीक्षित हुए)। बहुत वर्षों पर्यन्त दीक्षा पाली। शेष पूर्व की भाँति।

□ वर्तमान को वरतें

साधक महापुरुषों के पावन जीवनादर्श आपको और हमें प्रेरणा दे रहे हैं कि “उठो! जागृत बनो! यही समय है आत्म-विकास का, आत्म-शुद्धि का !”

बन्धुओं ! समय जो व्यतीत हो रहा है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम समय को बाँध नहीं सकते, रोक नहीं सकते, लौटा नहीं सकते! स्वेट मार्टिन ने समय की कल्पना एक ऐसी पुरुषाकृति से की है, जिसके आगे ललाट की ओर सिर पर बाल हैं पर जो पीछे से गंजा है। कोई व्यक्ति, कोई साधक यह सोचे कि मैं काल को जाते हुए पकड़ लूँगा तो सम्भव नहीं। आता हुआ समय आपकी-हमारी गिरफ्त में है, अतः उसका जो चाहें, जैसा चाहें उपयोग कर सकते हैं। सदुपयोग करेंगे तो आपका, आत्मा का हित होगा और दुरुपयोग करेंगे तो आत्मा का अहित निश्चित है। वर्तमान को साधें, वर्तमान में जीएँ क्योंकि जो कुछ किया जा सकता है, वर्तमान में ही किया जा सकता है। वर्तमान में जीने वाला ही अमरत्व की साधना कर सकता है, धर्म कर सकता है।

□ धर्माराधना से आत्म-साधना करें

आध्यात्मिक साधना के पर्व-दिन जा रहे हैं। जो नहीं जुड़ रहे हैं धर्म से, साधना से, शुद्धि से उन्हें बाद में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। क्षणभंगुर इस जीवन का क्या भरोसा? काल तो सिरहाने खड़ा मिल सकता है। आत्म-कल्याण करना है तो धर्म से जुड़िए, जीवन को सुधारना है तो व्रत-प्रत्याख्यान कर मर्यादित एवं संयमित बनिए, कर्म-भार को हल्का करना है तो तपस्या का सम्बल लीजिए। करेंगे यदि धर्माराधना, आत्म-साधना, व्रतोपासना तो शाश्वत आनन्द की प्राप्ति अवश्य होगी।

आनंद ही आनंद !



नारी तू नारायणी

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा-दिशो-दधति-भानि-सहस्ररश्मि,
प्राच्येव-दिग्जनयति-स्फुरदंशु जालम् ॥

आत्म-बन्धुओं !

“सभी दिशाओं को प्रकाशित करने वाले सूर्य को जैसे पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है, ठीक वैसे ही संसार में हजारों नारियाँ पुत्र पैदा करती हैं, पर तुम्हारे सदृश पुत्र पैदा करने वाली कोई अन्य माता नहीं है।”

□ एक सिक्के के दो पहलू

महान् चमत्कारी भक्तामर-स्तोत्र के रचयिता मानतुंगाचार्य ने इस युग में धर्म की आदि करने वाले आदि तीर्थकर आदिनाथ ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए उन प्रभु की महनीय मातेश्वरी के लिए कितने सुन्दर और भावपूर्ण शब्दों में मातृपद का गुणगान किया है।

बन्धुओं ! माताएँ तो सभी सन्तानवती कहलाने की अधिकारिणी हैं, पर एक कपूत की माता होती है, एक सपूत की; एक गृहस्थी की माता होती है, एक श्रमण-श्रमणी की; एक रंक की माता होती है, एक राजा की। पद में क्या कहा गया है ? इस विश्व में सैकड़ों-हजारों माताएँ पुत्रों को जन्म देती हैं, पर हे माता ! तुम्हारे समान तीर्थकर पुत्र को जन्म देने वाली इस समय कोई अन्य माता नहीं है।

तीर्थकर की माता होने से वे कितनी महत्त्वशालिनी हैं, कितनी भाग्यशालिनी हैं। हर स्त्री का, हर माता का भाग्य ऐसा कहाँ होता है ? एक माता नारायणी, एक माता वीर-प्रसूता

और एक माता वह जो बच्चों को सुसंस्कार दे। यह तो सिक्के का एक पहलू है, अब आइए सिक्के के दूसरे पहलू पर। नारी की महानता की जब बात करते हैं और उसके नारायणी होने पर जब उसकी गौरव-गाथा का बखान करते हैं तब नारी के उस रूप की ओर भी अनायास ध्यान चला जाता है, जिसके लिए कहा जाता है—नारी नरक की बारी। वस्तुतः नारी में यदि नारीत्व है, नारी के योग्य गुण हैं, वह शीलवान है, उसमें नैतिकता और कोमलता रूप वात्सल्य भाव है तो वह अपने जीवन को आदर्श जीवन की भाँति जीकर अपने आस-पास को भी आदर्श बना देती है। अन्यथा इन गुणों के अभाव में और विपरीत गुण अर्थात् अवगुणों के सद्भाव में वही नारी अपने को, अपने परिवार को, मानव-समाज को और राष्ट्र तक को रसातल में पहुँचा सकती है।

□ नारी : आगमिक व्याख्या

नामकर्म के उदय से जीव को लिंग-चिह्न की प्राप्ति होती है तथा मोहकर्म के उदय से जीव को कामभोग में रमण करने की अभिलाषा। स्त्रीवेद का बंध जीव को भावों की वक्रता के कारण से होता है। जीव के ५६३ भेदों में तीन सौ चालीस भेद नारी के हैं—तिर्यञ्च में दस, मनुष्यों में दो सौ दो और देवों में एक सौ अट्ठाईस। स्त्रीवेद कर्म का बंध जघन्य ३/१४ कोड़ाकोड़ी सागरोपम में पल के असंख्यात भाग कम और उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम हैं। धीरे-धीरे जागृत होने वाली छाने की अग्नि की भाँति स्त्रीवेद उदित होता है, पर देर तक बना रहता है। इसका अबाधाकाल १,५०० वर्ष है। उत्कृष्ट १,८०० वर्ष है। चारों गति के जीवों को स्त्रीवेद का बंध होता है। स्त्रीवेद का बंध तभी होता है जब जीव मिथ्यात्व एवं सास्वादान गुणस्थान में होता है।

□ महनीय मातृत्व रूप

स्त्री का सबसे सशक्त एवं गौरवशाली रूप उसका मातृरूप है। वह कठिन प्रसव-वेदना सहन करती है, जनन की महाभयंकर वेदना भी धैर्यभावपूर्वक सहती है, जन्म के पश्चात् अत्यन्त वात्सल्य भाव से सन्तानों का पालन-पोषण करती है, अपनी सुरक्षा का दायित्व स्वयं न सँभाल ले तब तक संरक्षण प्रदान करती है और इन सब कर्तव्यों के पालन में कितने ही कष्ट सहन करने पड़ें, बिना एक भी सिकन लाये वह सहती है। यही कारण है कि उसके इस मातृत्व रूप को, जिसका इस समाज और सृष्टि की संरचना में सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण योगदान है, वन्दनीय-पूजनीय-श्रद्धेय माना गया है। महाकवि जयशंकर प्रसाद के शब्दों में—

“नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पद तल में।”

माता के अतिरिक्त उसका एक रूप भगिनी अर्थात् बहन का है और एक अन्य रूप पुरुष-सहचरी अर्थात् पत्नी का है। अपनी रूप-लावण्य एवं सुन्दरता के कारण वह पत्नी के रूप में पुरुष के लिए सहयोगी और सहभोगी है।

□ नारी दलदल भी

उत्तराध्ययनसूत्र के दूसरे अध्ययन की सोलहवीं गाथा में उल्लेख आता है—

“संगो एसमणुस्साणं जाओ लोगम्म इत्थिओ।”

अर्थात् इस संसार में स्त्रियाँ आसक्ति का कारण हैं।

आवश्यकसूत्र के चतुर्थ ब्रह्मचर्य नामक व्रत-महाव्रत में काम-राग, स्नेह-राग, दृष्टि-राग, देव-देवी सम्बन्धी कामभोग तथा मनुष्य-त्रिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोग का निषेध किया गया है।

इसी सूत्र के इसी अध्ययन की अगली गाथा में उल्लेख आता है—‘पंक भूया इत्थियो’। अर्थात् स्त्री का संसर्ग दलदल में फँसने के समान है।

उत्तराध्ययन के ही आठवें अध्ययन की १८वीं गाथा कहती है—

नो रक्खीसु गिज्जेज्जा, गंडवच्छासुऽणोगचित्तासु।

जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा व दासेहिं॥

जो पुरुष को लुभाकर दास की भाँति नचाती हैं, ऐसी स्त्रियों में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध, अध्याय ३, चतुर्थ उद्देशक में वर्णन आया है—

थीमिलोए पव्वहित, ते भो वदंति एयाइं आयतणाइं।

से दुक्खाए मोहाए, माराए, णरगाए नरगतिरिक्खाए॥

यह संसार स्त्रियों के द्वारा पीड़ित और पराजित है। स्त्रियाँ आयतन (भोग के योग्य) हैं। अतः ये जीवन में मोहित कर दुःख देती हैं और मरने पर इनमें आसक्ति के कारण नरक व तिर्यञ्च में जाना पड़ता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्त्री के साथ संसर्ग को अब्रह्म कहा है और अब्रह्म को अधर्म। आगमों में वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार नाली में भरी हुई रुई में कोई तपी हुई सलाई डालकर रुई को जला देता है, उसी प्रकार स्त्री-संसर्ग करने पर एक बार के मैथुन-सेवन में नौ लाख सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा हो सकती है।

□ नारी-सौन्दर्य

आगमों में प्रसंग आने पर नारी के अंगोपांगों का जो वर्णन है, वह दृष्टव्य है। उववाईसूत्र में रानी धारिणी का, प्रश्नव्याकरणसूत्र में उत्तरकुरु युगलिनी का तथा जीवाभिगम में एकोरुव द्वीप की युगलिनी का स्त्रियोचित अनुपम वर्णन करते हुए उनके लावण्य, उनके रूप-यौवन, उनकी हास-विलास चेष्टाओं तथा नारीजनोचित नयन-संकेत-क्रमों का वर्णन उपलब्ध है।

बन्धुओं! चाहे नारी साक्षात् सामने हो, चाहे उसके अंगोपांगों का कामोत्तेजक वर्णन हो—व्यक्ति के हाथ की बात है कि वह उन्हें देखकर, पाकर या पढ़कर अपने भावों को उद्वेलित होने दे या न होने दे। अनेक वर्णन ऐसे हैं जहाँ नारी का जो रूप रखा गया है, उसे पढ़कर स्वतः नारी को नरक की बारी कहने के लिए विवश होना पड़ता है और अनेक गरिमामय उज्ज्वल वर्णन ऐसे भी हैं जिन्हें पढ़कर स्वतः हम कह उठते हैं—नारी तू नारायणी !

□ रानी सूर्यकान्ता : किया नरक से नाता

रायपसेणीयसूत्र में राजा प्रदेशी का प्रसंग आता है। पूर्ण रूप से नास्तिक, क्रूर, हत्यारा पर संयोग मिलता है, पार्श्व प्रभु परम्परा के प्रमुख सन्त श्रमण केशी मुनि के दर्शन एवं जिनवाणी श्रवण का तो बारह व्रतधारी श्रावक बन जाता है। श्रावक-धर्म अंगीकार किया तो सब कुछ मर्यादा के भीतर, संयमित मन, नियन्त्रित इन्द्रियाँ। व्रतों को स्वीकार कर लेने से उसकी आत्मा पर तो आध्यात्मिकता का रंग चढ़ चुका था।

सूर्यकान्ता राजा प्रदेशी की पटरानी थी। स्वभाव से वह भी नास्तिक, पति की भाँति विलासप्रिय, अधार्मिक तथा क्रूर स्वभाव की थी। दोनों के एक पुत्र था, जिसका नाम सूर्यकान्त रखा गया।

केशीकुमार श्रमण के उपदेशों से राजा प्रदेशी का हृदय-परिवर्तन हुआ तो जीवन ही बदल गया और जीवन बदला तो जगत् के प्रति उसकी दृष्टि, उसका दृष्टिकोण ही बदल गया। वह व्रतों की मर्यादा में जीवन व्यतीत करते हुए वैराग्य और समता की साधना करने लगा, नियमित सामायिक, उपवास, पौषधादि करने लगा।

राजा की सांसारिक भोग विषयों के प्रति ऐसी विरक्ति और उदासीनता देख रानी चिन्तित हुई। उसे तो भोग-विलास चाहिए, काम-पिपासा शान्त करने वाला चाहिए, उसके साथ हास्य-रति, आमोद-प्रमोद करने वाला चाहिए। उसने राजा को आकृष्ट करने और कामभोगों के पथ पर पुनः लाने के अनेक प्रयत्न किए, पर अपने सभी प्रयत्नों में वह असफल रही।

अब उसके अन्तर् में आवेश ने प्रवेश कर लिया। अपने शरीर-सुख की पूर्ति न होते देख उसने गुप्त रूप से षड्यन्त्र रचकर राजा को अपने ही पुत्र सूर्यकान्त द्वारा मरवाने का प्रयत्न किया। पुत्र ने रानी की शस्त्र, अग्नि, मन्त्र, विष आदि के प्रयोग द्वारा पिता के प्राण-हरण की सभी योजना के पालन से इनकार कर दिया। तब एक दिन बेले के पारणे में राजा प्रदेशी को रानी सूर्यकान्ता ने योजना बनाकर अपने महलों में बुलाया और दुर्भावनापूर्वक स्वयं अपने हाथों से विष-मिश्रित भोजन करा दिया। विष के प्रभाव से राजा प्रदेशी के शरीर में तीव्र दाह उत्पन्न हुआ, असह्य वेदना फूट पड़ी, मरणान्तिक कष्ट होने लगा। राजा जान गया कि मेरी हृदयवल्लभा कहलाने वाली रानी ने मुझे भोजन में विष दिया है फिर भी उसने अपने मन में राग-द्वेष के भावों को नहीं आने दिया। समभावों में रमण करते हुए पूर्ण समाधि के साथ देह का त्याग किया। काल करके प्रथम कल्प में सूर्याभ नामक विमान में अतिद्युति वाला सूर्याभदेव बना।

□ गाथापत्नी रेवती, मद्य-माँस सेवती : क्रूर बनी मति, अंत बिगड़ी गति

उपासकदशासूत्र में एक नारी पात्र का वर्णन आता है, नाम उसका है—रेवती। दृढधर्मी श्रावक महाशतक की प्रमुख पत्नी थी वह, उसके अतिरिक्त बारह और पत्नियाँ भी थीं

उसके। रेवती सुन्दर और विलासप्रिय थी। दहेज में भी वह आठ करोड़ सोनैया तथा आठ गोब्रज लायी थी, जबकि शेष सभी पत्नियाँ एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ तथा एक-एक गोब्रज लायी थीं।

□ सारी सम्पत्ति मेरी हो जायेगी

एक बार मध्य-रात्रि को रेवती ने विचार किया—‘हम तेरह पत्नियाँ हैं, अतः एक पति का प्रेम और भोग-विलास-क्रीड़ाएँ तेरह में बँट जाती हैं। यदि मेरी ये बारह सौतेँ मर जायें तो मैं स्वच्छंद बनकर अकेली अपने पति के साथ भोग-विलास कर सकूँगी। इसके साथ ही इन सभी की सम्पत्ति पर भी मेरा अधिकार हो जायेगा।’

नीतिकार कहते हैं कि बुरे विचार जल्दी ही क्रियान्वित हो जाते हैं। रेवती ने भी अपने क्रूर एवं भयंकर संकल्प की क्रियान्विति के लिए योजना बनायी और अत्यन्त गोपनीयता के साथ छह सपत्नियों को विष-मिश्रित आहार देकर तथा छह को छलपूर्वक शस्त्र प्रयोग से मौत के घाट उतार दिया। महाशतक को इस बात की भनक भी न लगने दी।

रेवती मद्य-माँस का सेवन करती थी। माँस खाने की वह अत्यन्त लोलुप थी। अपने पति से छुपाकर वह अनेक बार तला-भुना माँस खाती और विभिन्न स्वाद वाले मद्यों का पान करती थी। मद्य पीने व माँस खाने के कारण ही वह अत्यन्त कामुक तथा अत्यन्त क्रूर बन गयी थी।

□ राजगृह में अमारी घोषणा

जिस नगर में महाशतक श्रावक रहता था उसका नाम था राजगृह और वहाँ का राजा था श्रेणिक। प्रभु महावीर के अनन्य भक्त महाराज श्रेणिक ने एक बार अपने राज्य में माँसाहार-निषेध की घोषणा करवाई। दो-तीन दिन व्यतीत हुए होंगे कि माँस-लोलुप रेवती माँस के लिए बेचैन हो उठी। अपने एक विश्वस्त नौकर को उसने तैयार किया। वह नौकर रेवती के गोब्रज से प्रतिदिन एक-एक बछड़े मारकर उसका माँस भूनता और रेवती को खिलाता। सारा कार्य इतनी चतुरता से होता कि महाशतक तक कुछ भी न जान पाता।

□ महाशतक समझाने का प्रयास किया

बन्धुओं ! छुपाने से आखिर ऐसी बातें कब तक छुपतीं। महाशतक को भनक लगी तो उसने मामले की गुपचुप छानबीन की। अब उसके समक्ष रेवती का त्रिया-चरित्र सामने

आया। उसे अपनी पत्नी से घृणा हो गयी। रेवती को महाशतक ने बहुत समझाया पर वह नहीं मानी।

□ महाशतक ने निवृत्ति ले ली

अब महाशतक के मन में विरक्ति के बीज का वपन हुआ। ज्येष्ठ पुत्र को गृहस्थी का भार सौंपकर वह अपनी पौषधशाला में विशेष निवृत्ति ले धर्मकार्यों में समय व्यतीत करने लगा। एक दिन जब महाशतक पौषधोपवास में धर्म-चिन्तन कर रहे थे तब रेवती मद्य-माँस का खूब अच्छी तरह सेवन कर वहाँ चली गयी। उसने कामुक हाव-भाव से अंगों का कामुक प्रदर्शन करके, कामुक शब्दों का प्रयोग करके महाशतक को लुभाना चाहा, उन्हें कामभोग का निमन्त्रण दिया। अनेक प्रयत्न किए पर वह अपने प्रयासों में विफल रही। महाशतक अपने व्रतों में स्थिर, अपनी धर्मक्रियाओं में दृढ़ रहे। कालान्तर में रेवती मरकर पहली नरक रत्नप्रभा के लोलुपच्युत नरकावास में उत्पन्न हुई।

□ महारानी अभया-दासी कपिला, इनको कैसे कहें महिला ?

सूर्यकान्ता एवं रेवती की ही तरह अनेक नारियों के उदाहरण शास्त्रों व अन्य ग्रन्थों में मिल जायेंगे। महारानी अभया और उसकी दासी कपिला ने महाशीलवंत पुरुष सुदर्शन को अपनी कामुकता के जाल में फँसाने के प्रयत्न किए और काम-वासना शान्त करनी चाही। सुदर्शन नहीं माना तो उस पर चरित्र-हनन का कलंक लगाकर शूली पर चढ़वा दिया। सुदर्शन के शील के प्रभाव तथा महामन्त्र के जाप से शूली भी सिंहासन में परिवर्तित हुई तब महारानी अभया के दुष्टाचरण का भेद खुला।

ऐसे अनेक तिमिराच्छादित पृष्ठ हैं नारी जगत् के, जिनमें उसका कलुषित, कामपिपासु, क्रूर स्वभाव का स्त्री-चरित्र उसके अंधकारयुक्त पक्ष को प्रकट करता है। इन सबसे स्पष्ट लगता है कि नारी नरक की बारी है।

□ दूसरा पहलू : नारी तू नारायणी

जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा था, प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं। नारी को जहाँ एक ओर 'बहुमायाओ इत्थिया' कहकर उन्हें मायाचारिणी, धूर्त एवं राक्षसी वृत्ति का बताया है और "द्वारं किमेकं नरकस्य—नारी !" कहकर स्पष्ट घोषित किया है कि वह नरक का

कारण है, वही भगवान महावीर की सहानुभूति में वह “देव गुरु जणणी” के रूप में परम वन्दनीया भी है और ऋग्वेद के ऋषियों के अनुसार, “सुमंगलीरियं वधू” अर्थात् कल्याण करने वाली गृहवधू भी है। उपनिषदों में भी कहा है—“मातृदेवो भव” अर्थात् इस मातृपद की देवतुल्य पूजा अर्चना करो। “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता”—जहाँ नारियों को श्रद्धा और पूजा की दृष्टि से देखा जाता है, आदर दिया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं, अर्थात् वहाँ के पुरुष देवतुल्य होते हैं।

मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता मनुस्मृति में मनु लिखते हैं—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

दस उपाध्यायों में एक आचार्य महान् है, सौ आचार्यों में एक पिता और हजार पिताओं से एक माता का गौरव अधिक है।

ये सारे कथन नारी के उज्ज्वल पक्ष को प्रकट करते हैं। बन्धुओं ! वास्तविक तथ्य भी यही है कि नारी अपने अनेक रूपों में मानव-समाज के लिए हितकारिणी, जीवनपथ-दर्शनी, जीवन-निर्मात्री, आत्म-कल्याणी और स्व-पर सभी के लिए मंगलकारिणी रही है, आज भी और युग-युगों तक रहेगी।

□ विद्यावती स्त्री सर्वश्रेष्ठ

श्रमणियों और श्राविकाओं के रूप में अनेक सन्नारियों के इस उज्ज्वल पक्ष को आगमकारों ने हमारे सामने रखा है। उपासकदशासूत्र में श्रावक शकडाल की पत्नी अग्निमित्रा को “पम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया, धम्मनुरागरत्ता, सम सुह दुक्ख सहाइया” जैसे गुणों से विभूषित बताया है तो उत्तराध्ययनसूत्र के बाईसवें अध्ययन में राजीमती को “सुशीला, चारुपेहिनी, सवलक्खण सम्पन्ना, विज्जुसोया, मणिप्पभा” जैसे विशेषणों से अलंकृत किया है।

अपनी दो पुत्रियों ब्राह्मी व सुन्दरी को गणित और लिपि ज्ञान का अभ्यास कराने से पूर्व आदि तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव ने कहा था—

विद्यावान् पुरुषोलोके सम्मतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम् ॥

अर्थात् इस लोक में विद्यावान् पुरुष पण्डितों के द्वारा सम्मानित किया जाता है और विद्यावती स्त्री सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करती है।

□ सांसारिक सन्नारी के छह गुण

नीतिकारों ने नारी के गुणों के विषय में लिखा है—

कार्येषु मन्त्री, करणेषु दासी, भोज्येषु माता, शयनेषु रंभा ।
धर्मानुकूला, क्षमयाधरित्री, भार्या च षड्गुणवती सुदुर्लभाः ॥

तात्पर्य यह है कि पुरुषों के बाहरी कार्यों में वह किसी मन्त्री की तरह उचित व सही सलाह देने वाली, अपने घर के घरेलू कार्यों को किसी सेविका की भाँति निपटाने वाली, भोजन कराते समय मातृतुल्या—अन्नपूर्णा का रूप लिए खाना खिलाने वाली, शय्यासीन होते समय रम्भा के समान सुख प्रदान करने वाली, धर्माचरण में सर्वदा अनुकूल तथा क्षमागुण में धरित्रीधरा की भाँति गुणवती होती है।

□ दोनों लोक सुधारने वाली है

नारी की इन्हीं महानताओं के कारण उसे अनेक स्थानों पर दोनों घरों (पीहर व ससुराल पक्ष) को उजालने वाली तथा उसके गरिमामय आध्यात्मिक रूप के कारण उसे स्वयं का तथा दूसरों का भी यह लोक व परलोक, दोनों लोकों को सुधारने वाली बताया है।

□ नारी का धर्म-पक्ष

इन सन्नारियों में कितनी ही ऐसी भव्यात्माएँ थीं, जिनकी धर्म में अपूर्व निष्ठा थी। धर्मनिष्ठ पुरुषों से हर युग में धर्मशीला नारियों की संख्या अधिक मिलेगी। इस काल के चौबीसों तीर्थकरों के शासनकाल पर दृष्टि डालिए—श्रमणों व श्रावकों से श्रमणी-वर्ग व श्राविकाओं की संख्या दुगुनी या इससे अधिक मिलेगी। अनेक स्थलों पर ऐसे नारी-वर्ग ने धर्म से डिगते, शील से पतित होते, पाप-पंक में फँसते पुरुष-वर्ग को नवीन प्रेरणा दी है, नवस्फूर्ति देकर उनमें नई चेतना जगाई है, उन्हें पुनः धर्म में, शील में, संयम में स्थिर बनाया है।

□ तपोधन बाहुबली ने सुना ब्राह्मी-सुन्दरी का उद्बोधन और पाया केवलज्ञान

याद कीजिए ब्राह्मी और सुन्दरी दो बहनों को जिन्होंने श्रमणी-धर्म अंगीकार करने के बाद श्रमण-धर्म स्वीकार कर घोर जंगल में उग्र साधना करने वाले, एक सुनसान स्थान पर अचल, अडिग, अडोल अवस्था में ध्यानस्थ बने अपने सांसारिक सम्बन्ध में भ्राता लगने वाले मुनि बाहुबलि को उद्बोधन देकर उनके मन के उस अंधकार को मिटाया, जिसके कारण उनका केवल्य बाधित बन गया था। उन सतियों के उद्बोधन गीत की ये पंक्तियाँ लोक-प्रचलित हैं—

वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो.....
गज चढ़ियां मुगति नहीं होसी रे
नहीं पासो केवलज्ञानो रे.....

□ मल्ली भगवती से पाया बोध, छह-छह राजाओं ने छोड़ा भोग

राजकुमारी मल्ली ने दीक्षा लेने और तीर्थकर बनने से पूर्व छह-छह राजाओं को इस प्रकार प्रतिबोधित किया कि वासनाओं और भोगेच्छाओं के दास बने रूप-सौन्दर्य और गुणशील में अद्वितीय विदेह-राजकुमारी मल्ली को पाने की लालसा में हिंसा व रक्तपात पर उतारू, युद्ध के लिए सन्नद्ध वे छहों राजकुमार संसार-विरक्त बन राज्य-वैभव त्याग राजकुमारी मल्ली के साथ संयम-पथ पर अग्रसर हो गये।

□ सुन राजीमती के वचन अमोल : रथनेमि पुनः बने अडोल

प्रभु अरिहन्त अरिष्टनेमि के लघु भ्राता का प्रसंग आपने सुना ही है। तोरण से अरिष्टनेमि वापस फिर गये तो रथनेमि ने उस अनुपम सुन्दरी के मदमाते यौवन को अपने अंक में भरने की कामना से, उसे अंकशायिनी बनाने की इच्छा से अपनी पत्नी बनाना चाहा। उसके विचारों में काम-भाव और वचनों में दुष्टता का पुट देख राजीमती ने पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए एक अद्भुत उपाय किया। दूसरी बार रथनेमि के आने के पूर्व ही राजीमती ने भरपेट दूध पिया। जैसे ही रथनेमि उसके पास आया उसने वमन कारक मदनफल सूँघा, स्वर्णपात्र मँगवाकर उसमें वमन कर दिया और वमित दूध का वह स्वर्णपात्र रथनेमि के समक्ष ले जाकर बोली—“देवर जी! लो, यह दूध पी लो।”

रूपरस का लोभी रथनेमि चकित रह गया। क्रोध में आकर बोला—“मैं कुत्ता नहीं हूँ, जो तुम मुझे यह उच्छिष्ट दुग्ध सेवन करने को कह रही हो।”

राजीमती बोली—“समझो देवर जी, समझो! मैं भी तो तुम्हारे बड़े भैया द्वारा परित्यक्त, वमित हूँ।”

इन शब्दों को सुनकर रथनेमि का हृदय एकदम बदल गया। उसके अन्तर् का भोग एवं वासना का उफान शान्त हो गया। कुछ दिनों बाद वह संसार-विरक्त बन श्रमण-धर्म में दीक्षित हो संयम-पथ पर अग्रसर हो गया।

□ रथनेमि पुनः विकल बना

राजीमती भी दीक्षित बन श्रमणी हो गयीं। साध्वी राजीमती एक बार प्रभु-दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थीं कि काली घटायें छा गईं, बूँदें बरसने लगीं, वर्षा तेज हो गई। राजीमती व उनके साथ की साध्वियाँ किसी आश्रय-स्थल के न होने से भीग गईं। उन्होंने आस-पास की गुफाओं में शरण ली। राजीमती भी एक गुफा में प्रविष्ट हुईं। घोर अन्धकार में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। निरापद स्थान समझ साध्वी राजीमती ने अपने गीले वस्त्र उतारे और सूखने के लिए फैला दिये।

श्रमण रथनेमि उसी गुफा में पहले से ध्यान-मग्न खड़े थे। कुछ हलचल से उनकी आँखें खुलीं तभी बिजली चमकी, एक क्षण के तीव्र प्रकाश में उन्हें कोई व्यक्ति दिखाई दिया। भयभीत एवं लज्जित हो, वे अपनी दोनों बाहों से नग्न वक्षस्थल को आवृत्त करते हुए तुरन्त नीचे बैठ गयीं।

रथनेमि ने उन्हें पहचान लिया। उनके उस अनावृत्त सौन्दर्य ने उनके हृदय में हलचल मचा दी। काम-वासना का कीड़ा अन्तर् में कुलबुला उठा। बोले—“डरो नहीं, सुन्दरी! मैं रथनेमि हूँ। आज पुनः अवसर है। निर्जन-प्रदेश, बरसते मेघ, तुम और हम। आओ! अपनी इस सुन्दर देहयष्टि को भोग के द्वारा सफल करो। एक बार भुक्त-भोगी बन हम पुनः संयम में स्थिर हो जायेंगे।”

□ गन्धन कुल अगन्धन कुल रहस्य

साध्वी राजीमती ने तब तक अन्धकार के आवरण में हाथों से टटोलते हुए अपने वस्त्र लिये और पुनः शरीर पर धारण कर लिये। उनका भय कुछ कम हुआ। मुनि रथनेमि को

इस तरह विचलित देख वे अत्यन्त खेदित हुईं। उन्हें गन्धन कुल के सर्प और अगन्धन कुल के सर्प का दृष्टान्त देकर याद दिलाया कि वे किस उत्तम कुल के हैं? और पूछा—“इस तरह गन्धन-जाति के सर्प की भाँति वमित को पीना क्या उचित है?”

साध्वी राजीमती के प्रेरणा भरे इन सुभाषित वचनों ने रथनेमि की मोह-ग्रसित आत्मा को, वासना के पंक में धँसी आत्मा को पुनः जागृत किया, उत्थित किया। वे पुनः अपने संयममय श्रमण-जीवन में सुस्थित हो गये।

□ धन रानी कमलावती नार, इषुकार राजा को दिया तार

पुरोहित-परिवार के सभी सदस्यों के दीक्षा लेने पर इषुकार राजा ने जब राज्य-नियमानुसार उसकी समस्त सम्पत्ति राजकोष में लाने का आदेश दिया तो रानी कमलावती की आत्मा जागृत बन गई। विचार आया कि एक ओर वह परिवार सर्वस्व त्यागकर आत्म-कल्याण के लिए प्रस्थित हुआ और दूसरी ओर राजा उनकी परित्यक्त सम्पत्ति पर नजरें गड़ाए, गिद्ध की भाँति ललचा रहे हैं। उसने राजा को धन, ऐश्वर्य, राज्य, शरीर की नश्वरता की अनेक बातें कहकर उनकी आत्मा को जागृत बनाया। ये दोनों मुनि-धर्म में दीक्षित बन उत्कृष्ट संयम व तपाराधन द्वारा मुक्ति को प्राप्त हुए।

□ पोट्टिला, भद्रा, धन्ना, बहुला, अग्निमित्रा भी उसी पथ पर

इसी तरह पोट्टिला ने मरण-धर्म प्राप्त कर देव-भव पाने पर पूर्वभव के पति तेतलिपुत्र को जागृत किया। भगवान महावीर के विशिष्ट दस श्रावकों, श्रमणोपासकों में से चूलनीपिता को उनकी माता भद्रा ने, सुरादेव को उनकी सहधर्मिणी धन्ना ने, चुल्लशतक को उनकी पत्नी बहुला ने और शकडाल पुत्र को उनकी भार्या अग्निमित्रा ने उद्बोधन देकर निरतिचार व्रत-पालन में दृढ़ संकल्पित बनाया।

ज्ञाताधर्मकथांग व उपासकदशांगसूत्र में इन सभी का विस्तृत वर्णन आता है।

□ ये भी हैं सन्नारियाँ

ब्राह्मी आदि सोलह सतियों ने विपत्ति पड़ने पर भी शीलधर्म का अडिग पालन कर अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाये रखा।

चन्दनबाला, जिनका पूर्व-नाम वसुमती था, उनकी माता धारिणी ने जब देखा कि रथ का रथी उनके सतीत्व के लिए खतरा बन रहा है तो अपनी जिह्वा खींचकर मृत्यु

का आलिंगन कर लिया और शील की रक्षा कर शीलवती नारियों के लिए आदर्श बन गयीं।

रेवती गाथापत्नी ने निर्दोष भाव से निर्दोष बिजौरापाक का दान उस समय दिया जब भगवान को 'लोहीठाण' रोग होने पर उसकी आवश्यकता थी। भगवतीसूत्र में वर्णन है **देवकी रानी** द्वारा छह मुनियों को सिंह-केशरी-मोदक बहराने और **एयवंता कुमार की माता श्रीदेवी** द्वारा गणधर गौतम स्वामी को अशनादिक चारों आहार बहराने का वर्णन भी आपने सुना। बन्धुओं ! ये भी तो नारी का उज्ज्वल पक्ष है कि वह कंचन-कामिनी और आरम्भ-परिग्रह के पूर्ण त्यागी श्रमणों को उत्कृष्ट भाव से आहारादि द्वारा सेवा करे।

श्राविका जयंति का भी आगमोक्त उदाहरण हमारे समक्ष है, जिसने प्रभु महावीर से अद्भुत ज्ञान-चर्चा की और धर्म का मर्म जानकर दीक्षा ग्रहण की।

कोशा गणिका एक रूप जीवी नारी थी। स्थूलभद्र के युवावस्था में कदम रखने पर जिसने उसे काम-क्रीड़ा के पाठ सिखाए, अपने प्रेम-पाश में बाँधा, ऐसा जकड़ा कि माता की मृत्यु का सन्देश मिलने पर भी वह घर नहीं गया। पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो उसके साथ राज्य के मन्त्री-पद का आमन्त्रण भी। पर हृदय-परिवर्तन में भला कितनी देर लगती है। जो पद पिता की मृत्यु का कारण बना उसे अस्वीकार करने के साथ ही विरक्त बन दीक्षा अंगीकार कर ली।

□ शेष मुनियों ने धन्य-धन्य कहा

दीक्षा लेने के पश्चात् पहला चातुर्मास किया कोशा गणिका की रंगशाला में। इधर कोशा का आकर्षण, उसका हाव-भाव, उसका हास-विलास, उसकी नृत्य-भंगिमाएँ और उधर आज से पूर्व कोशा के प्रेमपाश का पंछी पर अब महाव्रती मुनि स्थूलभद्र, संयम में दृढ़ता से सुस्थित। कोशा हार गई और मुनि अविचलित रहे। कोशा ने श्राविका के व्रतों को धारण किया। चातुर्मास समाप्त हुआ। आये गुरु के पास। गुरु ने शेष मुनियों को धन्य कहा पर इन्हें धन्य, धन्य कहा।

□ वैश्या हूँ किंमत चुकानी होगी

दूसरे शिष्य चकित। क्या किया इस मुनि ने ऐसा ? अगले चातुर्मास में एक अन्य मुनि ने कोशा के यहाँ चातुर्मास करना चाहा। मना किया गुरु ने पर वह चल दिया कोशा के यहाँ।

पहुँचा वहाँ, आज्ञा लेकर रंगशाला में चातुर्मासार्थ स्थित हुआ, पर एक ही दिन में चारों खाने चित्त। कोशा के नृत्य से, पैरों में बँधी पायल की पहली ही झणकार से मन विचलित। कामभोग के लिए मुनि ने कोशा से निवेदन किया। कोशा ने कहा—“वेश्या हूँ। कीमत चुकानी होगी।”

□ रत्न कंबल को कूड़े के ढेर में फेंका

कीमत चुकाने के लिए चातुर्मास में पाद-विहार कर बड़े-बड़े कष्ट उठाकर नेपाल गये। वहाँ के महाराजा से एक रत्नकम्बल दान में पाया। वापस आये कोशा के घर। दिया उसे वह रत्नकम्बल। कोशा गणिका ने मुनि के समक्ष ही उस रत्नकम्बल से अपने गीले पाँव पौछे और उसे फेंक दिया बाहर, कूड़े की ढेरी पर।

मुनि क्रोधित हुए, बोले—“अरे मूर्खा! कितनी कठिनाइयाँ उठाकर मैंने वह रत्नकम्बल पाया था और तुमने इतने बहुमूल्य उस रत्नकम्बल को कचरे के ढेर पर फेंक दिया।”

□ मूर्ख कौन?

गणिका हँसी और बोली—“रत्नकम्बल तो फिर प्राप्त किया जा सकता है, पर आपके पास जो चरित्र का, संयम का अमूल्य रत्न है, उसका क्या होगा? आप तो रत्नत्रयी के धारक हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पालक हैं। आप उन्हें व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। सोचिए इन तीन अनमोल रत्नों को खोने वाले आप मूर्ख हैं या रत्नकम्बल फेंकने वाली मैं मूर्खा हूँ।”

शब्दों ने चाबुक का काम किया। चेतना पुनः जागृत हुई मुनि जी की। गणिका से क्षमा माँग वे गुरुवर के पास आये, प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि की, संयम में दृढ़ बने।

बन्धुओं! धन्धे से गणिका थी पर संयोग जब मिला मुनि स्थूलभद्र का तो धूल से हीरा बन गयी, कीचड़ से कमल बन गयी, पतिता से स्त्रीरत्न बन श्राविका बन गयी। पथभ्रष्ट, कामभ्रष्ट, संयमभ्रष्ट मुनि को पुनः संयम में सुस्थिर बनाने में सफलता प्राप्त कर अपना ‘नारी’ जन्म सफल बना लिया।

□ आज का प्रसंग

आगमों में ऐसी सहस्रों नारियों का उल्लेख आया है। अन्तगडसूत्र के सातवें तथा आठवें वर्ग में भी कुछ ऐसे ही भव्य स्त्रीरत्नों का वर्णन है जिन्होंने भोग का पथ त्यागकर योग

का पथ ग्रहण किया और दृढ़ संयम के पालन एवं विधि दुष्कर तपाराधन से घनघनाती कर्मों का नाश किया। आयुष्य के अन्त में समाधिमरण द्वारा जिन्होंने मोक्ष को प्राप्त किया।

याद करिए उन रानियों, राजकुमारियों को जो महलों में पर्ली, वैभव और सुख में झूलों पर सारे सुखों को ठोकर मारकर जिन्होंने प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की। अपने साधनामाय जीवन में जिन्होंने भाँति-भाँति की उत्कृष्ट तपस्याएँ कर अपने शरीर को हड्डियों का ढाँचा बना डाला। तपस्या से कर्मनिर्जरा कर, जीवन के चरम और परम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। अपनी कालजयी रचना में युग-प्रधान एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन तपस्वी सती-साध्वियों के लिए अपने भाव-सुमन अर्पित करते हुए कहा है—

श्रेणिक नी राणी, काली आदि दश जाण ।
 दशे पुत्र-वियोगे, सांभली वीर नी वाण ॥ ७४ ॥
 चंदनबाला पे, संयम लेई हुई जाण ।
 तप कर देह झौंसी, पहुंची छै निर्वाण ॥ ७५ ॥
 नंदादिक तेरह, श्रेणिक नृप नी नार ।
 सगली चन्दनबाला पै, लीधो संजम भार ॥ ७६ ॥
 एक मास संथारे, पहुंची मुक्ति मंझार ।
 ए नेउ जणा नो, अंतगड मा अधिकार ॥ ७७ ॥

□ महारानी नन्दा आदि श्रेणिक की तेरह रानियों द्वारा संयम पालन कर मोक्ष-प्राप्ति

अन्तगडसूत्र के अन्तिम दो अर्थात् सातवें व आठवें वर्ग में इन रानियों का वर्णन आया है। ये सभी महाराज श्रेणिक की रानियाँ थीं। इनमें से सातवें वर्ग में नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दश्रेणिका, मरुता, सुमरुता, महामरुता, मरुद्देवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका तथा भूतदत्ता—इन तेरह रानियों ने राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में प्रभु महावीर का उपदेश सुनकर वैराग्य को प्राप्त किया। महाराज श्रेणिक से अनुमति प्राप्त कर महारानी नन्दा व उनके बाद एक-एक कर नन्दवती आदि इन सभी रानियों ने रानी पद्मावती की तरह ही जैन भागवती दीक्षा अंगीकार कर सामायिक आदि ग्यारह अंगों का

अध्ययन किया। इन तेरह ही रानियों ने बीस-बीस वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन कर अन्त में सिद्धगति को प्राप्त किया।

□ काली आदि दस रानियाँ

आठवें वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा तथा महासेनकृष्णा—इस प्रकार के दस अध्ययन हैं।

ये दसों ही महाराज श्रेणिक की राजरानियाँ थीं। महाराज श्रेणिक जब मरणधर्म को प्राप्त हुए तो कौणिक राजा बना। कौणिक ने अपनी राजधानी के लिए एक नया स्थान चुन, वहाँ नई नगरी का निर्माण कराया, नाम उसका रखा—चम्पा नगरी। इस नगरी के निर्माण का इतिहास आप पहले सुन चुके हैं।

□ वैराग्य-विचित्र-कथा

कैसे आया काली आदि दस रानियों को वैराग्य? इसका भी बड़ा रोचक प्रसंग है।

मगधेश्वर श्रेणिक महाराज ने अपने जीवनकाल ही में महारानी चेलना के लघु पुत्र विहल्लकुमार को सेचनक गंधहस्ती और अठारह लड़ी वाला देवनामी बंकचूल हार उपहार के रूप में दिए थे।

□ सेचनक हाथी और देवाधिष्ठित रत्नहार से विहल्ल चर्चित

उस ऐरावत के समान विशाल और सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न हस्ति पर आरूढ़ बन अपने अन्तःपुर परिवार सहित विहल्ल अनेकों बार चम्पा नगरी के बीचोंबीच होकर गंगा नदी की ओर भ्रमण के लिए, स्नानादि के लिए निकलता था। अठारह लड़ी वाला वह स्वर्ण निर्मित देवों द्वारा प्रदत्त रत्नजड़ित हार पहन एवं अन्य आभूषणों से शरीर की सज्जा कर जब वह हस्ति पर निकलता तो देखने वाले देखते रह जाते। स्नान के लिए गंगा में उतरता विहल्ल तो सेचनक हस्ती रानियों को सूँड़ से पकड़ता, पकड़कर किसी को अपनी पीठ पर बिठाता, किसी को अपने कंधे पर, किसी-किसी को गंड-स्थल पर रखता, किसी को मस्तिष्क पर बिठाता, किसी को दंत-मूसलों पर, किसी को सूँड़ में लेकर झुलाता, किसी को दाँतों के बीच लेता, किसी को फुहारों से नहलाता और किसी-किसी को अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं से क्रीड़ित करता, खेलाता था। देखने वाले बहुत से लोग राजपथ पर, तिराहों

पर, चौराहों पर, गलियों-मुहल्लों में आपस में बातें करते और कहते—“अपने अंतःपुर को साथ लेकर विहल्लकुमार सेचनक गंधहस्ती के द्वारा अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करता है। वास्तव में राजलक्ष्मी का सच्चा भोगोपभोग तो वही कर रहा है, कौणिक राजा उसकी तुलना में राजलक्ष्मी को नहीं भोगता। भारवाहक के भाँति राज्य का भार ढोता है।”

□ रानी पद्मावती का राजहठ और त्रियाहठ : हार व हाथी की चाहना

रानी पद्मावती ने भी दासियों के मुख से प्रजाजनों के इस कथन को सुना। उसने विचार किया—‘मैं इस राज्य की रानी हूँ, यहाँ की प्रजा की स्वामिनी हूँ। क्या मैं उस आनन्द को, उस सुख को नहीं भोग सकती जिसे विहल्लकुमार भोग रहा है। वस्तुतः उस हार और हाथी के बिना हमारे पास इस राज्य का स्वामित्व होना, नहीं होना एक समान ही है।’

□ हार-हाथी पिताश्री द्वारा प्रदत्त है

अपने मन में उमड़ती इस बात को रानी ने राजा कौणिक के समक्ष प्रकट किया और कहा—“स्वामी! उस हाथी और उस हार के बिना यह सिंहासन, यह शासन, यह जनपद व्यर्थ हैं।”

कौणिक ने रानी को समझाया कि हार और हाथी उसे हमारे पिताश्री द्वारा प्रदत्त हैं। अतः उन पर उसी का अधिकार बनता है। रानी पद्मावती कौणिक के इस कथन को सुनकर रूठ गई और बोली—“मैं कुछ नहीं जानती। मुझे वह हाथी और वह हार अवश्य चाहिए।”

□ रानी पद्मावती की चाह बनी वैशाली व चम्पा के विनाश का कारण

बंधुओं इस लोक में तीन हठ प्रसिद्ध हैं—राजहठ, त्रियाहठ और बालहठ। अनेक बार इनका हठ अनर्थ का कारण, विनाश का उद्गम बन जाता है। रूपवती सुन्दर नारी के समक्ष तो मानव, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, विवश बन ही जाता है। सम्पूर्ण राज्य का वैभव रानी के अधिकार में, न हाथियों की कमी है और न हार जैसे बहुमूल्य आभूषणों की, पर तृष्णा का कोई अन्त नहीं होता फिर अहं का सर्प भीतर में फन फैलाये हुए कि राज्य मेरा, प्रजा मेरी, राज्य की समस्त उत्तम वस्तुएँ मेरे भोगार्थ। दूसरों का सुख, आनन्द, हर्ष सहा नहीं जाता। दूसरों की प्रशंसा, कीर्ति, यश मन को नहीं सुहाता। ऐसी स्थिति जहाँ हो वहाँ

ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न होंगे ही। इसी ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि में जलती हुई अशान्त पद्मावती रानी ने हार व हाथी के लिए हठ कर लिया। उसका यह हठ चम्पा और वैशाली के कल्पनान्त का, विनाश का कारण बन गया।

□ हार-हाथी की माँग राजकुमार विहल्ल ने ठुकराई

कौणिक नरेश को रानी पद्मावती के हठ के समक्ष झुकना पड़ा। उसने विहल्ल को बुलाकर उससे सेचनक गंधहस्ति व अठारह लड़ों वाले हार की माँग की। विहल्ल ने राजा कौणिक की इस माँग को अस्वीकार कर दिया, पर साथ ही यह भी कह दिया कि आप अपने राज्य का आधा भाग दें तो ये दो अनमोल वस्तुयें मैं आपको दे सकता हूँ।

आधा राज्य देने से कौणिक ने इन्कार कर दिया, पर हाथी व हार के लिए पुनः-पुनः कहा, आग्रह किया। विहल्ल ने स्पष्ट मना कर दिया और वहाँ से अपने भवन पहुँचा। उसे लगा कि राजा यहाँ अपनी शक्ति के बल पर कुछ भी कर सकता है। आने वाले अनिष्ट की आशंका का चिन्तन कर उसने चंपा नगरी से दूर अपने नाना वैशाली नरेश राजा चेटक के यहाँ जाने का विचार किया। अपनी इस योजना, अपने इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

□ सुरक्षार्थ विहल्ल चम्पा से चला गया नाना चेटक के राज्य वैशाली में

एक दिन उसे सूचना मिली कि नरेश कौणिक कहीं बाहर गये हैं, राज्य-सीमा में नहीं हैं। पूर्व तैयारी थी, अतः तुरन्त सेचनक गंधहस्ति, अठारह लड़ी वाला हार तथा अन्तःपुर परिवार सहित अपनी गृहस्थी के साधनों को लेकर विहल्ल चंपा नगरी से निकला। निकलकर वह सीधा वैशाली पहुँचा। नाना चेटक को सम्पूर्ण प्रसंग बताया और उनकी स्वीकृति से वैशाली में रहने लगा।

□ कौणिक का चेटक को सन्देश : हार, हाथी विहल्ल वापस करें

राजा कौणिक ने जब यह समाचार जाना तो वह क्रोधित हुआ। बिना बताये विहल्ल का इस प्रकार जाकर अन्य राज्य में बस जाना उससे सहन नहीं हुआ। उसने विहल्ल को अपने राज्य का भगोड़ा और अपना अपराधी माना। इस पर भी उसने यही उचित समझा कि पहले किसी दूत को वैशाली भेजकर हाथी, हार व विहल्ल वापस लौटाने के लिए संदेश दिया जाये।

कौणिक ने अच्छी तरह समझकर अपना विश्वस्त, चतुर दूत वैशाली भेजा। दूत ने वैशाली नरेश को अपने स्वामी का संदेश देते हुए कहा कि “महाराज कौणिक ने विनयपूर्वक कहलवाया है कि विहल्लकुमार चोरों की तरह चुपके-से भागकर आपके राज्य में आ बसा है। महाराज कौणिक के माँगने पर भी उसने सेचनक गंधहस्ति व अठारह लड़ी का हार महाराज को नहीं सौंपा है। अतः आप हाथी, हार व विहल्ल को हमारे महाराज के सुपुर्द कर दें।”

□ चेटक की स्पष्टोक्ति : “कौणिक आधा राज्य देकर हार-हाथी लें”

महाराज चेटक ने कहा—“दूत! कौणिक और विहल्ल—दोनों ही मेरी पुत्री चेलना व राजा श्रेणिक के पुत्र, मेरे दौहित्र हैं। मेरे लिए तो दोनों समान हैं। विहल्ल को हाथी व हार श्रेणिक राजा ने अपने जीवन-काल में ही दे दिये थे। अब यदि विहल्ल इनके बदले में कौणिक का आधा राज्य माँगता है तो गलत क्या है? अपने स्वामी से जाकर कहना कि राजा चेटक ने आग्रहपूर्वक कहलवाया है कि आधा राज्य दे दे अन्यथा हाथी व हार की आशा छोड़ दे।”

□ कौणिक द्वारा पुनः-पुनः संदेश

दूत ने अपने राजा कौणिक को यह संदेश दे दिया। कौणिक ने उस दूत की अपेक्षा अधिक कुशल एक अन्य दूत को पुनः वैशाली भेजा। वह भी उसी उत्तर के साथ लौटा। निरयावालिकासूत्र में उल्लेख मिलता है कि क्रोधाविष्ट बने कौणिक ने तब तीसरे दूत को बुलाया और उसे कहा—“गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया, वेसालीए णयरीए चेडगस्स रन्नो वामेण पाएणं पायपीढं अक्कमाहि, अक्कमिन्ता कुतंग्गेणं लेहं पणावेहि, पणावित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु चेडगं रायं एवं वयाही—हं भो चंडगराया ! अपत्थियपत्थिया, दुरन्त जाव परिवज्जिया, एसणं कूणिए राया आणवेइ पच्चप्पिणहिणं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अठारहसवंकं च हारं, वेहल्लं च कुमारं पेसेहि, अहव जुद्धसज्जो चिट्ठाहि।”

तात्पर्य यह कि क्रोधाभिभूत कौणिक राजा ने तीसरी बार दूत वैशाली भेजा और उससे कहा—“तुम वहाँ बायें पैर से पादपीठ को ठोकर मारकर चेटक राजा को अपने भाले की नोक से मेरा यह पत्र देना और कहना कि कौणिक राजा की आज्ञा नहीं मानते हैं तो युद्ध के लिए तैयार हो जायें।”

बंधुओं! तीसरा दूत भी वैशाली गया, पर राजा-राजा होता है, दूत-दूत। उसने पादपीठ को ठोकर नहीं मारी, क्रोध से भृकुटि तानकर मिसमिसाते दाँत भींचकर भाले की नोंक पर पत्र नहीं दिया। उसने चेटक राजा के सम्मुख दूत के योग्य विनय व्यवहार प्रदर्शित करते हुए शांत स्वर में कहा—“राजन्! मेरे महाराज ने बायें पैर से आपकी पादपीठ को ठोकर मारने व क्रोध के स्वर में भाले की नोंक पर यह पत्र देने के लिए कहा है।” बंधुओं! विनय सहित पत्र देते हुए दूत ने अपने स्वर को अपनी सामर्थ्य की सीमा तक विनम्र बनाकर कहा—“मेरे स्वामी महाराज कौणिक ने हाथी, हार व विहल्ल को सुपुर्द न करने पर युद्ध के लिए तैयार रहने की बात भी आप तक पहुँचाने का आदेश मुझे दिया है।”

बंधुओं! दूत का कार्य बड़ा मुश्किल है। अत्यधिक समझदारी और विवेक-बुद्धि के साथ उसे हर कार्य करना पड़ता है। वह अपने कथन को दस बार हृदय की तुला पर तौलता है फिर नपे-तुले शब्दों में सन्देश देता है। वह हर पल नम्र रहता है। दूत स्वयं नहीं अपितु उसके मुख से उसके स्वामी का सन्देश निकलता है। अतः उसके द्वारा कही गई बात लाख कड़वी हो, दूत अवध्य है।

□ चेटक का प्रत्युत्तर : युद्ध की चाह तो हम तैयार

मगध राज्य के दूत का कथन यद्यपि नम्र स्वर में था, पर उस सन्देश को सुनकर चेटक राजा क्रोधाभिभूत बन गया। उसने ललाट पर सल डालते हुए कहा—“अपने राजा से कहना, शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। विहल्ल वैशाली राज्य की शरण में है, अतः हाथी, हार और राजकुमार विहल्ल वापस नहीं होंगे। कौणिक युद्ध चाहता ही है तो चेटक भी उसके आक्रमण का मुँह तोड़ प्रत्युत्तर देगा।”

□ दोनों और से युद्ध की तैयारियाँ

कौणिक ने सुना तो युद्ध का निर्णय ले लिया। कालकुमार आदि दसों भ्राताओं (विमाता के पुत्रों) को बुलाकर सारा प्रसंग बताया। उन सभी ने युद्ध में साथ देने की स्वीकृति दी। कौणिक ने उन सभी से तीन-तीन हजार हाथियों, तीन-तीन हजार रथों, तीन-तीन हजार अश्वों व तीन-तीन करोड़ पदाति सैनिकों से सज्जित होकर एकत्रित होने के लिए कहा।

बंधुओं! ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि सेचनक गंधहस्ति और उस अठारह लड़ी हार की कीमत कौणिक के पूरे राज्य के बराबर थी। कौणिक चाहता तो आधा राज्य देकर भी

ले लेता, पर सत्ता, शक्ति का मद ऐसा ही होता है। समर्पित श्रद्धालु भक्त था प्रभु महावीर का, पर भक्ति उसके लिए एक अलग वस्तु थी। काम, क्रोध, मद, मोह अपनी जगह थे। व्यक्ति भक्त बन सकता है, पर दुर्गुणों को त्यागना तथा सद्गुण अपनाना अत्यन्त दुष्कर है। इसमें भी यहाँ तो मद के साथ त्रियाहठ भी था।

□ सैना वैशाली की ओर

दसों भाई अपनी-अपनी सेना सजाकर राजगृही आये। यहाँ से कौणिक ने अपनी सेना को लेकर, उन सभी के साथ वैशाली की ओर कूच कर दिया। उसके साथ तैंतीस हजार हाथी, तैंतीस हजार रथ, तैंतीस हजार अश्व और तैंतीस कोटि पदाति सैनिक थे। रास्ते में सुविधाजनक स्थलों पर पड़ाव डालते हुए वह वैशाली की सीमा की ओर बढ़ने लगा।

□ मित्र राजाओं से परामर्श किया

चेटक ने अपने गुप्तचर-विभाग से कौणिक के ससैन्य-बल युद्धार्थ प्रस्थान के समाचार सुने। उसने काशी-कौशल देशों के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली, इन अठारह गण-राज्यों के राज्याधीशों को बुलाकर परामर्श किया। हाथी, हार के साथ विहल्लकुमार के शरण लेने से लेकर अब तक का वृत्तान्त सुनाकर उनकी राय पूछी कि इन्हें वापस लौटा दिया जाये या युद्ध किया जाये।

□ युद्ध की सलाह

सभी ने शरणागत की रक्षा को धर्म और कौणिक की माँग को अनुचित ही नहीं, अपितु अन्याय बताया और युद्ध करने की राय दी। चेटक ने तब उन्हें ससैन्य-बल पुनः आने के लिए कहकर विदा किया। उन सबके ससैन्य वैशाली आने पर चेटक की सेना को मिलाकर उसके सैन्य-समूह में सत्तावन हजार हाथी, सत्तावन हजार रथ, सत्तावन हजार अश्व और सत्तावन करोड़ पदाति (पैदल) सैनिक शस्त्रास्त्र सज्जित थे। चेटक उस समस्त सेना के साथ सीमान्त प्रदेश पर आया और पड़ाव डालकर कौणिक की सेना की प्रतीक्षा करने लगा।

□ दस दिन के युद्ध में कौणिक के दस भ्राता (विमाता-पुत्र) मौत की गोद में

कौणिक भी ससैन्य वहाँ पहुँचा और एक योजन की दूरी पर पड़ाव डालकर ठहर गया।

युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रथम दिन कौणिक ने अपने भ्राता (विमाता-पुत्र) कालकुमार को सेनापति बनाया। कालकुमार ने गरुड़ व्यूह की रचना की जबकि महाराजा चेटक ने शकट व्यूह रचा। दोनों सेनायें आपस में भिड़ गईं। गाजर-मूली की तरह मानव कटने लगे। खून की नदी-सी बहने लगी। दिवस का अवसान होने जा रहा था, पर युद्ध में किसी भी पक्ष ने कोई उपलब्धि नहीं की। कौणिक के सेनापति कालकुमार ने 'कुछ तो करना ही है' सोचकर अपने हाथी को महाराजा चेटक के हाथी की ओर बढ़ाया और महाराजा चेटक को शस्त्र-प्रहार के लिए आमन्त्रित किया, उकसाया। महाराज चेटक के भाल पर बल पड़ गये, मुँह पर उपेक्षा भरी मुस्कान खिंच गई। अपने गजवाहक को उन्होंने कालकुमार की ओर हाथी बढ़ाने का संकेत किया। एक ओर वयोवृद्ध महाराज चेटक, दूसरी ओर युवा कालकुमार। दोनों ओर के योद्धा कुछ क्षणों के लिए बुढ़ापे और यौवन की इस अद्भुत स्पर्धा को देखने में अपना युद्ध भूल गये।

□ चेटक की प्रतिज्ञा

नाना थे चेटक, अतः बड़े आदर और विनय से कालकुमार ने कहा—“पूज्य! प्रहार कीजिये।”

घन-गम्भीर स्वर में महाराज चेटक बोले—“वत्स! चेटक तो प्रतिज्ञाबद्ध है। सभी जानते हैं कि चेटक प्रहर्ता (प्रहार करने वाले) पर ही प्रहार करता है, अतः तुम करो पहले प्रहार।”

कालकुमार ने धनुष पर बाण चढ़ाकर प्रत्यञ्चा की डोर को अपने कान तक खींचा और चेटक का निशाना बनाकर अपनी पूरी ताकत के साथ वह बाण छोड़ दिया।

महाराज चेटक ने एक पल का भी विलम्ब किए बिना अद्भुत हस्तलाघव का प्रदर्शन करते हुए अपने अर्द्ध-चन्द्राकार फल वाले बाण से कालकुमार के तीर को बीच मार्ग में ही काट डाला।

□ कालकुमार काल के गाल में

तदनन्तर महाराज चेटक ने कालकुमार के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। सभी योद्धा श्वांस रोककर देखने लगे। अनिष्ट की आशंका से कौणिक के सैनिक काँप उठे, उनके हृदय की धड़कनें तीव्र हो गईं। सभी जानते थे कि प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक चेटक ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन में केवल एक बाण प्रहारकर्ता (प्रहर्ता) पर चलायेंगे, साथ ही सभी यह भी जानते थे कि महाराज चेटक का यह एक बाण ही मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है। यही हुआ। रक्षा के सारे यत्न निष्फल रहे। कालकुमार उस शर प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो हाथी के हौदे पर सदा के लिए सो गये।

□ दशों ही कुमार मृत्यु के मुँह में

उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। तब सूर्यास्त पश्चात् युद्ध निषिद्ध था। दोनों पक्ष की सेनायें अपने-अपने खेमों में लौट गईं। कौणिक की सेना शोक के सागर में डूबी हुई थी और वैशाली की सेनायें हर्षमग्न बन आनन्द के झूले में झूल रही थीं।

कालकुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष नौ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कौणिक द्वारा सेनापति बनाये गये। वैशाली गणराज्य की सेना से प्रत्येक ने भीषण युद्ध किया, भयंकर रक्तपात के पश्चात् प्रतिदिन एक-एक कुमार महाराज चेटक के एक-एक शर के प्रहार से मृत्यु के मुँह में समाते रहे।

□ कौणिक का देव-स्मरण

अब कौणिक की जयाशा निराशा में बदलने लगी। उसने दैवी शक्ति का सहारा लेने का निश्चय कर तीन दिन का उपवास पौषध व्रत (तेला) धारण किया। राजा चेटक ने जब तीसरी बार भी दूत को लौटा दिया था, तब उसने प्रतिज्ञा की थी कि “वैशाली को पूर्णतः नष्ट करूँगा। वहाँ जमीन पर गधों से हल जुतवाऊँगा। यदि ऐसा नहीं कर सका तो पर्वत-शिखर से गिरकर प्राणान्त कर लूँगा।” कथा-भाग में यह विवरण मिलता है। अपनी प्रतिज्ञा के लिए ही वह अत्यन्त चिन्तित था। पौषध भी करने का यही कारण था। तप में बड़ी शक्ति होती है। तप के प्रभाव से शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र, जो उसके पूर्वजन्म के मित्र भी थे, वे उपस्थित हुए। दोनों ने इस तरह उन्हें स्मरण करने का कारण पूछा। कारण

कौणिक ने बता दिया और कहा कि “चेटक को मौत के मुख में पहुँचाने का काम आपको करना है।”

□ शक्रेन्द्र द्वारा रक्षा-कवच कौणिक को

दोनों इन्द्रों ने इसमें असमर्थता बतायी। कारण बताते हुए शक्रेन्द्र ने कहा कि “चेटक प्रभु महावीर का परम भक्त श्रावक है। वह मेरा स्वधर्मी बंधु भी है। अतः मैं उसे मारूँगा तो नहीं, पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा का साधन उपलब्ध करवा दूँगा।” शक्रेन्द्र ने कौणिक को वज्र-कवच प्रदान किया।

□ चमरेन्द्र द्वारा ‘महाशिला कंटक’ व ‘रथमूसल’ नामक प्रलयंकारी अस्त्र कौणिक को

चमरेन्द्र ने कहा तुम्हारी पूर्वभव की प्रगाढ़ मित्रता को ध्यान रखते हुए मैं तुम्हें एक “महाशिला कंटक” नाम प्रक्षेपणास्त्र तथा दूसरा “रथमूसल” नाम का प्रलयंकारी अस्त्र बनाने व उसके प्रयोग की विधि सिखा देता हूँ। इनके कारण तुम अपराजित बन जाओगे, निश्चय विजयी बनोगे।”

चमरेन्द्र की बताई विधि से कौणिक ने “महाशिला कंटक” शस्त्र व “रथमूसल” नामक प्रलयंकर स्वचालित यंत्र बनवाए। इनके तैयार हो जाने पर उसने अपने नेतृत्व में सेना का संयोजन कर पुनः युद्ध किया।

□ महाशिला कंटक संग्राम में चौरासी लाख योद्धा एक दिन में हताहत

महान् संहारक ‘महाशिला कंटक’ नामक अस्त्र को लेकर कौणिक किसी महासागर की हिलोरेँ खाते अथाह जल की भाँति अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ रण-क्षेत्र में उतरा। महाराज चेटक भी अपनी सेनाओं के साथ युद्ध-क्षेत्र में आ डटे। दोनों सेनाओं में अत्यन्त भीषण संग्राम हुआ। चेटक ने कौणिक द्वारा अपने पर बाण चलाए जाने के पश्चात् धनुष से शरसन्धान कर कौणिक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। शक्रेन्द्र द्वारा प्रदत्त वज्र कवच से चेटक का बाण टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। इस पर भी चेटक ने अपनी प्रतिज्ञा निभाते हुए दूसरी बार शरसन्धान नहीं किया।

कौणिक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित “महाशिला कंटक” अस्त्र का प्रयोग किया। बंधुओं! इस यंत्र के माध्यम से तृण, काष्ठ-स्कंध, पत्ते, रज-कण, कंकर लोहे के महीन

टुकड़े आदि वैशाली की सेना पर जब फेंके जाते तो पत्थर की भारी-भरकम बड़ी-बड़ी शिलाओं के प्रहारों से भी अधिक भयंकर उनके प्रहार होते। कुछ ही समय में वैशाली के लक्षाधिक योद्धा मौत के मुँह में पहुँच गये। चेटक की सेना में भगदड़ मच गई। भारी शिलाओं जैसे प्रहार से बचने के लिए अठारहों मल्ली-लिच्छवी गणराज्यों की सेनायें पीठ दिखाकर भाग गईं।

भगवतीसूत्र के सातवें शतक, नवमें उद्देशक में गणधर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से विनयपूर्वक पृच्छा की—“से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे।” अर्थात् हे भगवन्! इस संग्राम को महाशिला कंटक संग्राम क्यों कहा गया ?

प्रभु महावीर ने गौतम के प्रश्न का समाधान देते हुए फरमाया—“गोयमा! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसेवा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा, तणेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अमिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए अहं अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे।”

भगवान ने बताया—“गौतम! इस संग्राम में जो भी घोड़ा, हाथी, रथ, सारथी, योद्धा आदि तृण से, काष्ठ से, पत्ते से या कंकर आदि से आहत किए जाते थे, वे सब ऐसा अनुभव करते थे कि हम महाशिला के प्रहार से मारे गये हैं या यह कि भारी-भरकम पत्थर की बहुत बड़ी शिला आकर हम पर गिर गई है। इस कारण इस संग्राम को ‘महाशिलाकंटक संग्राम’ नाम दिया गया।

“महासिलाकंटए णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कति जण सतसाहस्सीओ वहियाओ?”

“गोयमा ! चउरासीतिं जण सतसाहस्सीओ वहियाओ।”

(भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्देशक ९)

गौतम द्वारा यह पूछे जाने पर कि “भगवन्! उस संग्राम में कितने लाख मनुष्य मारे गये?”

भगवान ने फरमाया—“हे गौतम! उस दिन के ‘महाशिलाकंटक संग्राम’ में चौरासी लाख मनुष्य मारे गये।”

□ रथमूसल संग्राम में दूसरे दिन छियानवे लाख योद्धा विनष्ट

दूसरे दिन कौणिक “रथमूसल” नामक प्रलयंकर स्वचालित यंत्र लेकर रण-क्षेत्र में पहुँचा। दोनों सेनाओं में चेटक व नौ मल्ली नौ लिच्छवी राजा एक तरफ थे तथा दूसरी तरफ थे कौणिक व देवेन्द्र देवराज शक्र जो कौणिक का पूर्वसंगतिक (पूर्वभव सम्बन्धी-कार्तिक सेठ के भव में मित्र) था और असुरेन्द्रराज असुरकुमार राजा चमर जो कौणिक राजा का पर्याय संगतिक (पूरण तापस के समय का साथी) मित्र था। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दोनों सेनायें प्राणप्रण से लड़ीं। चेटक ने आगे बढ़कर कौणिक के चलाये बाण-प्रहार के प्रत्युत्तर में बाण प्रहार किया, पर वह चमरेन्द्र के आयस पट्ट से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। दृढ़ प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा बाण नहीं चलाया। युद्ध ने उग्र रूप धारण कर लिया तभी कौणिक ने वैशाली की सेनाओं पर ‘रथमूसल’ अस्त्र का प्रयोग किया। वह यंत्र प्रलय-दूत की भाँति लगता था। लोहसार निर्मित विशाल दैत्याकार था। स्वचालित था। न कोई वाहन, न वाहक या आरोही। घनघोर घर्गाहट भरते, धरातल को कम्पित बनाते यह यंत्र विद्युत् वेग से वैशाली की सेनाओं पर ऐसे चलने लगा जैसे बड़ी-बड़ी बिल्लिङ्गों का ध्वस्त करता बुलडोजर चलता है। उसमें मूसल की तरह के सैकड़ों अस्त्र लगे थे। वे उन वैशाली, मल्ली व लिच्छवी सैनिकों पर यमदण्ड की तरह प्रहार करने लगे। उसकी गति अत्यन्त तीव्र थी। पलभर में यहाँ से वहाँ पहुँच जाता और विनाश मचाकर आगे बढ़ जाता। उस तीव्र गति से चारों ओर घूमते रथमूसल यंत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। उस युद्ध के विशाल मैदान में चारों तरफ रुधिर और माँस का कीचड़ ही कीचड़ दृष्टिगोचर होने लगा।

इस प्रलयोपम भीषण नरसंहार को देखकर तथा रुधिर, मांस, मज्जा के दलदल के वीभत्स एवं हृदय-द्रावक दृश्य को देखकर अठारह ही गणराज्यों की सेनाओं के सैनिक भयभीत हुए और प्राण बचाकर भाग गये। देवेन्द्र, मनुजेन्द्र और असुरेन्द्र तीन-तीन इन्द्र जहाँ हों, वहाँ कोई कैसे टिके ?

इस एक दिन के रथमूसल संग्राम में छियानवे लाख योद्धा मृत्यु के मुख में पहुँच गये।

□ एक करोड़ अस्सी लाख योद्धा में केवल दो सुगति में

दो दिन तक हुए इस भीषण युद्ध में एक करोड़ अस्सी लाख व्यक्ति मौत के शिकार हुए। इनमें केवल एक व्यक्ति अरुणाभ देवलोक में चार पल्योपम की स्थिति लेकर देवरूप में उत्पन्न हुआ और एक अन्य सैनिक मनुष्य लोक में अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ। शेष सभी नरक व तिर्यञ्च योनियों में उत्पन्न हुए। तिर्यञ्च योनि में जाने वालों में दस हजार सैनिकों के जीवों ने एक ही मछली के उदर में जन्म लिया।

बंधुओं ! आप लोग विचार कर रहे होंगे कि क्यों एक को देवलोक, एक को मनुष्य लोक और शेष को नरक-तिर्यञ्च में जन्म मिला ? बात यह है कि दो को छोड़ सभी मरने वाले सैनिक शीलव्रतरहित, अप्रत्याख्यानी, पौषध उपवास से रहित थे। वे अपने अंतिम समय में क्रोध के वशीभूत थे, अशान्त थे, अतः नरक-तिर्यञ्च में गये।

□ व्रती योद्धा वरुण नागनत्तुआ देवगति में

एक सैनिक वरुण नागनत्तुआ श्रमणोपासक था, जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता था, निर्ग्रन्थ वचनों में श्रद्धा रखता था, श्रमण मुनियों को आहारादि से प्रतिलाभित करता था और बेले-बेले (छठ-छठ भक्त) का तपाराधन करता हुआ अपनी आत्मा को भावित करता था। एक समय पारणे के दिन राजाज्ञा से युद्ध में जाते समय उसने बिना पारणा किए अट्टम (तेले) का तप कर लिया। वहाँ मरने की स्थिति उपस्थित होने पर, अपने को सख्त घायलावस्था में अशक्त, अबल, निर्वीर्य, पुरुषार्थहीन व पराक्रमरहित समझ उसने युद्ध से अपने रथ को वापस फिराया तथा युद्ध-स्थल से बाहर आ गया। एकान्त स्थान पर रथ से उतरकर अपने व्रतों की आलोचना की, नये व्रत धारण किए, जिनमें सर्व-प्राणातिपात आदि अठारह ही पापस्थानों का जीवनभर के लिए त्याग किया। कवच खोलकर शरीर का भी अंतिम श्वासोच्छ्वास के साथ त्याग करते हुए बाण को शरीर से खींचकर बाहर निकाल लिया। इस प्रकार आलोचना, प्रतिक्रमण कर समाधियुक्त बनकर मरण-धर्म को प्राप्त किया। वह वरुण श्रमणोपासक, नाग श्रमणोपासक का नाती प्रथम देवलोक का अधिकारी बना।

□ वरुण का बाल-मित्र मनुष्य गति में

उसी का एक बाल-मित्र भी उसके साथ युद्धरत था। अपने को अत्यधिक घायल, अशक्त, अबल समझ उसने विचार किया अब मेरी मृत्यु निश्चित है। तभी उसने अपने मित्र वरुण को रथ फिराते, संग्राम-स्थल से बाहर की ओर जाते देखा। उसने भी अपने मित्र का अनुसरण किया। बाहर आकर उसने वैसा ही किया, जैसा उसका मित्र कर रहा था। कुछ न जानते हुए भी वह कहता जा रहा था—जैसा मेरा मित्र कर रहा है, मैं भी कर रहा हूँ। जैसा मेरा मित्र कर रहा है, मैं भी कर रहा हूँ। उसने भी कवच खोला, बाण निकाला, समाधियुक्त होकर वह भी कालधर्म को प्राप्त हुआ। यहाँ शरीर त्यागकर वह मनुष्य लोक में उच्च कुल में उत्पन्न हुआ।

शेष सभी अपने क्रूर, आर्तभावों की तारतम्यता के अनुसार नरक या तिर्यज्च में उत्पन्न हुए।

□ काली रानी का प्रभु-दर्शनार्थ जाना

अपने पुत्र कालकुमार को कौणिक के साथ वैशाली के राजा चेटक से युद्ध करने हेतु प्रस्थान के बाद कुछ काल व्यतीत हो जाने पर कालीदेवी के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरा पुत्र जीतेगा या हारेगा? वह जीवित वापस आयेगा या युद्ध में काम आ जायेगा? क्या मैं उसे वापस देख सकूँगी?' उसकी इस चिन्ता ने उसे उदास बना दिया।

उसी काल में श्रमण भगवान महावीर का चम्पा नगरी में पदार्पण हुआ। चम्पा नगरी के बहुत-सारे व्यक्ति नर-नारी, प्रभु को वन्दन-नमस्कार करने एवं धर्मोपदेश श्रवण करने गये। काली रानी ने भी प्रभु के दर्शन का, वन्दन-नमन का और उनके उद्बोधन को सुनने का विचार किया। उसने सोचा—'प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, अतः युद्ध का परिणाम और मेरे पुत्र के विषय में मेरी चिन्ता का निवारण अवश्य करेंगे।'

अपने श्रेष्ठ धार्मिक रथ में बैठकर पूर्णभद्र उद्यान में जहाँ प्रभु समवसरण में विराजित थे, वह वहाँ गई। समवसरण से बाहर ही रथ को रोककर रथ से नीचे उतर और जहाँ श्रमण भगवान महावीर विराजमान थे वहाँ पहुँची, प्रभु को वन्दन-नमन कर भगवान की देशना सुनने के लिए परिषद् में बैठ गई।

□ प्रभु की देशना : “संयोग और वियोग में सम रह अयोग में जाने का प्रयत्न करो”

सर्वज्ञों की देशना सदैव विरति के लिए, वैराग्य-भावों से परिपूर्ण होती है। सर्वज्ञों का कहना है कि सांसारिक वस्तुओं के संयोग और वियोग का नाम ही संसार है। जीव इष्ट वस्तुओं के संयोग से प्रसन्न रहता है, खुश होता है और अनिष्ट वस्तु का वियोग भी उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है। इसी तरह इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग भी जीव मात्र के लिए अप्रसन्नता, उदासी, दुःख का कारण है। प्रभु के उपदेश को ध्यान में रखकर ही ‘मेरी भावना’ में कवि ने कहा—“इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, सहनशीलता दिखलावे।” तथा—“होकर सुख में मगन न फूले, दुःख में कभी न घबराये।”

आज व्यक्ति को जब शुभ संयोग मिलते हैं तो वह फूलकर यह भूल जाता है कि इन शुभ संयोगों के मिलने का कारण क्या है? वह मद में आ जाता है, मान-गर्व-घमंड करने लगता है। सत्ता मिले, व्यापार चले, लाभ की प्राप्ति होती रहे तो उसे धरती नहीं, केवल आसमान दिखता है। अशुभ संयोग प्राप्त हों तो उसका थोबड़ा थाप खा जाता है। वह उदास, हताश, निराश बन जाता है। शुभ संयोग किसी कारणवश चले जायें, वियोग में बदल जायें तो उनके प्रति पूर्वासक्ति को याद कर-करके वह रोता है, आँसू बहाता है, आर्त में डूब जाता है।

प्रभु की देशना में समभाव की, समता में रहने की प्रबल प्रेरणा रहती है। इसीलिए प्रभु अपने उपदेश में, अपनी देशना में कहते हैं—शरीर और आत्मा दो अलग तत्त्व हैं, जो इस रहस्य को जान गया, वह समता को प्राप्त कर सकता है। जीव का समता भाव उसे अयोग में बदल सकता है। कान जिसे सुनना चाहें, आँख जिसे देखना चाहे, नाक जिसे सूँघना चाहे, जिह्वा जिसे भाषित करना चाहे या जो स्वाद लेना चाहे, स्पर्श जो मन भाये, अर्थात् जिस स्पर्श से मन को सुखद अनुभूति हो—ये इन्द्रिय-विषयों के मनोज्ञ संयोग हैं। व्यक्ति जिसे सुनना, देखना, सूँघना चाहे या न चाहे, पर यदि वह दृश्य दिखे, कथन सुनाई पड़े, गंध सूँघनी पड़े फिर भी उसमें मन न प्रसन्नता का अनुभव करे, न खिन्नता का। इसे समभाव की ओर बढ़ना कहा जा सकता है।

□ काली रानी की युद्ध में गये अपने पुत्र के प्रति जिज्ञासा

प्रभु की देशना में समभाव, सहनशीलता और संयोगों-वियोगों से अयोग की ओर अग्रसर होने का कथन परिषद् ने सुना। सुनकर धारण किया। अनेक ने व्रत-प्रत्याख्यानदि

ग्रहण किये। काली रानी ने महावीर प्रभु से धर्मश्रवण किया। वह उसे अवधारित कर हर्षित हुई। उसने श्रमण भगवान महावीर को तीन बार वंदन-नमन करके अपने पुत्र कालकुमार के विषय में मन में उमड़-घुमड़ रही बात को प्रभु के समक्ष रखते हुए निवेदन किया—“भदन्त! मेरा पुत्र कालकुमार अपनी सेना लेकर कौणिक के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुआ है। वह विजयी होगा या नहीं? जीवित रहेगा या नहीं? मैंने जाते समय उसकी पीठ देखी है। वापस उसका मुँह देख सकूँगी या नहीं?”

□ मन की विकलता

बंधुओं! जब तक व्यक्ति संसार में है, उसे अनेक तरह की चिन्तायें सताती रहती हैं। किसी को धन कमाने की, किसी को अर्जित धन सुरक्षित बनाने की, किसी को मान-प्रतिष्ठा की। काली रानी के मन में भी एक बड़ी भारी चिन्ता अपने पुत्र के लिए थी। यह स्वाभाविक भी है। किसी का पुत्र व्यापारिक कार्य से, उगाई करने, कलेक्शन के लिए गया हुआ है। समय पर नहीं आया वह, सन्देश भी नहीं मिला। चिन्ता होना स्वाभाविक है। मन बेचैन बन जाता है, विचलित हो जाता है। एक दिन से अधिक देर हो गई तो मन अनेक संकल्प-विकल्पों में डोलने लगता है। खाने-पीने में, उठने-बैठने में, व्यापार-व्यवसाय के कार्यों में फिर मन नहीं लगता। काली आदि रानियों के बेटे तो समर-भूमि में गये थे, रण-क्षेत्र में गये थे। वहाँ जिन्दगी का क्या भरोसा? जीवन और मरण में वहाँ कोई अन्तर नहीं। पलभर पहले की जिन्दगी, दूसरे पल समाप्त।

□ रानियों के आत्महित को जान प्रभु ने युद्ध में पुत्र-मृत्यु का यथार्थ प्रकट किया

सर्वज्ञ थे प्रभु, त्रिलोक-त्रिकाल ज्ञाता थे वे। जानते थे कि समाधान करने पर ये काली आदि सभी वैराग्य को प्राप्त होंगी, संयम लेंगी, श्रमण-धर्म अंगीकार करेंगी। बताया—“देवाणुप्रिये! तुम्हारा पुत्र कालकुमार जो युद्ध में गया था, युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। युद्ध में लड़ते हुए, अनेक योद्धाओं को हत और आहत करते हुए वह राजा चेटक के बाण का शिकार हो काल-कवलित बन गया।”

बंधुओं! महापुरुषों की नीति ‘सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् अर्थात् सत्य व प्रिय बोलने की रहती है। प्रभु की भी यही नीति, यही सिद्धान्त था, पर काली रानी को उन्होंने सत्य होते भी अप्रिय कहा। प्रभु तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। अतः जो हुआ उसी को स्पष्ट किया और

कहा कि वह कालगत हो गया है, तुम अब उसे जीवित नहीं देख सकोगी। वे यह भी जानते थे कि मेरा अप्रिय सत्य, अर्थात् पुत्र-वियोग की बात सुनकर रानी को वैराग्य प्राप्त होगा।

□ काली रानी चेतनाशून्य

‘पुत्र-शोक, पुत्र-वियोग सदा के लिए’ सुना उस काली रानी ने तो भयंकर झटका लगा मन को, अंग शिथिल बन गये, चेतनाशून्य हुई और वह धड़ाम से नीचे गिर पड़ी।

बंधुओं! इष्ट का संयोग सुखकर है, प्रसन्नता देने वाला है, पर वियोग दुःखकर होता है। वियोग का झटका झेलना हर किसी के बस की बात नहीं। बड़े से बड़े ज्ञानीजन भी कई बार इष्ट का वियोग सहन नहीं कर पाते। यद्यपि कहते यही हैं ज्ञानीजन कि इष्ट से यदि संयोग हुआ है, जुड़ाव बना है तो वियोग भी होगा, अलगाव भी निश्चित है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय इन चारों ज्ञान के धारक, चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे प्रभु महावीर के प्रथम गणधर गौतम। ज्ञान की कहाँ कमी थी? नहीं था तो ‘केवलज्ञान’ नहीं था, केवली नहीं बन पाये थे। अनेक लब्धियों के धारी थे, अंगुष्ठ में अमृत बसता था। ऐसे महाज्ञानी, महापंडित, महासंयमी थे गौतम गणधर, पर जब सुना कि प्रभु निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं तो अपने इष्ट गुरु, अपने इष्ट देव का वियोग वे सहन नहीं कर पाये। विलापात करने लगे, रुदन आने लगा। अचानक चिन्तन की धारा में संयोग-वियोग के रूप-स्वरूप और उसी के साथ शरीर व संसार की अनित्यता का विचार-प्रवाह निकला, धारा ऊर्ध्वमुखी बनी, केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई।

□ आत्मा में जागृति आई काली रानी के

काली ने सुनी प्रभु की देशना, सुना अपने पुत्रों का युद्ध-क्षेत्र में मरण, सुना लाखों सैनिकों का रक्तपात तो जो चेतनाशून्य बन गई थी, चेतना आने पर उसके मानस में एक चिन्तन उभरा—‘जीव की आकांक्षायें अनर्थ की मूल हैं, उसकी तृष्णा ही समस्त पापों की जड़ है, कामनाओं से जब तक यह जीव जुड़ा है वह राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ आदि में पड़कर दुर्गुणों का दास बना रहता है। संसार, पदार्थ, प्राणी, तृष्णा, राग, मोह आदि के साथ इस जुड़ाव को त्यागने से ही आत्मा का उद्धार बन सकता है। मिला है जिन-जिनका संयोग, उनसे वियोग होना सामान्य बात है, अतः ऐसे समय समभाव रखने से ही

अन्तरमन शांत बन सकता है। प्रभु महावीर के वचन अक्षरशः यथार्थ और जीवन-कल्याणी हैं।’

□ काली की विरक्ति और दीक्षा

बन्धुओं! संयोग और वियोग का चक्र ही संसार है। इसको जानना, समझना ही सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टिपन है। यहीं से आत्मा बाह्य प्रवृत्तियों को त्याग निवृत्ति की ओर बढ़ने की तैयारी करता है। काली रानी के मन में उत्पन्न चिंतन भी राग से विराग तक पहुँच विरक्ति में परिवर्तित हो गया। विरक्त हो जाने पर वह दीक्षा के लिए अभिलषित बनी। उसने राज्य-वैभव को त्यागकर प्रभु के श्रीमुख से दीक्षा अंगीकार की।

□ आपका ज्ञान-ध्यान-तप : एक अनुभवी का विश्लेषण

बन्धुओं! आठवें वर्ग के दस ही अध्ययन उग्र तपाराधना के जीते-जागते उदाहरण हैं। आ रहा है बच्चे-युवा-वृद्ध सभी के लिए तपाराधन का महान् पावन पर्व संवत्सरी। आज रात बीत जाये, कल है तप का पर्व-दिन। याद करिए, जब यहाँ चातुर्मास करने की विनती लेकर आपमें से कुछ विशिष्ट श्रावक-श्राविकाएँ आये थे। जब विनती की तब बात ज्ञान-ध्यान-तप की चली थी। क्या कहा था तब? “महाराज ! चातुर्मास की स्वीकृति दे दीजिए। सच मानिए खूब धर्मध्यान करेंगे, खूब तपाराधन करेंगे।”

□ किसी जमाने की एक घटना

आचार्यश्री की स्वीकृति मिली तो चातुर्मास निश्चित हो गया। आषाढ़ की शुक्ल पक्ष दशम्, गुरुवार को प्रवेश हुआ। चातुर्मासी पाक्षिक पर्व आया। गुरुदेव ने धर्मध्यान, तप-त्याग की बात याद दिलाई तो एक श्रावक जी ने कहा—“हाल काँई है बाब जी ! काल श्रावण लागी। अबे आप तो सब जाणो हो। चौमासो करायो है, काम-काज बिखेरियो है। पछे घर का भी घणा-सारा काम पड्या है। थोड़ो नेठाव राखो। भरियो भादरवो आवण दो, मने धरम ध्यान और त्याग-तप करांला।”

हमने सोचा—‘ठीक ही कह रहे होंगे श्रावक जी।’

बीत गया श्रावण। आ गया भाद्रपद मास। वर्षा भी जमकर बरसी। वातावरण तपाराधन के लिए विशेष अच्छा बन गया। अब गुरुदेव ने पुनः याद दिलाई धर्मध्यान करने की बात, तपस्याएँ, पचक्खने की बात, जप-जाप कराने की बात।

श्रावक जी बोले—“महाराज! राखड़ी काल गई है। बाई-बेटियाँ राखड़ी माथे आई, अबे पाछी आपरे सासरे जाई। पजूषणा भी नेड़ा आय रहा है। आठ दिन तप री झड़ी लगा दां ला। आप समझलो के पर्व रे आठ दिन तो थानक है, आप हो और म्हां सगलां हां। घर छोड़ थानक में ही आजावांला सगला। दिन उगी ने आथवी जठे तक सामायिक, संवर, एकासणो, आयम्बिल, अवास। खूब बेला, तेला होवेला। लुगायां तो अठायां रो ठाठ लगा देला।”

पर्युषण नजदीक आने लगे। बाजार बंद रखने, काम-धंधे से अवकाश लेने की बात कही। बोले—“अरे बाब जी ! एड़ो गजब मती करो। सेंग काम बिगड़ जावेला।”

हमने कहा—“अरे भाई! पर्युषण के दिन हैं। छुट्टी के लिए कहा है हमने तो धर्मध्यान व जप-तप की बात को ही ध्यान में लेकर कहा है।”

पर्युषण आ गये ५-७ हजार की उपस्थिति होती है, एक साथ १०८ अठाइयों के प्रत्याख्यान हो रहे हैं, अनेक मासखमण हो रहे हैं जोधपुर का ऐतिहासिक चातुर्मास कहला रहा है। अब तो केवल कल का दिन बाकी है। कल का तो हमारी तरफ से आप सभी को सिगड़ी न्यौता है। उपवास करना है कल। इससे नहीं बचना है, कोई बहाना नहीं करना है। एक प्रसंग याद आ गया, जिसमें जंवाईराज अर्थात् पावणा कहते हैं—“अबे इणसूं तो नीचा मती उतर जो, आपने परमेसर री आण है।”

‘थां ने परमेसर री आण जी’

एक कथा-प्रसंग

मारवाड़ का एक छोटा-सा साफ-सुथरा ग्राम। ग्राम में रहते थे एक सेठ और एक सेठानी। एक लड़की थी उन दोनों के, जिसकी शादी एक योग्य वर देखकर कर दी थी। शादी के बाद लड़की पीहर ही थी। कई दिन व्यतीत हो गये तो एक दिन जंवाईराज अपने भाई के साथ आये लड़की को यानि अपनी पत्नी को लेने।

सेठ का जंवाई और उसका भाई, दोनों घोड़े पर आये थे, अतः घोड़े का सईस या मालिक साथ था और साथ था एक नाई। पुराने समय में नाई को साथ भेजने की परम्परा थी। नाई और सईस दोनों वृद्ध थे।

पहुँचे वे चार व्यक्ति और एक घोड़ा, कुल पाँच प्राणी सेठ के घर। भोजन का समय हुआ तो सेठ-सेठानी आपस में बतियाने लगे। “भोजन क्या बने?” इस पर बात चली तो सेठानी ने कहा—

पावणा तो आविया ने, साथे बाई रा देवर जी।
और जीमण तो जावण दो, मंगाओ ताजा घेवर जी ॥

सेठ ने प्रत्युत्तर दिया—“वाह सेठानी जी! आप तो म्हारे मन की बात कह दीवी। घेवर सूं अच्छे पकवान दूजो कोई नहीं पण घेवर है रबड़ी रा और रबड़ी आज-काल चोखी नहीं रेवे, खाटी पड़ जावे जिणसुं घेवर सो सारो मजो किरकिरो होय जावे।”

सेठानी बोली—“तो पछे जावण दो घेवर। आपणे कांई जरूरी है घेवर ईज होवणा चइजे। दूजी कोई चीज भी तो होय सके है। आप ही फरमावो कांई पकवान बणावां।”

इस पर सेठ ने कहा—

पावणा तो आविया ने, दीसे पूरा धीरा जी।
ओर जीमण तो जावण दो, बणाय दो गर्म-गर्म सीराजी ॥

सेठानी जैसे राजी होकर बोली—“वाह सा वाह! गरम-गरम और नरम-नरम। दांता ने मेहनत नहीं करणी पड़सी। बारे सूं भी लाणारी जरूरत नहीं। घी, शक्कर और आटो सारी चीजां घर में मौजूद। मैं मिनटा में सीरो तैयार कर दूला। जंवाई जी भी कांई देखेला के कोई सासू मिली तो ही। आ उतारी कड़ाई ने ओ हिलायो खुरपो।

सेठ—हाँ तो अबे करो तैयारी पिण.....

सेठानी—चुपका क्यूं होयग्या? पिण कांई? बोलो कीनी।

सेठ—खुरपां हिलावण में थे सेंठा पिण एक बात म्हारे मन में आयी है।

सेठानी—कांई बात? बोलो, फुरमावो।

सेठ—बात आ है के जंवाई सा अठे पेली बार पधार्या है। पेलपोत जंवाई-सा ने शक्कर रो पकवान कीकर खवावोला?

सेठानी—ओहो! आपरी बात तो सांव सांची। आ बात तो म्हें सोची भी कोनी। अबे काई करां? सुगनिक तो गुड़ होया करे है। आप केवो तो गुड़रो सीरो हलाय दूं।

सेठ—अरे नहीं! सीरा-वीरा री बात तो अबे नहीं जंचे। अबे तो यूं करो के—

**पावणा भी जीमसी ने, छोटा टावर धापसी।
और जीमण तो जावण दो, रांधो ताजी लापसी ॥**

सेठानी ने कहा—बात तो आपरी सांव सांची। लापसी हमेशा भती। बड़ेरा केवता हा के लापसी रो पेट मोटो। घर में गुड़ तैयार, बाट भी तैयार, घी भी तैयार। पिण एक बात केऊं आपने ?

सेठ—बात मन में आई है तो कह दो। पेट में राखोला तो गड़बड़ होय जावेला।

सेठानी—बात आ है के गुड़ री तासीर है गरम। आजकल पड़ रही है गरमी। आपने ठा व्हेला मोहल्ला में ई कित्ता ही जिणा री आंखियां आयोड़ी है। गुड़ सूं कठेइ गरमी बढ़णी अर.....

सेठ बीच में ही बात काटकर बोला—“आंखियां दूखणी आयगी तो?” आइज केवणी चावो पण करा काई? कीं न कीं तो खाटो-मोलो रांधणो पड़सी।

सेठानी—मैं तो त्यार हूं रांधण ने पण कोई ढंग री चीज तो बताओ ?

सेठ-तो सुनो—

**पावणा तो आविया ने, दीसे घणा सुकुमाल जी।
और जीमण तो जावण दो, करदयो रोटा दाल जी ॥**

सेठानी ने सुना और मन ही मन कहा—“सेठ रो दिमाग घूम गया दीसे। रोट-दाल में घी कित्तो छाइजे आ कुण सोची? खैर म्हने तो बात संभालनी पड़ेला।” वह प्रकट में बोली—“आपने थोड़ो-घणो विचार आवे के नहीं। आगेई इत्तो मोड़ो व्हे गियो, अब रोट-दाल कदे बणाऊं? पावणा रे साथ दो डोकरा भी तो है, वे भी रोट कीकर खाई? इण वास्ते—

**पावणा तो आविया ने, साथे दोय डोकर जी।
और जीमण तो जावण दो, कर दूं फलका ने मोगर जी ॥**

सेठ—ठीक है भली आदमण। थारें जचगी है तो बणा मोगर रो साग अर फलका। पर थे जाणो है के म्हने तो मोगर रो साग आगेई भावे नहीं।

सेठानी—अरे हां सा, म्हें तो भूल ई गी। म्हारी गलती माफ करा जो। तो पछे कांई बणाऊं, अबे तो आप ई बताओ।

सेठ—

**पावणा तो आविया ने, दीसे पूरा भोला जी।
और जीवण तो जावण दो, कर दो पतला पटोला जी॥**

सुनकर सेठानी बहुत खुश हुई। बोली—सेठ साब! अबके आप बढ़िया बात कही। पटोलियो न तो गरम करेला और न कब्जी करेला। बण भी जल्दी जावेला पिण.....

पावणा बैठे हुए अब तक सुन ही रहे थे। यह भी सुन लिया कि “पावणा भोला है”—सोचा मन में कि अब यदि चुप रहता हूँ, शंका रखता हूँ तो पटोलिया भी खाने को शायद ही मिले फिर तो पानी पीकर ही सन्तोष करना पड़ेगा। वे लाज-शर्म त्यागकर बोले—

**वाह वाह सा मैं आपने, लिया आछी तरह पिछाण जी।
पटोलिया सूं नीचे उतर्या तो, थां ने परमेसररी आण जी॥**

बन्धुओं! इस प्रसंग को कहने का तात्पर्य यह है कि संवत्सरी के पावन अवसर पर आप लोगों को भी उपवास से नीचे नहीं उतरना है। एक उपवास तो दृढ़ता के साथ छोटे-बड़े घर के सभी लोगों को यथाशक्ति करना ही है। अशक्तता, बीमारी या अधिक छोटे बच्चों की बात अलग है। एक उपवास की इस बात के लिए हम मुनिजनों का, जैसा कि मैंने अभी आपसे कहा सिगड़ी न्यौता है आपको। आप तो कई बार लोगों को न्यौता देते हैं, इस बार हमारा न्यौता स्वीकार कर चौबीस घण्टों का तिविहार या चउविहार उपवास-पौषध के प्रत्याख्यान अवश्य करें।

आपसे तो एक उपवास की बात ही कही जा रही है। जिन आदर्श राजरानियों के वर्णन आपके सम्मुख आयेंगे, उनकी तपश्चर्या का विवरण आप सुनेंगे तो आश्चर्यचकित रह जायेंगे। मन अपने आप कह उठेगा—धन्य है उन तपस्विनी भव्यात्माओं को!

□ साध्वी काली आर्या द्वारा तपश्चरण और मुक्ति

बन्धुओं! इन दस राजरानियों से साध्वी बर्नी आर्याओं में काली आर्या ने पूरे आठ वर्ष तक शुद्ध चारित्र-धर्म का पालन किया और रत्नावली नामक विशेष तप करके शरीर को इस तरह सुखा दिया कि अन्दर की नसें स्पष्ट दिखाई देने लगीं। चार परिपाटी वाले इस तप विशेष में प्रत्येक परिपाटी के चार सौ बहत्तर दिन होते हैं जिसमें तीन सौ चौरासी दिन तपोपवास के और अठासी दिन पारणा के होते हैं। चार परिपाटी में कुल पाँच वर्ष दो मास और अठावीस दिन लगते हैं। (विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट भाग देखें) पहली परिपाटी में सर्वकामगुण (विगय वर्जित नहीं), दूसरी में विगयरहित पारणा, तीसरी में लेपरहित और चौथी परिपाटी में आयंबिल से पारणा किया जाता है।

इस प्रधान-तप के पश्चात् जैसे कोयले से भरी गाड़ी में चलते समय खड़-खड़ की आवाज निकलती है वैसे ही उठते-बैठते, चलते-फिरते काली आर्या की हड्डियाँ भी कड़-कड़ बोलने लगीं। इस पर भी तपस्या के तेज से उनका शरीर अत्यन्त आभावान बना रहता था जैसे राख ढकी आग भीतर से प्रज्वलित बनी रहती है।

काली आर्या ने अपने अन्तिम समय में एक मास की संलेखना की, संथारा किया और आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बर्नी।

□ सुकाली आदि अन्य रानियों की तपःसाधना एवं मुक्ति

सुकाली आर्या ने कनकावली विशेष तप किया और नव वर्ष संयम पालन किया।

महाकाली आर्या ने लघुसिंह-निष्क्रीडित विशेष तपाराधन किया।

आर्या कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीडित नामक विशेष तप किया।

सुकृष्णा आर्या ने सप्त-सप्तमिका, अष्ट-अष्टमिका, नव-नवमिका व दस-दसमिका नामक चार प्रकार की भिक्षु-प्रतिमाओं का तपाराधन किया।

आर्या महासेनकृष्णा ने 'लघु-सर्वतोभद्र' नामक विशेष तप की आराधना की।

आर्या वीरकृष्णा ने 'महासर्वतोभद्र' तप, आर्या रामकृष्णा ने 'भद्रोत्तर प्रतिमा' नामक तप, पितसेनकृष्णा आर्या ने 'मुक्तावलि' तप तथा महासेनकृष्णा ने 'आयम्बिल-वर्द्धमान' नामक विशेष तप का आराधन किया।

(इन सभी के तपों की विधि, विधि में कुल परिपाटियाँ, तपस्या के दिन, पारणे के दिन, कुल दिन आदि का वर्णन 'परिशिष्ट' में देखें।)

□ आत्म-शुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति के लिए तप आवश्यक

इन सभी रानियों ने भी काली आर्या की ही तरह विभिन्न अनेक छोटे-मोटे तप और किये। अन्त में सभी ने संलेखना-संधारा किया और मोक्षगति को प्राप्त किया।

बन्धुओं! उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान महावीर ने फरमाया है—

“भवकोडी-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।”

(उत्तराध्ययन ३०/६)

अर्थात् करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्झरित हो जाते हैं।

आचारांग निर्युक्ति में कहा गया है—

“भावुवहाणेण सुज्झए कम्मट्ठविहं।”

अर्थात् आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

□ बहाने मत बनाइए

आपसे कहते हैं तप करने का तो आप लोग अनेक बहाने बना देते हैं। एक श्रावक जी से कहा—“श्रावक जी! आप व्याख्यान सुनने नहीं आते?”

श्रावक जी बोले—“क्या करूँ महाराज? अत्यधिक कमर-दर्द के कारण बैठ नहीं सकता। चलता हूँ तो घुटनों के दर्द के कारण अधिक चला नहीं जाता। नजर (दृष्टि) भी कम हो गई है, अतः आँखों से बराबर नजर नहीं आता।”

मैं उनसे क्या कहता? इतने बहाने सुनने के बाद भला कहने को रह ही क्या गया?

एक दिन गोचरी जा रहा था कि श्रावक जी पर दृष्टि पड़ी। वे पूर्ण स्वस्थ दिखाई दे रहे थे। बिना किसी सहारे के खड़ी कमर बैठे थे और बहियों में जमा-खर्च कर रहे थे। उनकी नजर भी मुझ पर पड़ी। खड़े हो गये, नीचे आये दुकान से और वन्दन किया। मैंने

कहा—“दया पालो श्रावक जी! जमा-खर्च कर रहे थे। बहियों के अक्षर तो नजर आ जाते हैं। हैं न?”

बोले—“अरे महाराज! दुकानदारी तो करनी ही पड़ेगी। इसे छोड़ दूँ तो काम कैसे चलेगा?”

□ पेट और पेटी की नहीं, ठेट (मोक्ष) की चिन्ता करिए

बन्धुओं! यही हाल है आप लोगों का भी। पेट की चिन्ता पशु करता है। आपको पेट की चिन्ता तो है नहीं, पर पेटी की बड़ी चिन्ता है। हर पल, हर क्षण यह चिन्ता करते रहते हैं कि कब यह पेटी भरे? कैसे, क्या करूँ कि तिजोरी ओटे आ जाये, बैंक-बैलेंस नौ-दस अंक पार कर जाये! पेट की चिन्ता, पेटी की चिन्ता पर ठेट की कोई चिन्ता नहीं। ठेट के लिए धर्मध्यान की बात चलती है तो आपके पास सैकड़ों बहाने तैयार मिल जाते हैं।

कथा-प्रसंग : एड़ा गनायत ने कांई करां

एक बार एक बड़े शहर में प्रवास किया। स्थानकवासियों के लगभग चार सौ घर थे वहाँ और मन्दिरमार्गी-जैनों को भी गिनें तो छह सौ के लगभग जैन रहते थे। शेषकाल का समय व्यतीत हो रहा था। लोगों की भक्ति अच्छी थी। धर्मध्यान का ठाट जमने लगा। कुछ दिन व्यतीत हुए तब ज्ञात हुआ कि अमुक सेठ प्रवचन सुनने, दर्शन करने, धर्म-लाभ प्राप्त करने नहीं आ रहे। एक दिन भिक्षाचरी के समय उनकी सार-सँभाल ले ली। गये गुरुदेव उनके घर। पूछा—“श्रावक जी! क्या बात है? स्थानक नहीं आते? प्रवचन के समय क्या कहते हैं?”

सेठ बोले—“महाराज! शरीर साथ नहीं देवे! बीमारी पिण्ड में पड़गी। घणो ई इलाज करायो पर शरीर सूं रोग निकल्यो नहीं। अबे तो ओ शरीर निकामो हुय गयो। चालीजे-फिरीजे नहीं। कीकर आऊं बखाण सुणवा?”

गुरुदेव ने सुनी श्रावक जी की बात। उनको लगा कि शरीर तो बीमार कम है पर आत्मा बीमार पूरी तरह है।

कुछ दिन बीत गये इस बात को। एक दिन मध्याह्न पश्चात् किसी श्रावक के घर मांगलिक सुनाकर लौट रहे थे तो उन सेठ जी को सूटकेस लेकर बस-स्टैंड से बाहर आते देखा। गुरुदेव रुके। श्रावक जी ने बताया कि उनका एक लड़का मुम्बई में रहता है। उसी के लड़के की अर्थात् सेठ जी के पोते की शादी थी, अतः वहाँ जाना पड़ा।

गुरुदेव ने कह दिया—“अरे भोले श्रावक जी! आप इतने बीमार ! तन में शक्ति नाम मात्र की नहीं। स्थानक तक भी आया नहीं जाता आपसे और पोते की शादी में मुम्बई जाकर वापस आ गये।”

सेठ बोले—“घर-गृहस्थी रा अड़िया काम तो करणा पड़े बाब जी! पोता री शादी में दादो नहीं जावे तो पछे उण शादी रो काँई उमाव ?”

गुरुदेव ने सेठ के चेहरे को देखा और बोले—“श्रावक जी! बात उमाव की भले ही करो पर आपका चेहरा चुगली खा रहा है। लगता है शादी से मन खुश नहीं हुआ।”

श्रावक जी बोले—“बात तो आप सही फरमावे हो। शादी तो घणी जोरदार करी पर.....”

गुरुदेव ने कहा—“पर क्या ? गनायतों (लड़की वालों) से बोलचाल हो गई क्या ?”

श्रावक जी ने उत्तर दिया—“गुरुदेव! दुःख तो इण बात रो ईज है के वे लोग बोलचाल रो मौका ई नहीं दिया। आपरी बेटी ने वे पाँच किलो सोनो अर पचास किलो चाँदी दीवी। दूजो ई अणूतो सामान दियो। बस नहीं दिया तो दादा-दादी ने कीं नहीं दियो। दादा-दादी के नाम माथे पाँच तोला सोनारी चैन भी उणारे गले नहीं उतरी। एड़ा गनायत ने काँई करां ?”

प्रसंग सुनाने का तात्पर्य यह है कि धर्मध्यान के नाम पर कुछ न कुछ बहाना बना लेना आज साधारण बात हो गयी है। आत्मोन्नति के लिए इन बहानों को त्यागना होगा और धर्म के पथ पर कदम रखने होंगे।

□ इच्छापूर्वक इच्छाओं का निरोध-तप है

बन्धुओं! पर्व के ये पावन दिन, अन्तगडसूत्र में वर्णित ९० मुक्तात्माओं के पावन जीवनादर्श ये बताते हैं कि आत्मा से परमात्मा बनने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की साधना-आराधना करनी होगी। ठेट का चिन्तन कीजिए, ठेट के लिए कार्य कीजिए। बहाने

बनाने अब छोड़ दीजिए। मन में दृढ़ विचार बना लीजिए कि कल, संवत्सरी को तो उपवास करना ही है।

बीमारी आती है। डॉक्टर ने कहा—“खून टेस्ट कराओ, मल-मूत्र की जाँच कराओ। भूखे पेट आओ।” आप जाते हैं बिना कुछ खाए-पीए। सुबह चाय का व्यसन है पर डॉक्टर ने कहा है कि कुछ भी खाना-पीना नहीं तो चाय भी नहीं पीयेंगे। यहाँ गुरुदेव जी कहते हैं उपवास के लिए तो कहते हैं—“बाब जी! चाय बगैर नहीं चलता। चाय की छूट रख दीजिए फिर उपवास करा दीजिए।”

हमसे तो छूट माँग ली पर डॉक्टर से छूट माँगो तो? डॉक्टर के पास गये सुबह आठ बजे। डॉक्टर ने कहा—“एक बजे आना।” वापस घर गये। एक बजा। फिर डॉक्टर के पास गये। डॉक्टर बोला—“कल आना।” आप क्या करेंगे? आप कुछ नहीं कर सकते, कह नहीं सकते। कल फिर जाना है तो जाना ही पड़ेगा। कभी टेस्टिंग बराबर नहीं हो पाता तो पुनः भूखा भी रहना पड़ सकता है। डॉक्टर कह दे अमुक वस्तु मत खाना तो वह वस्तु छोड़ देंगे। ब्लड प्रेशर हाई है तो नमक, घी छुड़वा दिया जाता है। शुगर हो तो मिठाई, आलू, चावल छुड़वा दिये जाते हैं। डॉक्टर के कहने से आप भूखे रह सकते हैं, स्वाद पर नियन्त्रण कर सकते हैं, मन जिन चीजों को खाने के लिए ज्यादा से ज्यादा करता है उन चीजों का त्याग करना पड़ जाता है पर इच्छापूर्वक त्याग करना हो, नियन्त्रण रखना हो, भूखे रहना हो तो काम बड़ा टेढ़ा हो जाता है।

□ तपश्चरण के लिए तत्पर बन जाइए

पर्युषण में करणीय आवश्यक कार्यों का पूर्व-आचार्यों ने जो उल्लेख किया है उनमें—“तपश्चरण, आत्मालोचन और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण के साथ क्षमापना-क्षमायाचना मुख्य हैं।”

मैं बहुत छोटा था, छह-सात का तब देखा करता था कि पर्युषण के साथ ही जैन घरों में विशेष उत्साह पैदा हो जाता था। हम छोटे-छोटे बच्चे भी धर्मध्यान करने के लिए बहुत उत्साहित बने रहते थे। मेरे बहुत से बाल-साथियों का मन अपने आप उपवास, एकासन आदि करने को हो जाता था। मेरी उम्र के कितने ही बालक-बालिकाएँ बेला-तेला भी कर लेते थे। माता-पिता इसे बालकिया तेला कहते थे। इस तरह के तेले करने हेतु माताएँ अपने

बच्चों को विशेष उत्साह, प्रेरणा देती थीं। उपवास, एकासना, आयंबिल, दया, बेला, तेला आदि तपस्याओं की होड़-सी लग जाती थी।

शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश है कि इन पर्व-दिनों में विशेष प्रकार के तपश्चरण के लिए तत्पर बनना चाहिए। प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्तव्य है कि वह इन दिनों हरी वनस्पति का पूर्णतः त्याग करे, रात्रि-भोजन का त्याग रखे, विगयों की मर्यादा रखे, एकासना आदि व्रत करे। इस तरह त्याग करने से ही आत्मा की संकल्प-शक्ति में वृद्धि होती है।

मुनि भगवंत माता की भाँति आप श्रावक व श्राविकाओं की मनवार करते हैं। माता अपने बालक को किस तरह लाड़-लड़ाकर, पुचकारकर खिलाती-पिलाती है। बालक खा लेता है तो कैसी संतुष्टि का अनुभव करती है। नहीं खाता-पीता है तो कैसा दुःखी बनता है उसका मन।

मुनि भगवंत भी प्रेरित करते हैं आपको कि पाप से बचें, धर्म करें, तप के द्वारा कर्मबन्धनों को क्षीण बनावें। यदि आप करते हैं ऐसा तो यह सन्त-सती वर्ग के लिए अवश्यमेव संतुष्टि का विषय होगा और आपके लिए आत्म-कल्याण का।

आनंद ही आनंद !



सांवत्सरिक प्रवचन

आत्मालोचन व क्षमापना

सम्पूर्ण जैन समाज के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना का पर्व है—‘सांवत्सरिक महापर्व !’ इस पुनीत पर्व की आराधना करने का, अनेकानेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ इन्हें मनाने का एक अद्भुत उल्लास और उमंग जिनोपासक वर्ग के हृदय में रहता है। यही वह पावन पर्व दिवस है जिस दिन प्रत्येक आत्म-साधक अपने वर्षभर के जीवन-व्यवहार का मूल्यांकन करता है, अपने द्वारा जाने-अनजाने में जो भी दुष्कृत्य-पाप हुए हों उनकी शुद्ध मन से आलोचना करता है तथा भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए दृढ़ता के साथ संकल्पित होता है।

यह महापर्व एक लोकोत्तर पर्व है। यह पर्व हमारे हृदय में प्राणी मात्र के प्रति आत्म-तुल्य भाव जगाता है। यही पर्व हमारे भीतर की राग-द्वेष रूपी ग्रन्थियों का छेदन करता है। यही पर्व जन-मन-मानस में सरलता, विनयशीलता, अमत्सरता जैसे अनेक मानवीय गुणों को प्रकट करने में एक सच्चे हितैषी की तरह सहायता करता है।

“मिन्ती मे सव्व भूएसु” का अमर सन्देश देने वाला और क्षमा की अमृतधारा से हृदयों की कलुषता धोने वाला महान् पर्व है यह संवत्सरी। आत्म-शांति और आत्म-ज्ञान की ज्योति प्रकटाने वाला पावन पर्व है यह संवत्सरी। इस पर्व की उपासना, आराधना का मूल उद्देश्य है—राग-द्वेष की उपशांति।

□ आगम में संवत्सरी शब्द का उल्लेख नहीं

आगमशास्त्रों में संवत्सरी का सीधा उल्लेख कहीं नहीं मिलता, पर पर्युषण की प्ररूपणा का उल्लेख अवश्य मिलता है। समयावांग नामक अंगसूत्र के ७०वें समवाय में पर्युषण के लिए जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है—“समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसराइए मासे बइक्कंत सतरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेइ।”

अर्थात् श्रमण भगवान महावीर स्वामी वर्षाकाल के एक मास बीस रात्रि (कुल पचास दिन) व्यतीत हो जाने पर तथा सत्तर (७०) दिन-रात शेष रहने पर वर्षावास के लिए पर्युषित हुए।

टीकाकारों ने समवायांग के इस कथन को और अधिक स्पष्ट किया है। समवायांग वृत्ति पत्र ७६ तथा दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति, गाथा ७ में इस प्रकार कहा गया है—“आषाढी पूर्णमासी से पर्युषण के लिए योग्य स्थान की गवेषणा करें। यदि उचित स्थान न मिले तो भाद्रपद शुक्ला पंचमी को वृक्ष के नीचे भी स्थित होकर पर्युषण का प्रतिक्रमण करें।” यह कथन चातुर्मास काल में अधिक मास न होने की अपेक्षा से है।

आगम-कथन और टीकाकारों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि आगम में संवत्सरी शब्द नहीं है, पर्युषण शब्द है और वह पर्युषण भाद्रपद शुक्ला पंचमी को एक दिन का होता रहा है। मेरे विचार में प्रभु महावीर का वर्षाकाल के ५० दिन बाद व ७० दिन पहले वर्षावास हेतु पर्युषित होने अर्थात् एक स्थान पर ठहरने का जो उल्लेख है वह एक साधारण प्रसंगोल्लेख मात्र है। उन्हें नहीं मिला उचित स्थान। वर्षा प्रारंभ हो गयी। पचास दिन बीत गये तब उचित स्थान मिला तो वे वहाँ वर्षावास हेतु “पज्जोसवेइ” परिवस्थित हो गये। आचार्य श्री लालचंद जी म. सा. ने पर्युषण के अपने प्रवचनों में पर्युषण शब्द के लिए प्राकृत शब्द “पज्जोसेवणा” बताते हुए इसका अर्थ किया है—साधक का साधना हेतु वर्षाकाल के समय एक स्थान पर वास करना। दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र आदि के प्राचीन मूल पाठों में संवत्सरी का कोई वर्णन नहीं मिलता। वृत्तिकारों, टीकाकारों एवं आगमवेत्ता आचार्यों ने जो व्याख्याएँ, वृत्तिकाएँ, टीकाएँ लिखी हैं उनमें पर्युषण को रूढ़ मानकर चातुर्मास पश्चात् ५०वें दिन को पर्युषण दिवस कहा है। वर्षों बाद उस पर्युषण को आचार्यों ने पर्व के रूप में विस्तार देकर उनमें ७ दिवस जोड़कर ८ दिन का अष्टाह्निक पर्व बना दिया। ये दिवस पर्युषण से पूर्व जोड़े गये और अंतिम दिन को ‘संवत्सरी’ कहा गया।

□ क्या संवत्सरी शाश्वत है ?

बन्धुओं! इतना सब होते हुए भी एक बात ध्यान रखने की है। वह यह कि क्या संवत्सरी तब भी विद्यमान थी? उससे पूर्व भी थी और अनादिकाल से विद्यमान है यह।

□ 'संवत्सरी' का इतिहास (ऐतिहासिक घटना जिसके कारण संवत्सरी पर्व मनाया जाना प्रारम्भ हुआ।)

वस्तुतः संवत्सरी शब्द का निर्माण 'संवत्' में 'सर' जोड़कर, 'ई' प्रत्यय लगाकर हुआ है।

'संवत्' का अर्थ है—वर्ष।

'सर' का अर्थ है—सर करना, जीत लेना, पार कर लेना।

जिस वर्ष को हम पार कर लेते हैं और उसकी स्मृति में जो आयोजन करते हैं उसी का नाम है—'संवत्सरी'! आज जिस 'संवत्सरी' पावन पर्व को हम मना रहे हैं, उसके मनाने के पीछे आगमिक कारण कुछ भी हो सकता है, परन्तु कथा भाग में ऐतिहासिक घटना का उल्लेख मिलता है।

आगमों में एक कालचक्र को दो भागों में विभाजित किया है। पहला है उत्सर्पिणी काल, जिसमें जीवों को मानसिक, वाचिक व कायिक बल एवं सौन्दर्य निरंतर वृद्धि पाता रहता है। उसके विचार अधिकाधिक शुभ बनते चले जाते हैं। दूसरा है अवसर्पिणी काल। इस काल में जीवों के उक्त बल आदि गुण उत्तरोत्तर हीन होते चले जाते हैं तथा भावों में अशुभता निरंतर बढ़ती चली जाती है। इन दोनों कालों के ६-६ भाग होते हैं। प्रत्येक भाग आरा कहलाता है। उत्सर्पिणी में आरों का क्रम है—(१) दुषमा-दुषम, (२) दुषम, (३) दुषमा-सुषम, (४) सुषमा-दुषम, (५) सुषम, (६) सुषमा-सुषम। अवसर्पिणी काल में इनका क्रम ठीक उल्टा चलता है, अर्थात् प्रथम आरा सुषमा-सुषम तो अंतिम दुषमा-दुषम।

अवसर्पिणी काल का अंतिम दुषमा-दुषम २१,००० वर्ष का होता है और उसके ठीक बाद उत्सर्पिणी काल का प्रथम वही दुषमा-दुषम नाम का आरा भी २१,००० वर्ष का होता है। इन ४२,००० वर्षों में धर्मकर्म, नित्य-नियम आदि सभी अध्यात्म अनुष्ठानों की समाप्ति हो जाती है। मानव की आयु क्रमशः घटते-घटते उत्कृष्ट २० वर्ष रह जाती है। शरीर की ऊँचाई केवल एक हाथ की रहती है। रात्रि में अतिशीत और दिन में अतिताप रहता है। माँस ही लोगों का आहार होता है। इस युग के लोग पशुओं की भाँति वैताढ्य पर्वत के बिलों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। भयंकर आँधियाँ चलती हैं। धूलि-व्याप्त

होने के कारण दिशायें प्रकाशशून्य हो जाती हैं। मेघ आग बरसाते हैं। भूमि अंगारों के समान उष्ण रहती है। पशुओं और मनुष्यों के हाहाकारों से आकाश गूँज उठता है। दुःख ही दुःख होता है।

ऐसे भयंकर दुःख के ४२,००० वर्षों की समाप्ति पर उत्सर्पिणी काल का दूसरा 'दुषम' नामक आरा श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन प्रारम्भ होता है। इस आरे के आरंभ होते ही पाँच प्रकार की वृष्टि सम्पूर्ण भरत-क्षेत्र में होती है।

सर्वप्रथम **पुष्कर** नामक मेघ सात दिन-रात तक निरंतर वर्षा करता है। इससे भूमि की उष्णता समाप्त हो जाती है, इसके पश्चात् सात दिन तक वर्षा बन्द रहती है। फिर लगातार सात दिन तक क्षीर नामक मेघ दूध के समान वर्षा करते हैं। इससे भूमि की दुर्गन्ध दूर हो जाती है। फिर सात दिन तक वर्षा बंद रहती है। फिर **घृत** नामक मेघ सात दिन तक निरन्तर बरसते हैं। इससे भूमि में स्निग्धता आ जाती है। तदनन्तर सात दिनों तक लगातार अमृत के समान **अमृत** नामक मेघ बरसते हैं। इस वर्षा से २४ प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य सब वनस्पतियों के अंकुर भूमि से फूट पड़ते हैं। फिर इक्षुरस के समान **रस** नामक मेघ सात दिन लगातार वर्षा करते हैं। इससे वनस्पतियों में मधुर, कटुक, तीक्ष्ण, कषैले और अम्ल रस की उत्पत्ति होती है। धीरे-धीरे पृथ्वी विभिन्न वनस्पतियों से हरी-भरी हो जाती है। पत्र, पुष्प, लता आदि से सम्पूर्ण धरा की गोद भर जाती है। वह किसी सजी-सजाई वस्त्राभूषणों से अलंकृत नयी-नवेली दुल्हन की तरह सौन्दर्यमयी, रूपमयी, रसमयी, आनंदमयी एवं जीवनमयी दिखने लगती है।

पाँच सप्ताह वर्षा के और दो सप्ताह बिना वर्षा के कुल सात सप्ताह अर्थात् $7 \times 7 = 49$ दिन का समय व्यतीत हो चुका होता है। पचासवें दिन सूर्योदय होने पर, बादलों के खुलने पर, स्वर्णमयी रवि-रश्मियों के धरा-स्पर्श हो जाने पर बिलों में रहने वाले, अत्यंत दुःख से अब तक दुःखित वे मानव बाहर निकलते हैं। आश्चर्यपूर्वक धरा को, आकाश को, चारों दिशाओं को निहारते हैं। हरियाली को देखकर प्रसन्न होते हैं, किलकारी मारते हैं, उछल-उछलकर शस्य-श्यामला धरा पर अपने मन का आनंद बिखेरते हैं। धरा के आनन्द में मानव का आनंद एकाकार हो जाता है। वृक्षों पर लगे हरे-भरे रस-परिपूर्ण फल उन्हें आकर्षित करते हैं। वे उन्हें तोड़कर, चखकर उनका रसास्वादन करते हैं। परम तृप्ति का

अनुभव कर वे सभी एक स्थान पर एकत्रित हो संकल्प करते हैं कि—प्रकृति ने जब धरती की गोद में ऐसे अमृतमय, उदर-पूर्ति को पूर्णतः शांत करने वाले फल आदि दे दिये हैं तब पशु-पक्षियों के माँसाहार की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? अतः आज से हम सभी माँसाहार का पूर्णतः त्याग करते हैं। हम यह भी संकल्प लेते हैं कि आज के बाद हममें से जो कोई माँसभक्षण करेगा तो शेष व्यक्ति उससे कोई व्यवहार नहीं रखेंगे, उससे भाषण तक नहीं करेंगे, उसकी छाया तक से दूर रहेंगे।

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से ४९ दिन बीत जाने पर ५०वें दिन को उपर्युक्त मानव संकल्प, एक अति पुनीत पावन संकल्प, अधर्म से धर्म और पाप से पुण्य की ओर बढ़ने वाला संकल्प लिया था मानव-जाति ने। हिंसा को त्यागकर अहिंसा को अपनाया गया था, उस महान् संकल्प के द्वारा। अहा! कितना महनीय दिवस था वह!

एक निश्चित तथ्य यह है कि पूर्वाचार्यों की अपेक्षा से वही दिन अनादिकाल से महान् धार्मिक पर्व रहा। दुःखों के एक युग से इस दिन मानव-जाति बाहर निकली, दुःखों के सागर के एक लम्बे युग को पार किया उन्होंने, अतः वह धर्म-पर्व, अहिंसा पर्व 'संवत्सरी' के नाम से अभिहित हुआ।

एक पर्व की जब शुरूआत होती है तो उसमें अनेक नये प्रसंग समय-समय पर जुड़ जाते हैं। कालांतर में कभी उद्भव स्थल अर्थात् मुख्य कारण, उद्देश्य, प्रसंग, घटना, गौण हो जाती है और कोई अन्य प्रसंग मुख्य बना दिया जाता है। हो सकता है यही संवत्सरी के साथ हुआ। वर्तमान में जिस 'पयुर्षण' को संवत्सरी के रूप में मनाया जा रहा है, हो सकता है उसका उपरोक्त घटना से सम्बन्ध न भी हो, क्योंकि आगम के मूल पाठ में सप्त दिवसीय पाँच वर्षा का तो उल्लेख मिलता है पर सप्त दिवसीय दो उघाड का उल्लेख नहीं मिलता।

यहाँ प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि अनादिकाल से यह प्रतिवर्ष कैसे निरंतर मनाई जाती रही और मनाई जा रही है। आज भरत-क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है, केवली या तीर्थंकर भी नहीं है, होते तो शत-प्रतिशत सत्योत्तर प्राप्त हो जाता। आज तो सत्य के निकट पहुँचने का दम भरा जा सकता है पर सत्य ही है—ऐसा भला कौन कहे? 'संवत्सर' की प्रथम प्रतिज्ञा का पुनरावलोक प्रतिवर्ष होता रहा। मानव समूह प्रतिवर्ष मिलता रहा। एक-दूसरे

से संकल्प पर दृढ़ बने रहने का हाल मालूम करता रहा। व्यवहार में किसी के द्वारा किसी को दुःख दिया तो कभी दुःखी अपना दुःख कहता, कभी कोई नहीं भी कहता, फिर भी कटु व्यवहार करने वाले के द्वारा क्षमा याचना की परम्परा चली। एक दिन ऐसा भी आया जब विगत वर्ष में अपने प्राचीन संकल्प के साथ-साथ कुछ ने नये जो संकल्प लिए उनकी भी आलोचना की, क्षमा याचना भी हुई। इसी तरह आज का यह विकसित रूप कई हजार वर्षों में बना पर साथ ही उसमें अन्य घटनाएँ जुड़ीं। आगम पाठ के कुछ अंश जुड़े। टीकाकारों की भावनाओं का स्पर्श जुड़ा। यद्यपि आज स्थिति कुछ भिन्न बन गयी है। अहिंसा और प्रेम की नींव पर एक-एक ईंट चुनकर बनाये गये इस पर्वरूपी विशाल महल की कई दीवारें ढह गयी हैं तो कई ढहने की तैयारी में हैं, पर आज हम इस विषय को छेड़ेंगे नहीं।

बंधुओं! समय व्यतीत होता गया। बाद के आचार्यों ने समय के प्रभाव में आकर मानव को धर्म से ज्यों-ज्यों दूर होते देखा, जड़ बुद्धि होते देखा तो चिन्तन किया कि आने वाले समय में एक दिन का पर्व ही रहा तो मानव इसके महत्त्व को विस्मृत कर सकता है, इस पर्व से उदासीन बन सकता है। बहुत सोच-विचारकर उन्होंने पर्व के पूर्व, भूमिका के रूप में, पर्व की तैयारी के रूप में सात दिवस और जोड़कर इसे अष्टाह्निक पर्व का रूप दिया।

आज हम सभी इस अष्टाह्निक पर्व को पूर्ण रूप से धार्मिक-क्रियाओं को करते हुए व्यतीत करते हैं पर वे क्रियाएँ, वे धर्मानुष्ठान पारम्परिक से बनकर रह गये हैं। उनको करने के पीछे जो उद्देश्य, जो भावनाएँ हैं, उनके मूल उद्देश्यों को भुला दिया गया है। किसी भी धर्मानुष्ठान को करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसकी विधि, उसके उद्देश्य आदि को जानें। यही धर्म का मर्म है। जानेंगे नहीं, समझेंगे नहीं इस मर्म को तो उन धर्मानुष्ठानों का पूरा लाभ, पूरा प्रतिफल आपको नहीं मिल पायेगा। जानना है धर्म के मर्म को तो जीवादि नौ तत्त्वों की जानकारी कीजिए।

जोधपुर के महाराजा मानसिंह जी कवि-हृदय व्यक्ति थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा—

धर्म धर्म सब कोई कहे, कर्म न जाणे कोय।
जात न जाणे जीव की तो, धर्म कहाँ से होय ॥

बंधुओं! जीवादि तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक् फल की प्राप्ति नहीं होती। आप उपवास करते हैं पर क्या है उपवास? यदि यह नहीं जानते तो उपवास का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होगा। उपवास का अर्थ है—“आत्मा के निकट वास करना।” किसी बात की जानकारी नहीं हो तो कैसे विचित्र उत्तर मिलते हैं, याद करके बरबस हँसी आ जाती है।

तब मैं गुरुदेव के साथ विहार में था। थली का क्षेत्र, रेत के टीबे ही टीबे, छोटे-छोटे गाँव और ढाणियाँ। ऐसे गाँव जहाँ वर्षों से किसी साधु-संत का आगमन नहीं हुआ था। जैनियों के घर उन ग्रामों में बहुत कम थे। जो थे वे भी जैनाचार, जैन-विचार, जैन-सिद्धांतों से अनभिज्ञ, अनजान। ऐसे ही एक गाँव में गये। वहाँ एक श्रावक जी अपने आपको शास्त्रों के ज्ञाता मानते थे। लोग भी कहते थे कि हमारे गाँव में तो ये ही जानकार हैं। ये स्वयं भी कहा करते थे कि “मैं जानकार हूँ, ज्ञाता हूँ। मेरे पास अनेक हस्तलिखित ग्रंथ हैं। आप कुछ सीखना चाहें तो सिखा सकता हूँ।”

संत तो होते ही ज्ञान के पिपासु हैं। उनका तो प्रलोभन होता ही है ज्ञान, ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों के प्रति। मैं भी आकर्षित हुआ उनकी ओर। वे बातें करने लगे। दो-चार बातें कहीं उन्होंने तो मैं पहचान गया कि नामधारी श्रावक हैं, ज्ञान-वान कुछ है नहीं इनमें। परीक्षा लेने की इच्छा हुई। पूछा—“आप पच्चीस बोल तो जानते ही होंगे?”

बोले वे—“पच्चीस ही क्यों, अनेक बोल जानता हूँ।”

पूछा मैंने—“जीवों की जातियाँ कितनी होती हैं?”

कहा उन्होंने—“जातियों का क्या? बहुत-सी जातियाँ होती हैं।”

मैंने कहा—“आगम में तो जीव की पाँच जातियों का उल्लेख आया है।”

वे बोले—“हाँ, हाँ! मुझे आता है।”

मैंने पूछा—“पंचेन्द्रिय में कौन आता है?”

बोले—“हाथी।”

मैंने फिर पूछा—“चउरिन्द्रिय में?”

बोले—“ऊँट।”

सुना तो मन ने कहा—श्रावक जी तो पूरे ठूँठ हैं। फिर पूछा—“त्रीन्द्रिय में?” वे बोले—“घोड़ा।”

मैंने पूछा—“कैसे?” तो बोले—“महाराज! आप शायद जानते नहीं। मैं बता देता हूँ। हाथी के चार पैर और एक सूँड़ अतः पाँच इन्द्रिय वाला। ऊँट के चार पैर अतः चार इन्द्रिय वाला। अब रही घोड़े की बात।”

मैंने कहा—“हाँ! घोड़े के भी तो चार पैर होते हैं?”

वे बोले—“महाराज! घर-बार छोड़ा, संत बने, गाँव-गाँव घूमे पर इतना भी ज्ञान नहीं। घोड़ा जब खड़ा रहता है तो तीन टाँग पर खड़ा रहता है।”

आगे जब मैंने बेइन्द्रिय का पूछा तो बोले—“मैं स्वयं!” और एकेन्द्रिय का पूछा तो बोले—“आप संत लोग!” फिर स्वयं ही स्पष्ट करते हुए कहा—“हम गृहस्थ शादीशुदा हैं, घणी और लुगाई दो होने से बेइन्द्रिय और आप संत-सती अकेले ही होते हैं अतः एकेन्द्रिय।”

□ केवलीभाषित दयामय धर्म का पालन जीव की जाति का ज्ञान न हो तो कैसे होगा?

बंधुओं! ऐसे लोगों के लिए ही कहा गया कि “जात न जाणे जीव की, धर्म कहाँ से होय।” धर्म होता है—“दया में।” कहते हैं न आप और हम—“केवलीभाषित दयामय धर्म।” पर जीवों की जाति का ही ज्ञान नहीं तो दया कैसे होगी? कहाँ से आयेगी अनुकम्पा? जहाँ जीवों की रक्षा का, अहिंसा का, हिंसा से बचने का चिन्तन नहीं वहाँ धर्म कैसे हो सकता है?

□ दया का विचित्र अर्थ

किसी बड़े शहर में चातुर्मास था। कॉलेज के अनेक युवक आते थे। प्रेरणा दी उन्हें तो कई युवक एक दिन दयाव्रत अंगीकार करने को तैयार हो गये। कॉलेज के अवकाश के दिन अनेक कॉलेज-छात्रों ने व्याख्यान में दया के प्रत्याख्यान लिये। व्याख्यान समाप्त हुआ। वन्दना करने आये वे छात्र। मैंने कहा—“दया पालो।” वे बोले—“महाराज सा.! दया तो कल प्रातः तक ले रखी है, अभी कैसे पालें?” मैंने पूछा—“दया का मतलब क्या?” एक बोला—“खूब सामायिकें करना।” दूसरा बोला—“मीठा भोजन बनेगा, उसे खाना।”

मुझे उनका उत्तर सुनकर मन में हँसी भी आयी और खेद भी हुआ। हँसी तो आनी ही थी। उनका उत्तर ही ऐसा था। खेद उत्पन्न होने का कारण था—उनका अज्ञान। युवा पीढ़ी के इस अज्ञान के कारण हैं—आप! आप यदि उन्हें बचपन से रास्ता बताते, संस्कार देते, अपने साथ येन-केन-प्रकारेण उन्हें गुरुओं के सम्पर्क में बार-बार लाते तो उन्हें ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता।

मैंने उन सभी युवकों को दयाव्रत का अर्थ, विधि, उद्देश्य आदि समझाये। उन्हें बताया कि व्रत का मूल उद्देश्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस—इन षट्काय जीवोंकी रक्षा करना, इनकी विराधना से बचना, इन्हें अभय प्रदान करना है। त्रस का अर्थ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों से है। विराधना का तात्पर्य है—किसी जीव को सामने आते हुए को रोकना, धूल आदि से इन्हें ढँकना, मसलना—कुचलना, एकत्रित कर ढेर लगाना, असावधानी से क्लेश पहुँचे इस प्रकार छूना, दुःख पहुँचाना, थकाना, हैरान करना, बिना कारण एक जगह से दूसरी जगह रखना, जीवन से रहित करना।

इस व्रत में कहीं भी जाते-आते समय ध्यान रखा जाता है कि कोई प्राणी पैरों के नीचे न आ जाये, सचित्त से स्पर्श न हो जाये, घास आदि हरी वनस्पति पैर से दबे नहीं या किसी भी प्रकार दयाव्रती उसे मसले-दबाएँ नहीं, ओस या कीड़ी आदि के बिलों, शैवाल-काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकड़ी आदि के सचित्त जालों को छूना, दबाना, मसलना नहीं।

दया में खुले मुँह बोलना, पैरों में चप्पल, पगरखी, बूट आदि भी नहीं पहने जाते। कच्चा पानी नहीं पिया जाता। स्त्रीलिंगी प्राणी का स्पर्श नहीं किया जाता। रात्रि में चउविहार रखा जाता है। संवर किया जाता है। दिनभर अप्रमत्त रहकर धर्माराधन व स्वाध्यायादि किया जाता है। खूब सामायिकेँ करने की बात तो ठीक है और मीठा भोजन बने तो उसे खाना भी दया में वर्जित नहीं है, पर इनके अतिरिक्त मैंने जो बातें बताईं उन्हें आप सभी युवक ध्यान में लेना। इस व्रत का उद्देश्य—जैसा कि व्रत का नाम है—प्राणी मात्र पर दया, अनुकम्पा। उनको अभय प्रदान करना ही दयाव्रत है।

बंधुओं! समझाया मैंने तो वे समझ गये। उनका ज्ञान बढ़ा और इस ज्ञान का फल भी देखने को मिला। इसके पश्चात् उन्होंने जो दयाव्रत किया, उसमें इन बातों का और दयाव्रत के उद्देश्यों का पूरा ध्यान भी रखा।

संवत्सरी में करणीय कार्यों में दयाव्रत का प्रावधान इसलिये है कि जो उपवासयुक्त प्रावधान नहीं कर सकते, वे कम से कम दयाव्रत कर इस महान् पर्व को सार्थक बनायें। इसी प्रयोजन से पोरसी, एकासन, आयंबिल आदि की प्रेरणा की जाती है। जो उपवासयुक्त पौषध करने की क्षमता रखते हैं वे अवश्य उपवासयुक्त पौषध करें। उपवास अर्थात् आत्मा के समीप रहना और पौषध अर्थात् आत्मा का पोषण करना। कषायों के उपशमन द्वारा आत्मा के अधिक निकट पहुँचा जा सकता है और इससे आत्मा का पोषण होता है। अतः हमें पर्वाराधना हेतु यह प्रयास करना है।

उपवास के अतिरिक्त भी इस पावन दिन को कुछ अन्य करणीय धर्मानुष्ठान हैं और उनमें मुख्यता दी गयी है प्रतिक्रमण तथा क्षमापना को।

□ संवत्सरी पर प्रथम करणीय—“सांवत्सरिक प्रतिक्रमण”

संवत्सरी के महान् पुनीत पर्व पर सर्वप्रथम प्रधान करणीय कर्तव्य है—सांवत्सरिक प्रतिक्रमण। निशीथसूत्र में कहा है—“संवत्सरी को अनुकूलता रहने पर संवत्सरी अवश्य करना”—यहाँ संवत्सरी करने से तात्पर्य सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने से है। अनेक श्रावक नियम से प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण करते हैं। जो प्रतिदिन नहीं करते/कर पाते, वे बड़ी तिथियों को या फिर पाक्षिक पर्व के दिन करते हैं। पाक्षिक भी जिनसे नहीं होता वे चातुर्मासिक पर्व-दिन पर करते हैं। चातुर्मासिक को भी नहीं कर पाते, वे संवत्सरी को तो अवश्यमेव करते ही हैं।

प्रथम व अंतिम तीर्थकरों के शासन में देवसी, रायसी दोनों समय प्रतिक्रमण का विधान है। मध्यवर्ती २२ तीर्थकरों के युग में कोई विधान नहीं। दोष लगते ही वे प्रतिक्रमण कर लेते। दोष न लगें तो वर्षों-वर्ष भी प्रतिक्रमण नहीं करते।

कषाय-चतुष्क में अनंतानुबंधी कषाय को छोड़ दें तो अप्रत्याखानावरणीय कषाय की उग्रता का परिमाण १२ मास तक माना गया है। प्रतिक्रमण कषायों से मुक्ति का सबसे सबल साधन है। आत्म-विशुद्धि के लिए कषायों से मुक्ति आवश्यक है। ऐसे में यदि संवत्सरी के दिन भी आप लोगों ने अपनी भूलों, अशुद्धियों, दोषों का लेखा-जोखा नहीं किया और उन्हें आलोचना कर, भविष्य में फिर न करने का संकल्प लेकर सुधारा नहीं तो यह आपके सम्यक्त्व की हानि कर सकता है।

□ पाँच प्रकार का प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का होता है—(१) मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, (२) अव्रत का प्रतिक्रमण, (३) प्रमाद का प्रतिक्रमण, (४) कषाय का प्रतिक्रमण, और (५) अशुभ योग का प्रतिक्रमण।

इन पाँचों बातों के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। सम्यक्त्व में जहाँ दोष लगता है वहाँ मिथ्यात्व आता है, व्रतों में अतिचार या अनाचार का दोष लगे तो अव्रत का दोष होता है, धर्मानुष्ठान में भी सांसारिक बुद्धि, दृष्टि, विचार आदि का होना प्रमाद है, क्रोध, मान, माया, लोभ में जाना कषाय है और मन-वचन-काय इन तीन योगों के दोषों का लगना अशुभ योग है। संवत्सरी के इस पावन पर्व पर इन पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण के लिए मिच्छामि दुक्कडं देकर, आलोचना कर इनसे छुटकारा पा लेना चाहिए।

□ प्रतिक्रमण केवल वाचिक न हो, मन की भावना के साथ किया जाये प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण एक क्रिया-प्रक्रिया या दिखावा नहीं हो, इसका ध्यान रखना सभी के लिए आवश्यक है। प्रतिक्रमण के पाठों को ध्यान से सुनते, मनन करते, चिन्तन करते हुए मन की समस्त गहराई के साथ मिच्छामि दुक्कडं देना ही प्रतिक्रमण की यथार्थता है। 'तन और कहीं, मन और कहीं' वाली स्थिति हुई तो प्रतिक्रमण का कोई लाभ मिलने वाला नहीं है।

संवत्सरी का महत्त्व ही प्रतिक्रमण के कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने निज निवास से, स्व-घर से बाहर भव-भ्रमण कर रहा है। प्रत्येक आत्मा का लक्ष्य है—उस वास्तविक निवास में पहुँचना, जिससे वह भटक गयी है। प्रतिक्रमण वह साधन है जो उसे पुनः अपने वास्तविक निवास में ला सकता है, लेकिन यदि मन भटकता है और तन प्रतिक्रमण करता रहा तो बात बनेगी नहीं। दोषों के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहते समय मन में किए गये दोषों के लिए सच्चा पश्चात्ताप का भाव होना चाहिए। इसी में प्रतिक्रमण की सार्थकता है।

उदाहरण-प्रसंग

एक लड़का था। जैन-कुल में जन्म लिया था, अतः बचपन में ही दोष लगने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना चाहिए, यह सीख गया था। बचपन तो बचपन। काँच की

गोलियाँ खेलने का चस्का लग गया। एक दिन खेलते-खेलते उसकी नजर एक बुढ़िया पर पड़ी जो अनेक मटके-मटकियाँ अपने सामने रखे बैठी थी। उसे बेचना था इन्हें। लड़के को विचार आया, देखूँ मेरा निशाना कैसा है? लगाया निशाना। काँच की गोली एक मटके पर लगी और वह फूट गया। उसने कहा—“धत्त तेरे की। निशाना तो पास वाली को लगाया और लगा इसके।” —इतना कहकर वह दूसरी गोली से दूसरी बार निशाना लगाने की तैयारी करने लगा।

उधर उस बुढ़िया ने टन् की आवाज सुनी, देखा तो मटके में गोल खड्डा, एक जगह से माटी टूटकर बिखर गयी, मटका फूट गया। बुढ़िया ने नजर घुमाई। उस लड़के को देखा तो सारी घटना समझ गयी। कोसने लगी उस लड़के को, गालियाँ देने लगी उसे। लड़के ने सुना तो बोला—“मिच्छामि दुक्कडं।” और दूसरी गोली का निशाना लगाया। एक और मटका फूट गया। बुढ़िया ने फिर कोसा, गालियाँ दीं। लड़के ने फिर कहा—“मिच्छामि दुक्कडं।” साथ ही तीसरे निशाने की तैयारी करने लगा। जाने कितने निशाने उसने लगाये, कितने मटके फोड़े और कितनी बार “मिच्छामि दुक्कडं” कहा।

□ हार्दिक पश्चात्ताप के साथ दुष्कृत्य पुनः न करने का संकल्प हो तभी प्रतिक्रमण की यथार्थता

क्या उसका इस तरह मिच्छामि दुक्कडं देना सही था? क्या आप भी ऐसा ही मिच्छामि दुक्कडं देते हैं? बंधुओं! यह सही नहीं है। पूर्वकृत दुष्कृत्यों के लिए हार्दिक पश्चात्ताप और भविष्य में उस तरह के दुष्कृत्य पुनः न करने का संकल्प जब तक अन्तर् में नहीं उभरता, तब तक न मिच्छामि दुक्कडं काम आयेगा, न प्रतिक्रमण। संध्या के प्रतिक्रमण में जिन दोषों के लिए मिच्छामि दुक्कडं कहा, प्रातः होते ही फिर वे ही कार्य, वे ही भूलें, वे ही दोष तब फिर लाभ क्या उस मिच्छामि दुक्कडं का।

अंतगड़ में आपने अर्जुन माली जैसे घोर हत्यारे का प्रतिक्रमण भी देखा। कैसा अद्भुत पश्चात्ताप? किए हुए पापों के प्रतिफलस्वरूप मिल रहे अपशब्दों, गालियों की बौछरों और कभी-कदा डंडों की मार को भी कितनी सहनशीलता के साथ बिना क्रोध किए, आगे वाले के प्रति बिना किसी दुर्भावना के साथ स्वीकार किया। उच्च, शुभ, शुद्ध भावना का फल भी कितना महान्? लगभग छह माह तक प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या!

कितना घोर पाप ? पर सच्चे, शुद्ध भावों के साथ प्रतिक्रमण के कारण छह माह में ही उस घोर पाप से छुटकारा पा गये।

□ प्रतिक्रमण के साथ जीवन की दिशा को मोड़ें

बंधुओं! संवत्सरी प्रतिक्रमण के द्वारा जीवन की दिशा को एक नया मोड़ दीजिए। विपरीत दिशा में भटकते जीवन को सही दिशा से परिचित कराइए। लक्ष्य बना लीजिए कि क्रोध, मान आदि पर विजय प्राप्त करना ही जीवन का ध्येय होगा। सम्यक् दिशा दे सके जीवन को तो संवत्सरी मनाना, उपवास करना, प्रतिक्रमण करना सार्थक बन जायेगा। नहीं कर सके ऐसा तो जैसे थे, वैसे ही रह जायेंगे।

चिन्तन-मनन करें मेरी बात पर। जीवन-व्यवहार, परिवार व व्यापार-धंधे आदि में जो अनीतियाँ अपना रखी हैं, गलत और दोषपूर्ण व्यवहार बना रखा है, उसे क्षीण बनाते हुए त्यागने का प्रयत्न बढ़ा दीजिए। कर सकेंगे ऐसा तो ही पर्व मनाने की सार्थकता है, सफलता है।

□ दूसरा सांवत्सरिक करणीय अनुष्ठान—“उपवास”

संवत्सरी के पावन दिन दूसरा पावन करणीय कार्य है—उपवास! निर्जरा के बारह भेदों में प्रथम भेद है—अनशन। असनादिक चारों या तीन आहारों का एक अहोरात्र तक त्याग करना उपवास है, जो अनशन के अन्तर्गत आता है। अनशन दो प्रकार का होता है—इत्वर और यावत्कालिक। एक दिन के उपवास से लेकर छह मास तक के मर्यादित काल के लिए आहार का त्याग इत्वर अनशन है। यावत्कालिक अनशन में बिना किसी दुर्भाव के सम्यग्ज्ञानपूर्वक अन्त समय सुधारने के लिए आजीवन अनशन किया जाता है।

□ आत्म-जागृति का साधन है—उपवास

सांसारिक लोगों की दो श्रेणियाँ हैं—एक श्रेणी में वे लागे आते हैं जिनका सिद्धांत है कि ऋण करके भी घी पीओ, जब तक जीओ सुख से जीओ, पुनर्जन्म किसने देखा है।

“ऋणं कृत्या घृतं पिवेत्, यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्।”

दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जिनका सिद्धांत है जीने के लिए खाना। Eat, Drink and Be marry के स्थान पर Live and Let live का। इस श्रेणी के लोगों का सिद्धांत तन,

मन, धन को सँवारने और स्वस्थ, सुरक्षित रखने वाला भले ही हो पर मुख्यतया इस सिद्धांत से आत्म-शक्ति का विकास होता है। ये व्यक्ति शरीर के साथ-साथ आत्मा की जागृति पर विशेष ध्यान देते हैं। आत्म-जागृति के लिए उपवास से, अनशन से, तप से अच्छा कोई अन्य उपाय नहीं है।

□ उपवास का अर्थ व उससे होने वाले लाभ

‘उपवास’ दो शब्दों का मेल है—उप + वास। ‘उप’ का अर्थ है निकट और ‘वास’ का अर्थ है रहना। निकट किसके रहना? आत्मा के! अतः उपवास का वास्तविक उद्देश्य है—आत्मा के निकट पहुँचना, स्वभाव के निकट जाना, पर-भाव एवं बाह्य पदार्थों व सम्बन्धों को हल्का बनाना।

उपवास आत्म-जागृति लाता है, आत्म-बल बढ़ाता है, आत्म-विश्वास को दृढ़ता प्रदान करता है। उपवास से प्राप्त होने वाला यह लाभ उसके आध्यात्मिक स्वरूप के कारण है, उपवास आत्म-हितकारी होने के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी उपयोगी है।

□ शारीरिक स्वास्थ्य और उपवास

प्रोफेसर इहरिट ने अपनी पुस्तक ‘रैशनल फास्टिंग’ में इस बात को सिद्ध किया है कि सही ढंग से किया गया उपवास शारीरिक रोगों को मिटाता है, रोकता है। उनके अनुसार उपवास से पाचन क्रिया में जो कुछ काल तक शिथिलता आती है, उससे शरीर की जीवन-शक्ति को रोग-निवारण का कार्य करने का पूरा अवसर मिल जाता है।

बंधुओं! हमारा यह शरीर अनेक कोशिकाओं, रबड़ की-सी लचीली नलिकाओं से निर्मित है। ये नलिकाएँ भोजन करते समय फैल जाती हैं। इससे रक्त के स्वाभाविक कार्यों (Functions) में व्यवधान आता है। उपवास करने से ये नलिकाएँ पुनः सिकुड़ जाती हैं और अपनी प्राकृतिक दशा में आ जाती हैं तब इनके भीतर जमा गन्दगी मल-मूल के साथ बाहर निकल जाती है।

अनेक व्यक्ति उपवास करने से डरते हैं। वे कहते हैं—“महाराज! उपवास करते हैं तो पित्त पड़ते हैं, मुँह बेस्वाद व बदबूदार बन जाता है, पेट गड़गड़ाता है व वहाँ दर्द भी होता

है। कई बार बुखार तक आ जाता है।” बंधुओं! उपवास से शुरूआती समय में होता है यह सब, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आप घबरा जायें।

साधारणतया उपवास काल में मुँह में गाढ़ी चिपचिपी लार जम जाया करती है, जिह्वा सूखी-सूखी हो जाती है और मुँह बेस्वाद बन जाता है। क्यों होता है ऐसा? क्योंकि शरीर के भीतर जो गन्दगी थी वह तेजी से जलने लगती है। उसके जल जाने से बचा रह गया पदार्थ व जलने से बना पदार्थ गले और मुँह की श्लेष्मिक कला के रास्ते बाहर निकल रहा है। इस समय जैसी स्थिति मुँह की रहती है, ठीक वैसी ही स्थिति आँतों व आमाशय की भी होती है। अतः मुँह से बदबू आने पर घबराना नहीं चाहिए। यह तो अन्दर की गन्दगी के साफ होने की निशानी है।

उपवास करने वाले अनेक भाई-बहनों को पित्त पड़ने की तकलीफ रहती है। ऐसा इसलिए होता है कि उनके यकृत (Liver) बढ़े हुए तथा गन्दगी से भरे होते हैं। उपवास के कारण अधिक पित्त निकलकर आँतों में आ जाता है और वहाँ से उलटकर आमाशय में जाता है। पित्त पड़ने, कै (उल्टी) होने तथा बदबू आने का यही कारण है।

उपवास करने से यदि पेट में वायु-प्रकोप हो, पेट गड़गड़ाए तो समझ लीजिए कि आँतों में चिपका पुराना मल हट रहा है तथा शरीर से विष निष्कासन हो रहा है। उपवास के कारण इन बातों का होना सिद्ध करता है कि शरीर के स्वस्थ बनने की प्रक्रिया भीतर में चालू हो गयी है, अतः इनसे घबराना नहीं है।

□ आध्यात्मिक उन्नति में उपवास का योगदान

शारीरिक-लाभ या स्वास्थ्य-लाभ उपवास का मुख्य उद्देश्य नहीं है। जहाँ स्वास्थ्य-लाभ को मुख्य उद्देश्य बनाकर उपवास किया जाता है, वहाँ उपवास से होने वाला आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं होता, अतः साधकों को चाहिए कि वे अपनी साधना में आध्यात्मिक उद्देश्य को प्राथमिकता दें।

उपवास जैसे तो वर्षभर चलने वाला नियमित तपाराधन है, धार्मिक प्रक्रिया है, अतः पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक तीसरे दिन उपवास को श्रेष्ठ बताया है। आज भी अनेक साधक द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी आदि बड़ी तिथियों के दिन उपवास करते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते वे अष्टमी व चतुर्दशी का उपवास कर सप्ताह में एक बार अपनी

शरीर-शुद्धि कर आत्म-शक्ति बढ़ा लेते हैं। कुछ साधक केवल चतुर्दशी को, कुछ केवल चौमासी चतुर्दशी को उपवास रख पाते हैं, पर जो वर्ष में कभी उपवास नहीं रख पाते वे संवत्सरी को तो उपवास करते ही हैं। प्रत्येक जैन-साधक के लिए यह आवश्यक है।

आत्म-शुद्धि के महान् पर्व के अवसर पर पर्व पूर्णाहुति के दिन अर्थात् संवत्सरी को प्रत्येक जैन के लिए उपवास की अनिवार्यता का आत्म-शुद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है?—इस पर भी विचार करना उपयुक्त होगा।

बंधुओं! दिनभर भूखे रहकर यदि कोई यह कहे कि मैंने उपवास कर लिया तो यह बड़ी हास्यास्पद बात होगी। विडम्बना तो यह है कि आज का कुछेक धार्मिक भावना वाला वर्ग यही सोचता है। जैनदर्शन का स्पष्ट मत है कि भोजन न करना ही उपवास नहीं है, यह तो उपवास का व्यावहारिक रूप है। जब तक मन पर नियन्त्रण कर विचारों को शुभ नहीं बनाया जाता, अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को एकस्थ नहीं किया जाता, तब तक उपवास की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। उपवास इन्द्रिय-निग्रह का, मन की एकाग्रता का, आत्म-संयम और आत्म-रमणता का माध्यम है।

□ उपवास के साथ पौषध की आवश्यकता

उपवासी को पौषध जरूर करना चाहिए, इससे आत्म-रमणता में आसानी आती है और साधक आत्मा के निकट, निकटतर आ जाता है। उपवास का यही तो उद्देश्य है। यहाँ एक बात आप सभी को अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। उपवास करना और भूखे मरना—दो अलग-अलग बातें हैं, वैसे ही जैसे आत्मघात करना और संथारेपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करना बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। उपवास का यदि कोई यह अर्थ लगाए कि आहार न लेकर शरीर को क्षति पहुँचाना, उसे शिथिल बना देना ही उपवास है तो यह एक विडम्बना ही है। पौषधोपवास करने से मनन-चिन्तन, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि का अच्छा समय मिलता है। आत्म-चिन्तन के इन साधनों से आत्म-जागृति आती है और आत्मा के निकट वास करने, रहने की स्थिति प्रशस्त बन जाती है।

□ समता-रमण के लिए उपवास

आध्यात्मिक और आत्मिक दृष्टि से जब-जब मनोविकारों में प्रबलता आये, अशांति बढ़े, विषमताएँ उद्दिग्ध करें, दिल को धक्का देने वाली घटना हो, किसी प्रियजन की मृत्यु

हो अथवा तो अतिहर्ष की मानसिकता से चित्तस्थिति विषम बने तब-तब साधक को उपवास कर लेना चाहिए। वैसे भी उसे नियम से सप्ताह या पक्ष में एक उपवास करना चाहिए, सांवत्सरिक उपवास तो उसके लिए अनिवार्य ही है।

□ संवत्सरी और क्षमापना

आत्म-शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण और उपवास के अतिरिक्त क्षमा याचना और क्षमापना (क्षमा करना) भी इस पर्व के आवश्यक कृत्यों में है। प्रतिक्रमण हिसाब-किताब मिलाकर बैलेंस और लेन-देन देखने की चीज है तो क्षमापना और क्षमा याचना द्वारा खारों को बन्द (क्लियर) करने का प्रयास है।

आप सभी व्यापारिक वर्ग के लोग दीपावली पर अथवा वित्तीय-वर्ष के अन्त में अर्थात् ३१ मार्च को व्यापार में काम ली गई बहियों का आकलन कर वर्षभर के क्रय-विक्रय, बकाया लेना-देना, सकल लाभ, खर्च, शुद्ध लाभ आदि देखते हैं। वही काम संवत्सरी महापर्व पर किया जाता है, अर्थात् आत्मा के साथ हमारे व्यवहार का लेखा-जोखा, क्या गुण खोए, कितने व्रत-नियम बढ़ाए? आत्मा पर कर्मों का बोझ घटा या बढ़ा? हमारे व्यवहार से कितनी आत्माओं को संताप, कष्ट, क्लेश पहुँचा? कहाँ भूल हुई हमसे? किनके प्रति भूल हुई? कैसे सुधार हो उन भूलों का?—इन सबके चिन्तन के लिए ही यह पर्व-तिथि निर्धारित हुई है, यह मान लेना चाहिए।

बंधुओं! व्रतादि में दोषों व व्यवहार की भूलों के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर शुद्धिकरण करने का प्रयास इस पर्व पर विशेष रूप से किया जाता है, पर ध्यान रखिए उस 'मिच्छामि दुक्कडं' में हार्दिक पश्चात्ताप यदि नहीं जुड़ा है तो रोगों को दूर करने वाली यह गोली (Tablet) आपकी नासमझी के कारण विपरीत असर (Reaction) भी कर सकती है। वर्षभर में आपके साथ रहने वाले, आपसे जागतिक व्यवहार करने वाले जाने-अनजाने में अनेक ऐसे वचन कह देते हैं या ऐसा व्यवहार कर देते हैं जो आप लोगों के हृदय में काँटे की तरह चुभता है और लम्बे समय तक खटकता रहता है। यही बात आपके लिए भी है। आपके द्वारा दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार किया जा सकता है, वचन-बाण छोड़े जा सकते हैं, जिससे अगला व्यक्ति घायल हो जाये। ध्यान रखिए—पाँव में चुभा हुआ काँटा कुछ समय ही दर्द देता है फिर जल्दी ही उसका घाव मिट जाता है पर वचन-तीरों तथा दुर्व्यवहार

के घाव लम्बे समय तक बने रहते हैं। आज का पावन दिवस उन सभी को भुलाने का है, क्षमा करने और क्षमा माँगने का है।

□ मिट्टी में सब्ब भूएसु

जैन सिद्धांत के अनुसार संवत्सरी महापर्व के दिन चार गति चौरासी लाख जीव योनि को हृदय से खमाना चाहिए। स्पष्ट कहा है—

खामेमि सब्बे जीवा, सब्बे जीवा खमंतु मे।
मिट्टी में सब्ब भूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥

—मैं जगत् के समस्त सजीव प्राणियों से क्षमा याचना करता हूँ और उन सभी प्राणियों को अपने प्रति हुई भूलों के लिए क्षमा करता हूँ। समस्त प्राणभूत जीव सत्वों से मेरी प्रतिपल मित्रता, मैत्रीभाव बना रहे, किसी से भी कोई तरह का शत्रुभाव मेरे मन में कभी न रहे और भी जो कहा गया है, वह है—

आयरिए उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल गणेय।
जे मे केई कसाया, सब्ब तिविहेण खामेमि ॥
सब्बस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सब्बं खमावइत्ता, खमामि सब्बस्स अहयंपि ॥
सब्बस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मं-निहिय-नियचितो।
सब्बं खमावइत्ता, खमामि सब्बस्स अहयंपि ॥

—आचार्य, उपाध्याय आदि बड़े गुरु-भगवन्तों पर, शिष्य आदि छोटों पर या स्वधर्मी समान स्तरीय-जनों पर, एक आचार्य की कुल परम्परा वाले गण पर मैंने जाने-अनजाने में जो क्रोधादि कषाएँ कीं, उनके लिए मैं उन सबसे मन-वचन-काय रूप त्रियोग से क्षमा याचना करता हूँ।

—मैं हाथ जोड़कर श्रमण-प्रमुख चतुर्विध संघ रूप भगवंत से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगता हुआ, स्वयं भी उन्हें क्षमा प्रदान करता हूँ।

—अपने चित्त को भाव-सहित धर्म में स्थित व स्थिर करके मैं समग्र जीव-राशि से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगता हूँ और अपने प्रति उनके अपराधों को क्षमा करता हूँ।

□ दोख पराया देखि करि, चाल्या हसंत-हसंत

आज हर व्यक्ति को दूसरों की गलतियाँ देखने की आदत पड़ गयी है। वह अपनी तरफ नहीं देखता, अपनी भूलों और गलतियों पर नजर नहीं डालता, बल्कि उन्हें छुपाने का प्रयास करता है। अहं भाव इतना कि तुरंत यही कहेंगे—“हम क्या क्षमा माँगें? हमने तो कुछ भी गलत नहीं किया और न गलत कहा।” किसी को स्वयं की गलती कभी महसूस ही नहीं होती। मारवाड़ी में कहावत है—“खुद री मां ने डाकण कुण केवे?” बस, इसी तरह अपनी गलती को गलती कौन कहेगा?

□ “क्षमा वीरस्य भूषणं।”—नहीं है क्षमाभाव तो चरित्र समाप्त, सम्यक्त्व का नाश

श्रमणों की श्रमणाचारी में उल्लेख आता है कि मुनि, निर्ग्रन्थ, श्रमण, संत किसी के साथ विवाद होने पर थूक निगलने से पहले-पहले क्षमा याचना कर ले, भले ही गलती उसकी न भी हो। क्षमा माँगना और क्षमा करना कायरों का नहीं, वीरों का काम है—“क्षमा वीरस्य भूषणं।” शूरवीरों का आभूषण है—क्षमा। मुनि यही थूक निगलने से पहले क्षमा नहीं माँग सके तो उसी दिन क्षमा याचना कर ले। यहाँ भी नहीं कर पाये तो पाक्षिक पर्व पर क्षमा माँग ले। इस पर भी मनीषी आचार्य कहते हैं कि मुनि के मन का रोष यदि समाप्त नहीं हो तो उसका चरित्र, संयम, मुनिपन समाप्त हो जाता है।

आप भी साधक हैं। पूर्ण साधक नहीं, पर देशतः साधक तो हैं ही। आप श्रावकों के लिए, श्रमणोपासकों के लिए भी विधान है कि भूल होने पर आप हाथोंहाथ, उसी समय क्षमा याचना कर लें। न कर सकें तो पक्खी तक। पक्खी (पाक्षिक) तक भी न कर सकें तो चौमासी तक। चौमासी पर्व तक भी नहीं कर पाते यदि आप क्षमा याचना तो आपका श्रावकपन भी समाप्त। संवत्सरी तक यदि विवाद, लड़ाई, झगड़े आदि के लिए क्षमा याचना नहीं करें तो सम्यक्त्व समाप्त हो जाता है।

बंधुओं! भगवान महावीर का तो एक ही उद्घोष रहा है सभी के लिए—

घृणा पाप से हो, पापी से नहीं कभी लवलेश।

यही है महावीर सन्देश ॥

उनके इस सन्देश में सारे धर्म, सारे नियम, सारे संकल्प-व्रत-प्रत्याख्यान समाहित हो जाते हैं, क्योंकि जो पाप से घृणा करना सीख लेगा वह पाप करेगा ही नहीं और जो पापी से घृणा नहीं करेगा उससे बड़ा क्षमाशील और समभावी दूसरा कौन होगा ?

एक बार गणधर गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—“भंते ! खंतिए जीवे किं जणइ?” —हे प्रभु! क्षमा से जीव को क्या प्राप्ति होती है ?

प्रभु ने फरमाया—“देवाणुप्पिए! खंतिए णं जीवे परिसहं जणइ।”

—हे देवानुप्रिय! क्षमाशील साधक समस्त परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

आप भी क्षमा को धारण कीजिए, सहनशील बनिए, समभावी बनिए। जीवन-संग्राम में सफलता के लिए यह आवश्यक है। प्रतिपल की चिन्तनधारा में इस शुभ विचार को, सुभाषित वचन को सजा लीजिए—

मैत्रीभाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।

दीन-दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे॥

क्षमा की सजा बड़े से बड़े अपराधी का हृदय परिवर्तन कर देती है, कुछ इस तरह का बन जाता है वह कि उसके हृदय का अपराध-भाव ही मिट जाता है। यह बात न्याय और प्रशासन के लिए विशेष चिन्तनीय है। यदि अपराध समाप्त करने हैं तो अपराध-भाव की समाप्ति के लिए क्षमा को अपना भी एक रास्ता है। शारीरिक या आर्थिक दंड से अपराध घटते नहीं बढ़ते ही हैं।

आज के दिन सिन्धु-सौवीर के महाराज क्षमावीर उदायन के प्रसंग का विशेष महत्त्व है।

आदर्श-क्षमा

(क्षमावीर महाराज उदायन)

सिन्धु-सौवीर राज्य के राजा थे उदायन। अत्यन्त वीर, विकट योद्धा, साहसी होने के साथ ही वे न्यायप्रिय, प्रजापालक और धर्मनिष्ठ शासक थे। उदायन नरेश के राज्य में १६ बड़े जनपद, ३६३ नगर और सैकड़ों बड़ी-बड़ी बहुमूल्य धातुओं की खदानें थीं जिनसे

विभिन्न खनिज प्राप्त होते थे। दस मुकुट-बंध राजा तथा अनेक छोटे-मोटे सरदार, सामन्त, सेठ-साहूकार उनकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे।

उदायन नरेश के राज्य की राजधानी थी—वीतभय पट्टन नगरी। यह एक विशाल, सुन्दर एवं वैभवपूर्ण महानगरी तो थी ही, पश्चिमी भारत के तटीय बन्दरगाह के लिए विशेष ख्याति प्राप्त भी थी। लोग उसे 'वीतभय पत्तन' कहा करते थे। महाराज उदायन से पूर्व इस नगर को रोरुक नगर कहते थे, पर महाराज उदायन के उदार, न्याय-नीतिपूर्ण एवं सभी तरह से भयमुक्त शासन-प्रशासन के कारण ही इसे 'वीतभय' अर्थात् जिसका भय दूर हो गया है, ऐसे नाम से पुकारा जाने लगा।

वीतभय पट्टन सिन्धु नदी के तट पर बसा अत्यन्त सुन्दर व समृद्ध नगर था। महाराज उदायन वीर, साहसी तो थे ही, बड़े उदार हृदय थे, अतः धार्मिक प्रकृति के माने जाते थे। अपने आप-पास के सोलह राज्यों को जीतकर राजा उदायन ने अपनी राज्य-सीमा का विस्तार कर लिया था।

राजा उदायन का विवाह वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष महाराज चेटक की सबसे बड़ी राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। सोलह सतियों में एक नाम इन्हीं प्रभावती महारानी का है। वैशाली गणराज्य उस समय के विशालतम राज्यों में से एक था। उस गणतंत्र के सात हजार सात सौ सात (७,७०७) राज्यों के राजा सदस्य थे।

राजा उदायन प्रभु महावीर के सच्चे उपासक और अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतों का निष्ठा के साथ पालन करने वाले व्रती श्रावक थे। तत्कालीन अन्य नरेशों में पाये जाने वाले कुव्यसनों—शिकार, जुआ, मद्य-माँस-सेवन, पर-स्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि से वे दूर ही रहते थे। निरीह व मूक पशुओं की हत्या उनकी दृष्टि में जघन्य अपराध और महापाप था।

महाराज उदायन और महारानी प्रभावती के एक पुत्र हुआ, नाम था उसका अभीचिकुमार। महाराज और महारानी का जीवन अत्यंत सुख व शांति के साथ व्यतीत हो रहा था।

उदायन प्रभु महावीर द्वारा प्रशंसित, जिज्ञासु, तत्त्वज्ञाता श्राविका जयंति का भतीजा था तो प्रभावती महावीर के अनन्य भक्त, जिनधर्म-अनुयायी चेटक की पुत्री थी। महारानी प्रभावती ने अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करवा दी थी कि बाहर से कोई भी जिनानुयायी किसी भी कार्य से वीतभय आये तो उसे किसी बात की तनिक भी असुविधा न हो। अनेक

जैनधर्म के उपासक और महावीर-भक्त वीतभय नगरी में अपने कार्यों से आते थे, उनके लिए जो व्यवस्था होती थी, उसे देख वे स्वयं चकित, आनन्दित होते थे।

एक बार गान्धार देश का एक जिनानुयायी व्रतधारी श्रावक उस वीतभय नगरी में अपने व्यापारिक कार्य से आया। नाम था उसका श्रेष्ठी धनसार। उसने व्यापार के लिए महाराज से आज्ञा माँगी और अनेक बहुमूल्य वस्तुओं के साथ ही एक सुन्दर चमचमाते मोतियों का हार महारानी के लिए भेंट किया। उसे विशेष अतिथि के रूप में राज्य की विशिष्ट अतिथिशाला में ठहराया गया।

महारानी प्रभावती को जब ज्ञात हुआ कि श्रेष्ठी धनसार जिनानुयायी एवं व्रती श्रावक है तो उन्होंने अपनी विश्वस्त परिचारिका कुब्जा को बुलाकर कहा—“कुब्जा! श्रेष्ठी धनसार हमारे साधर्मी बन्धु हैं, अतः तुम इनकी सेवा में रहना और विशेष ध्यान रखना कि इन्हें किसी प्रकार का अभाव न खटके।”

कुब्जा दासी थी, कुरूप और काली-कलूटी थी पर नारी थी, अतः स्नेहसिक्त थी, सेवाभावी थी। उसने श्रेष्ठी धनसार की सेवा मन लगाकर की। एक रात्रि में अचानक श्रेष्ठी को अतिसार रोग हो गया। राज्य-वैद्य ने उसे दवा दी। कुब्जा ने बड़ी लगन से उसकी सेवा-सुश्रूषा की। कुब्जा की अग्लान-भाव से की गयी सेवा ने रंग दिखाया और श्रेष्ठी कुछ ही दिनों में स्वस्थ हो गया।

दासी की ऐसी उत्कृष्ट सेवा से श्रेष्ठी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने सामान से दो गुटिका निकालकर उसे कुब्जा को देते हुए कुब्जा से कहा—“तू भले ही नाम और देह से कुब्जा है, पर तेरा मन बड़ा विराट्, बड़ा दयालु है। तेरी सेवा ने मुझे बचाया है, नया जन्म दिया है। मैं इस उपकार को जीवनभर नहीं भूल सकता। मेरे पास ये दिव्य स्वर्ण-गुटिकाएँ हैं। इन गुटिकाओं को पूर्णमासी की शुभ्र चंद्रिका में सेवन करना। एक से तुम्हारा कुब्जापन दूर हो जायेगा और तुम एक अप्सरा के समान रूपमती, लावण्यमयी, सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति बन जाओगी। मैं ये स्वर्ण-गुटिकाएँ तुम्हें उपहार में देता हूँ। दूसरी गुटिका जिसका मन में चिन्तन करके सेवन करना वह व्यक्ति भले इन्द्र भी होगा तुम्हारा दास बन जायेगा।”

अपना व्यापार समेटकर धनसार श्रेष्ठी तो वीतभय से चला गया। इधर पूर्णमासी के आने पर कुब्जा दासी ने स्नानादि कर प्रभु का स्मरण किया और श्रेष्ठी द्वारा दी गयी उस

दिव्य गोली का सेवन कर लिया। वही हुआ जैसा कि श्रेष्ठी ने कहा था। कुब्जा का कुबड़ापन गधे के सिर से सींग की तरह गायब हो गया। वह कंचनवर्णी, अतिलावण्यमयी, रूपसी बन गयी। दर्पण में अपना रूप देख स्वयं वह दासी चकित रह गयी।

अन्य दासियों ने उसे देखा तो पूछा उसका परिचय। ज्यों-ज्यों सभी को मालूम हुआ कि वह कुब्जा दासी है, त्यों-त्यों उसे देखने को भीड़ उमड़ने लगी। रानी प्रभावती को भी ज्ञात हुआ। महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। राज्य में यह खबर जंगल में आग की तरह चारों तरफ फैलने लगी। लोग अब उसे कुब्जा की जगह 'स्वर्णगुलिका' कहने लगे।

दीपक की लौ पर पतंगे मँडराते ही हैं पर स्वर्णगुलिका की सौन्दर्य-लौ पर, रूपशिखा पर काम-पिपासु, सौन्दर्योपासक पुरुष क्यों न मँडराए? मन में अदम्य लालसा पास जाने की, निरखने की, स्पर्श करने की, पर साहस कहाँ से लाएँ? स्वदार-संतोषी, द्वादशव्रती, दृढ़ श्रावक, सिंधु-सौवीर राज्य के स्वामी उदायन के लिए तो यह 'परदारेषु मातृवत्' थी। अन्य किसी में इतनी हिम्मत कहाँ कि उस देवी-पुजारिन का पुजारी बन जाये, महारानी की सेविका की सेवा में जुट जाये?

स्वर्णगुलिका नारी थी। नारी मात्र पुरुष की अभिलाषी नहीं होती, वह गुणी पुरुष चाहती है, जो वीर, धीर, गंभीर हो। स्वर्णगुलिका चाहती थी कोई भी ऐसा वीर, साहसी पुरुष जो यह जानते हुए भी कि वह उदायन राजा की दासी है, उसे अपनाने का साहस कर सके। उसे प्रतीक्षा थी ऐसे पुरुष और पौरुष की। पूर्णिमा की धवल चन्द्रिका में चण्डप्रद्योत का चिन्तन करते हुए स्वर्णगुलिका ने उस गुटिका का सेवन कर लिया। वह दिव्य गुटिका थी, देव सेवित थी जिसके प्रभाव में देव-शक्ति कार्य करती थी तब भला वह खाली कैसे जाये।

मालवपति चण्डप्रद्योत महाराज उदायन का सादू था। महाराज चेटक की चतुर्थ पुत्री शिवा चण्डप्रद्योत की पटरानी थी। सोलह सतियों में महारानी शिवा भी एक है। वे पूर्णतः धर्मनिष्ठ, अनुरूप प्राणी मात्र का 'शिव' अर्थात् कल्याण चाहने वाली देवी थी। उदार, सरल और पावन मना शिवा महारानी ने अपने सतीत्व के प्रभाव से उज्जयिनी में देवीप्रकोप से लगी आग को जल छिड़काव करके शांत किया था।

चंडप्रद्योत एक दुर्धर्ष योद्धा, विकट लड़ाकू और छल-बल की जीती-जागती मूर्ति था। वह काम-लोलुप भी था। जब-जब वह काम के वशीभूत होता, तब-तब अपनी गरिमा भूल एक शासक के गौरवपूर्ण पद से गिरकर साधारण-कामी व्यक्ति बन छिछोरापन करने लगता।

सिंधु-सौवीर के महाराज उदायन की दासी स्वर्णगुलिका के सौन्दर्य की चर्चा उस तक भी पहुँची। चंडप्रद्योत उसके अप्रतिम सौन्दर्य की बात सुन विचारों में डूब गया। रूप की प्यासी उसकी आँखें उस सौन्दर्य को देखने के लिए तड़पने लगीं। परिरम्भ सुख की कामना अन्तर्मन में जाग उठी। उसने निश्चय किया कि सौन्दर्य की वह देवी मेरे महल की शोभा अवश्य बनेगी। उसने योजना बनाकर अपने दूत लोहजंग को स्वर्णगुलिका के पास अपना संदेश देकर भेजा।

मालवा राज्य की राजधानी उज्जयिनी से दूत लोहजंग वीतभय पहुँचा। तोह लेकर वह स्वर्णगुलिका से मिला और अपने महाराज का सन्देश उसे दिया। सन्देश सुनकर भीतर में उमड़ रहे प्रसन्नता के सागर को दबाते हुए स्वर्णगुलिका ने कहलवाया—“दूत! अपने महाराज से कहना कि स्वयं आकर मुझे ले जायें। उन्हें यह भी कहना कि स्वर्णगुलिका महाराज उदायन की देव-पुजारिन है। उसे यहाँ से ले जाने का सीधा-सा अर्थ है वीतभय राज्य के साथ युद्ध।”

दूत ने उज्जयिनी आकर महाराज चंडप्रद्योत को स्वर्णगुलिका का संदेश सुना दिया। चण्ड ने स्वर्णगुलिका को लाने के लिए एक अन्धेरी सुनसान रात्रि चुनी। ‘जो होगा सो देखा जायेगा।’—बस ऐसा सोचकर वह अपने अनलगिरि नामक अजेय गंधहस्ती पर चढ़कर उस अँधेरी रात में वीतभय के राज्योद्यान में किसी चोर की तरह पहुँच गया। अपने अनुचर के हाथों स्वर्णगुलिका को सन्देश पहुँचा दिया था। स्वर्णगुलिका समय पर राज्योद्यान पहुँच गयी। रातोंरात उसे लेकर चंडप्रद्योत पुनः उज्जयिनी पहुँच गया।

प्रातःकाल वीतभय राज्य की गजशाला के गजपालकों ने देखा कि हस्तिशाला के समस्त हाथियों का मद उतरा हुआ है और वे सभी अत्यन्त सुस्त हैं, ऊँघ रहे हैं। खोज करने पर पता चला कि अवश्य ही अनलगिरि हाथी का आना हुआ है। महाराज को इस बात की खबर दे दी गई। इसी समय राजमहलों से संदेश प्राप्त हुआ कि रात्रि में स्वर्णगुलिका दासी भी कहीं चली गयी है।

वीतभय के गुप्तचरों ने खोजबीन प्रारम्भ की। पता लग गया कि चंडप्रद्योत अनलगिरि हाथी पर बैठकर आया था और रातोंरात राजमहल की सुन्दरी-दासी स्वर्णगुलिका को अपने साथ भगाकर ले गया।

महाराज उदायन शौर्य, बल, पराक्रम और वीरत्व के धनी होते हुए भी युद्ध विमुख ही रहना पसन्द करते थे। कारण था—उनकी धर्म में रुचि, उनका बारह व्रतधारी श्रावक होना। निर्दोष पर युद्ध थोपना उसके अहिंसाणुव्रत के विरुद्ध था, पर कोई अन्याय-अनीति-अत्याचार-अधर्म करे तो राजधर्म के निर्वहन में सशस्त्र प्रतिकार करना उनके व्रतों के विरुद्ध नहीं था। जब कभी ऐसी स्थिति आती, युद्ध की अनिवार्यता उन्हें मजबूर करती तो उन्हें युद्ध क्षेत्र में उतरना पड़ता, तब भी वे इतना ध्यान रखते थे कि रक्तपात कम से कम हो, शत्रु नहीं शत्रुता पराजित हो।

महाराज उदायन ने उज्जयिनी नरेश की इस गलत हरकत के लिए उसे उचित सबक देना ठीक समझा। अधीनस्थ राजाओं-मन्त्रियों से परामर्श करने पर एकदम उज्जयिनी पर आक्रमण करने से पहले चण्डप्रद्योत को समझाना-बुझाना उचित लगा। वीतभय से दूत भेजा गया, पर कामी और अभिमानी चण्डप्रद्योत तो शांति-सन्देश भी सुनने को तैयार नहीं था। उसने दासी को वापस करने या क्षमा माँगने से स्पष्ट इन्कार करते हुए युद्ध का आमंत्रण दे दिया।

महाराज उदायन ने सोचा—‘दुष्ट को दण्ड देकर अन्याय को रोकना हम क्षत्रियों का धर्म है। ऐसा यदि नहीं किया जाये तो अन्यायियों-अत्याचारियों का हौसला और बढ़ जायेगा।’

सेना सुसज्जित कर महाराज उदायन ने वीतभय से प्रस्थान किया। उज्जयिनी पहुँचने पर वीतभय की सेनाओं ने उज्जयिनी को चारों ओर से घेर लिया। महाराज उदायन ने रक्तपात से बचने के लिए एक और प्रयत्न किया। पुनः सन्देश भेजा कि दासी लौटा दो, क्षमा माँग लो। चंड ने दासी को लौटाने से फिर इन्कार कर दिया और अपनी सेना के साथ उसने वीतभय की सेना पर आक्रमण कर दिया। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध होने लगा। हजारों निरपराध सैनिकों के खून से धरा रक्त-रंजित होने लगी।

इस रक्तपात, इस हिंसा से उदायन का मन अत्यन्त दुःखित, द्रवित, करुणार्द्र हो रहा था। उन्होंने चंड को कहलवाया—“क्यों निरपराध सैनिकों के खून की होली खेलते हो? आओ, हम दोनों परस्पर युद्ध कर हार-जीत का फैसला कर लें।”

दोनों में द्वन्द्व हुआ। चंड का अनलगिरि गंधहस्ती क्षत-विक्षत हो मारा गया तब चंड अपने देव-प्रदत्त दिव्य अग्निरथ पर सवार हो युद्ध-मैदान में आ डटा। उदायन ने बाणों की ऐसी त्वरित वर्षा की कि अग्निरथ की गति रुक गई। उदायन ने विद्युत्गति से अपने रथ को चंड के रथ के निकट खड़ा किया और चंड को रथ से खींचकर अपने रथ में बिठा, बन्दी बना लिया।

बन्दी चंड को उचित सजा देने की दृष्टि से महाराज उदायन ने उसके मस्तक (ललाट) पर “मम दासीपति” शब्द अंकित करवा दिये। उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गयीं। स्वर्णगुलिका दासी को भी राजमहलों में बुला लिया गया। दोनों को साथ लेकर महाराज उदायन अपनी सेनाओं के साथ वीतभय पत्तन की तरफ चल दिये।

राह में वर्षा का आगमन होते देख एक लम्बे-चौड़े मैदान पर महाराज उदायन ने पड़ाव डाल दिया। उसके साथ दस मुकुटधारी राजाओं ने भी पड़ाव डाला, तब से यह स्थान ‘दशपुर’ कहलाने लगा। आज वही ‘दशपुर’ ‘मंदसौर’ के नाम से जाना जाता है।

श्रावण बीता, भाद्रपद आया। पर्युषण के पावन दिन आ गये। दृढ़धर्मी, व्रतधारी श्रावक उदायन ने वहीं धर्मोपासना की। सात दिन तक उसने धर्मध्यान, सामायिक, सामूहिक प्रतिक्रमण आदि किया। तब आयी संवत्सरी, पर्युषण का पावन अष्टम दिवस, क्षमा-पर्व। जैनधर्म में संवत्सरी-पर्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है। महाराज उदायन ने उस दिन पौषधोपवास धारण करने का निश्चय किया। रसोइए को बुलाकर भलीभाँति समझाते हुए महाराज उदायन ने उससे कहा—“सेना में जो लोग भोजन करना चाहें उनके लिए तथा राजा चंडप्रद्योत के लिए, वे जो कहें, वैसे भोजन की व्यवस्था कर देना।”

रसोइए ने चंडप्रद्योत से उसकी रुचि के भोजन के लिए पूछा तो बहमी चंडप्रद्योत ने कहा—“क्यों? आज ऐसी क्या विशेष बात है जो मेरी पसन्द की बात पूछी जा रही है?”

चंड ने सोचा—‘यह भी कोई चाल दिखती है। आज मेरे अकेले के लिए अलग भोजन बनेगा तो जरूर उसमें जहर मिला दिया जायेगा।’ वह बोला—“अपने महाराज से कहना कि मेरे माता-पिता भी जिनधर्मी थे, अतः मैं भी आज संवत्सरी का उपवास करूँगा।”

महाराज उदायन ने जब यह सुना तो उनके हृदय में चंडप्रद्योत के प्रति साधर्मी-स्नेह उमड़ आया। संध्या को महाराज ने प्रतिक्रमण किया, आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन किया। चौरासी लक्ष जीवयोनि से क्षमा याचना की और सोचा—‘आज का पावन दिन शत्रुता मिटाने का दिन है, वैर-विरोध हटाने का दिन है, कषायों को घटाने का दिन है। मुझे भी अपना वैर-विरोध एक किनारे रख चंडप्रद्योत से क्षमा याचना कर लेनी चाहिए।’ महावीर का यही तो संदेश है—

खामेमि सव्वे जीवा,
सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिच्छि में सव्व भूएसु,
वेरं मज्झं न केणइ॥

महाराज उदायन दूसरे दिन प्रातःकाल इसी भाव को लेकर बंदी महाराज चंडप्रद्योत के पास गये और उनसे सांवत्सरिक क्षमा याचना की बात कही।

चंडप्रद्योत ने तब कहा—“क्यों नाटक करते हो? यह कैसी क्षमा याचना है तुम्हारी? मैं हथकड़ियों—बेड़ियों में जकड़ा, लोहे के पिंजरे में बंद और तुम मुझसे क्षमा चाहते हो। यदि वास्तव में तुम्हारे हृदय में क्षमा भाव है तो मुझे मुक्त करो। मेरा राज्य मुझे पुनः लौटाओ एवं तुम्हारे पास देव द्वारा प्रदत्त जो प्रभावान मुकुट है वह मुझे दो, जिसकी प्रभा से मेरे ललाट पर दागा गया निशान दिखाई न दे। और वह स्वर्णगुलिका दासी मुझे दो।”

महाराज उदायन ने विचार किया—‘चंड कहते तो ठीक ही हैं। यदि अपराधी को मुक्त नहीं किया तो फिर अपराध कहाँ क्षमा किया? आज के दिन अपराधी के अपराधों को क्षमा करना मेरा आत्म-धर्म है। मेरा धर्म है—क्षमा! वैर-विरोध का उपशमन।’

उदायन के मन में कुछ देर तक राजधर्म और आत्म-धर्म में द्वन्द्व चला। अन्ततः उदायन नृप ने चण्डप्रद्योत की याचना को स्वीकार कर लिया। साथ ही चण्डप्रद्योत की वासना पर करुणा भी आयी—‘अहो! धिक् जिस दासी के लिए इतना अपमान हुआ फिर भी वही दासी

चाहिए।' खैर मेरा आदर्श अलग है। राजा उदायन चण्डप्रद्योत को ससम्मान वीतभय पत्तन लेकर आये। अपनी कन्या के साथ चण्डप्रद्योत का विवाह किया और टीके में उज्जयिणी का राज्य व देवनामी मुकुट, दहेज में स्वर्णगुलिका दासी को दिया, यह देखकर चण्डप्रद्योत गद्गद हो गया, हाथ जोड़कर बोला—“आप सच्चे अर्थों में क्षमादानी हैं। प्रभु महावीर के वास्तविक अनुयायी हैं और सच्ची संवत्सरी मनायी है।”

□ क्षमाशील बनिए

महाराज उदायन का यह जीवन-प्रसंग आदर्श क्षमाशील का जीवन्त उदाहरण है। कवि दिनकर कहते हैं—

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो।
उसका क्या जो दतंहीन,
विषहीन, विनम्र, सरल हो ॥

आज के पावन दिन आप सभी को भी हृदय में क्षमाभाव को धारण करना है। एक 'क्षमा' का तेज, एक सहनशीलता का गुण आपके जीवन को उज्ज्वल, पवित्र, निर्मल बना देगा। आत्म-शुद्धि के लिए क्षमा अचूक औषधि है। क्षमाशील बनिए, निश्चय ही आप अव्याबाध सुख, शांति, आनन्द की प्राप्ति करेंगे।

आनंद ही आनंद!

